इंदिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय
मानविकी विद्यापीठ

MSK 001
संस्कृत साहित्यशास्त्र एवं साहित्य

खंड

2

साहित्यशास्त्र – साहित्यदर्पण (प्रथम, द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ परिच्छेद) – भाग 1

खण्ड 2 का परिचय

MSK-001 'संस्कृत साहित्यशास्त्र एवं साहित्य' पाठ्यक्रम का यह द्वितीय खण्ड है। इस खण्ड के अध्ययन के पश्चात् आप आचार्य विश्वनाथ प्रणीत साहित्यदर्पण ग्रन्थ के प्रथम, द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ परिच्छेद में वर्णित विषय-वस्तु से परिचित हो सकेंगे।

'साहित्यशास्त्र : साहित्यदर्पण (प्रथम, द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ परिच्छेद)' नामक इस खण्ड में पाँच इकाइयाँ हैं। इस खण्ड की पहली इकाई काव्यप्रयोजन, काव्यस्वरूप एवं काव्य-लक्षण से सम्बन्धित है। इस इकाई में आचार्य विश्वनाथ द्वारा प्रतिपादित काव्यस्वरूप, काव्यप्रयोजन एवं काव्य-लक्षण के अतिरिक्त अन्य काव्यशास्त्रीय आचार्यों के काव्यप्रयोजन, काव्यस्वरूप एवं काव्य-लक्षण का प्रतिपादन भी किया गया है।

इस खण्ड की द्वितीय इकाई वाक्य, उसके भेद, पद एवं शब्द व्यापार से सम्बन्धित है। इस इकाई में आप वाक्य, महाकाव्य, पद, और अभिधा, लक्षणा एवं व्यंजना इन त्रिविध शब्द शक्तियों के विषय में विस्तार से अध्ययन करेंगे।

इस खण्ड की तृतीय इकाई रस निरूपण से सम्बन्धित है। काव्य में रस का विशेष महत्त्व है। इस इकाई में रस के स्वरूप, विभाव, अनुभाव, रसों की संख्या आदि के विषय में विस्तार से प्रकाश डाला गया है।

इस खण्ड की चौथी इकाई में नायक एवं नायिका विषयक वर्णन किया गया है। काव्य तथा नाटक में नायक एवं नायिका की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। इस इकाई में आप नायक का लक्षण, नायक-भेद, नायिका-लक्षण, नायिका भेद एवं उनके सहायक आदि का अध्ययन करेंगे।

इस खण्ड की पाँचवीं इाकई काव्य भेद से सम्बन्धित है। आचार्यों ने काव्य के विविध भेद स्वीकार किए हैं। इस खण्ड में आप ध्वनि एवं गुणीभूतव्यंग्य काव्य का सविस्तार अध्ययन करेंगे।

इकाई 6 काव्यप्रयोजन, काव्यस्वरूप एवं काव्य-लक्षण

6.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप –

- काव्य-प्रयोजन के द्वारा काव्य की महत्ता का अध्ययन कर सकेंगे।
- काव्य-लक्षण के द्वारा काव्य के मर्म को समझ सकेंगे।
- विभिन्न कवियों के काव्य-लक्षणों के द्वारा काव्य के साधारण एवं सरल स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।
- काव्य-लक्षण के द्वारा इसकी समृद्ध परम्परा का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।

6.1 प्रस्तावना

साहित्यदर्पण नामक ग्रन्थ अलंकारशास्त्र एवं नाट्यशास्त्र का सुन्दर समन्वय है। काव्यशास्त्र के समस्त सिद्धान्तों का प्रतिपत्तिपूर्वक उपस्थापन सरस, सरल तथा सुबोध शैली में करना इस ग्रन्थ का मूलभूत वैशिष्ट्य है। नाट्यशास्त्र से सम्बन्धित विषयों को उद्घाटित करने में आचार्य भरत के नाट्यशास्त्र तथा आचार्य धनजंय के दशरूपक नामक ग्रन्थ की अपूर्व विशिष्टता है। इस प्रकार के दोनों विषयों (नाट्यशास्त्र तथा काव्यशास्त्र से सम्बधित) से समन्वित यह ग्रन्थ विद्वद्मण्डली में अत्यन्त समादृत है। कविराज विश्वनाथ की यह समन्वयतावादी दृष्टि ही अन्य आचार्यों से उन्हें पृथक् एवं विशिष्ट बनाती है। इस ग्रन्थ में कुल दस परिच्छेद हैं।

साहित्यदर्पण नामक ग्रन्थ से सम्बन्धित इस इकाई में काव्य के प्रयोजन तथा काव्य के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। इस इकाई के माध्यम से आप विश्वनाथ आचार्य के काव्य प्रयोजन

के साथ-साथ अन्य आचार्यों के काव्य प्रयोजन का भी अध्ययन करेंगे। काव्य लक्षण का प्रतिपादन करते हुए आचार्य विश्नाथ ने सर्वप्रथम मम्मट, कुन्तक, भोजराज, आनन्दवर्धन और वामन के काव्य लक्षण का खण्डन करते हुए अपने काव्य लक्षण **'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'** का प्रतिपादन किया है।

6.2 काव्य एवं काव्य प्रयोजन

काव्य कवि विशेष की भावनाओं का चित्रण है और यह चित्रण इतना ठीक है कि उसके जैसी ही भावनाएँ दूसरे के ह्रदय में आविर्भूत हो जाती है। पदों के स्थापना अथवा वर्णन मात्र से ही जो मन को चुरा ले अर्थात् मन को मोहित कर ले वही काव्य है।

वस्तुतः कवि का कर्म ही काव्य कहलाता है। किसी विषय का चमत्कृतिपूर्ण श्रोताओं को मुग्ध कर देने वाला वर्णन ही कवि का कर्म है, काव्य है। जिस किसी विषय का चमत्कारी, श्रोतृजनह्रदयहारी वर्णन जिन शब्दों के द्वारा किया जाता है, वे शब्द ही काव्य हैं। इस प्रकार चमत्कारी वर्णन में जो निपुण हो वह कवि तथा उसका कर्म काव्य कहलाता है। शब्द और अर्थ दोनों ही काव्य हैं। कवि की कर्मता सर्वप्रथम अर्थ में, उसके अनुसार ही शब्द के गुम्फन में जब हो जाती है तब वह काव्य कहलाता है काव्य तो भावनाओं की आधारशिला है, इसी आधारशिला पर ही कवि का साम्राज्य स्थापित होता है।

काव्य की परिभाषा के उपरान्त काव्य के प्रयोजन के बारे में विमर्श करना परमावश्यक है। काव्य लिखने का अथवा सुनने का प्रयोजन क्या है, काव्य सुनने अथवा पढ़ने से क्या लाभ होता है? काव्य को सुनना सामान्य जन के लिए उसमें उसको अपना अभीष्ट अथवा जो वह चाहता है, वह दिखाई दे। मनुष्य यह कार्य मेरे लिए हितकर अथवा मेरे लिए अभीष्ट का साधन है और मैं इस कार्य को भली-भाँति कर सकता हूँ, इस प्रकार का ज्ञान होने पर ही मनुष्य किसी कार्य में प्रवृत्त होता है। यह अनुबन्धचतुष्टय के नाम से शास्त्र में प्रसिद्ध है। इसमें अधिकारी, विषय, सम्बन्ध तथा प्रयोजन में चार अंश है। ''अधिकारी'' इससे यह ज्ञात होता है कि किसी भी कार्य को करने का अधिकारी कौन है अर्थात् कौन यह कार्य कर सकता है? विषय का अर्थ है – सम्बन्धित कार्य का विषय क्या है? सम्बन्ध का अर्थ है– इस कार्य का किसी अन्य कार्य से क्या सम्बन्ध है, प्रयोजन का अर्थ है – इसका प्रयोजन अर्थात् फल क्या है? **'इदं मदिष्टसाधनम्'** इस वाक्य में ''इदम्'' पद विषय, ''मत्'' पद अधिकारी ''इष्ट'' पद प्रयोजन तथा ''साधनम्'' पद सम्बन्ध का द्योतक है।

वस्तुतः अलौकिक आनन्दानुभूति ही काव्य का परम प्रयोजन है। इस आनन्दानुभूति में पाठक अथवा श्रोता सांसारिक सुख दुःख इत्यादि को विस्तृत कर काव्य-संसार में तल्लीन हो जाता है। इस तन्मयता में ही उसे अलौकिक आनन्द की अनुभूति होती है। इस अलौकिक आनन्दानुभूति का बीज है– सह्रयह्रदय होना। जब तक सह्रदयता नहीं है तब तक आनन्दानुभूति की अनुभूति सम्भव नहीं है।

6.2.1 साहित्यदर्पण के अनुसार काव्य-प्रयोजन

प्रत्येक कार्य का कोई न कोई प्रयोजन अवश्य होता है। बिना प्रयोजन के तो अल्प बुद्धि वाला मनुष्य भी किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता है अतः कहते हैं –

''प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते''।

वस्तुतः काव्य के प्रयोजन का उल्लेख जनसामान्य को काव्य के निर्माण और अध्ययन तथा अध्यापन में प्रवृत्त कराने के लिए एक रोचक उपाय है। जैसे सीपी के चमकीले टुकड़ों को मोती के रूप में बेचने वाले विक्रेता क्रेताओं से यह कहते है– ''बड़े अच्छे मोती हैं, जरूर खरीद लीजिए'' काव्य का प्रयोजन भी रसास्वादमूलक आनन्दातिशय ही है। यद्यपि कीर्ति, व्यवहार का ज्ञान, अर्थोपार्जन तथा अमंगल-विनाश इत्यादि बहुत सारे काव्य के प्रयोजन हैं फिर भी रसास्वादन ही काव्य का प्रमुख प्रयोजन है, यद्यपि कीर्ति इत्यादि काव्य के गौण प्रयोजनों को प्राप्त करने के अन्य साधन भी हैं तथापि रसास्वाद जैसे परम प्रयोजन को प्राप्त करने का एकमात्र एवं सरल साधन काव्य ही है।

काव्य-प्रयोजन–

अस्य ग्रन्थरस्य काव्याङ्गतया काव्यफलैरेव फलवत्त्वमिति काव्यफलान्याह –

चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि।
काव्यादेव यतस्तेन तत्स्वरूपं निरूप्यते।

इस ग्रन्थ अर्थात् साहित्यदर्पण के काव्य का अंग होने के कारण काव्य फल से ही इस ग्रन्थ की फलवत्ता है अतः काव्य के फलों अर्थात् प्रयोजन को बताते हैं। जैसे किसी वृक्ष का वृक्षत्व तभी सार्थक अर्थात् फलवान् है जब उसमें फल लगे हों। वैसे ही साहित्यदर्पण नामक ग्रन्थ एक वृक्ष विशेष है, इसकी शाखाएँ काव्य हैं, जैसे शखाओं के होने से वृक्ष का अस्तित्व है, वैसे ही काव्य के फल से ही इस ग्रन्थ की सफलता सिद्ध है।

अर्थात् काव्य से सुकुमार बुद्धि से युक्त लोगों को भी धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चार पुरुषार्थों के फल की प्राप्ति हो जाती है। काव्य से धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष के फल की प्राप्ति होती है। काव्य के पढ़ने अथवा सुनने से अनायास ही अर्थात् सरलता से ही जिनकी बुद्धि अल्प है उनको भी चारों पुरुषार्थों की प्राप्ति हो जाती है।

वस्तुतः धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष ये चार वर्ग कहलाते है, यही पुरुषार्थ चतुष्टय कहलाते हैं। जो परिपक्व बुद्धि से युक्त है अर्थात् शास्त्रादि ज्ञान में निपुण है ऐसे व्यक्तियों को भी सहजता और सरलता से पुरुषार्थचतुष्टय के फल की प्राप्ति जिससे हो वही काव्य का मुख्य प्रयोजन है।

चतुर्वर्गफलप्राप्तिर्हि काव्यतो ''रामादिवत्प्रवर्तितव्यं न रावणादिवत्'' इत्यादि कृत्याकृत्यप्रवृत्तिनिवृत्त्युपदेषद्वारेण सुप्रतीतैव।

उक्तं च (भामहेन)–

''धर्मार्थकाममोक्षेसु वैचक्षण्यं कलासु च।
करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिबन्धनम्''।। इति

चार वर्गों के फल की प्राप्ति काव्य से ''राम की तरह व्यवहार करो, रावण आदि की तरह नहीं इस उपदेश के कृत्य अर्थात् धर्मदिरूप कर्त्तव्य कर्म में प्रवृत्ति और अकृत्य अर्थात् अधर्मादिरूप अकर्त्तव्य अकर्म की ओर से निवृत्ति इस उपदेश के द्वारा सर्वविदित है।

वस्तुतः काव्य धर्म का ही उपदेश देता है अधर्म का नहीं। जैसे राम ने पिता की आज्ञा को शिरोधार्य किया और वन में गये तथा रावण ने राम की स्त्री सीता का अपहरण करके ''परदारापहरण'' जैसा महापातक किया। धर्म के रास्ते पर चलने वालों की हमेशा विजय होती है और अधर्म के रास्ते पर चलने वालों की हमेशा पराजय। धर्म से ही राम का अभ्युदय हुआ, अधर्म से रावण का अनभ्युदय हुआ अतः काव्य हमेशा धर्म की ही शिक्षा प्रदान करता है।

आचार्य भामह कहते हैं –

सरल एवं सुन्दर काव्य की रचना धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष को प्रदान करती है एवं कलाओं अर्थात् नृत्य, गीत इत्यादि 64 प्रकार की कलाओं में निपुणता अर्थात् विशिष्टज्ञान प्रदान करती है और कीर्ति को बढ़ाती है तथा परमानन्द को भी प्रदान करती है।

वस्तुतः काव्य धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष प्रदान करता है, कलाओं में विशिष्टज्ञान प्रदान करता है, कीर्ति अर्थात् यश को चारों तरफ फैलाता है तथा परमानन्द को भी प्रदान करता है। यही बात कविराज विश्वनाथ ने भी कही है, उन्हीं की बात का समर्थन करते हुए आचार्य भामह भी यही कह रहे हैं।

धर्म, अर्थ काम तथा मोक्ष की प्राप्ति काव्य से कैसे होती है, यह विचार करते हैं–

''किञ्च काव्याद्धर्मप्राप्तिर्भगवन्नारायणचरणारविन्दस्तवादिना, ''एकः शब्दः सुप्रयुक्तः सम्यक्ज्ञातः स्वर्गे लोके च कमधुग्भवति'' इत्यादिवेदवाक्येभ्यश्च सुप्रसिद्धैव। अर्थप्राप्तिश्च प्रत्यक्षसिद्धा। कामप्राप्तिश्चार्थद्वारैव। मोक्षप्राप्तिश्चैतज्जन्यधर्मफलाननुसन्धानात् मोक्षोपयोगिवाक्ये व्युत्पत्त्याधायवकत्वाच्च।

काव्य से धर्म प्राप्ति तो भगवान् नारायण के चरणाविन्द के स्तव अर्थात् स्तुति से सम्भव है अर्थात् भगवान् विष्णु अथवा राम, कृष्ण तथा शंकर इत्यादि के स्तोत्र आदि काव्य की रचना से धर्म प्राप्ति सम्भव है क्योंकि भगवान् के स्तोत्र अथवा स्तुति-काव्य का पाठ करने से धर्म की प्राप्ति होती है, कहा गया है – एक ही शब्द, जिसका अच्छी तरह से सोच, समझकर

प्रयोग किया जाए और उसको अच्छी तरह से समझा जाए, तो वह इस लोक तथा स्वर्ग में हमारे मनोरथों को पूर्ण करने में समर्थ होता है। जिस कवि के द्वारा एक शब्द भी अच्छी तरह से प्रयोग किया गया हो, वह शब्द व्याकरण की दृष्टि से नितान्त शुद्ध हो, वह शब्द कवि के द्वारा ज्ञान किया गया हो, ऐसे शब्द को जानने वाला कवि तथा उसका प्रयोग करने वाला प्रयोक्ता दोनों ही स्वर्ग तथा इस लोक में अपने मनवाञ्छित फल को प्राप्त करते हैं, इस प्रकार से यह बात वेदवाक्यों से प्रसिद्ध ही है अर्थात् यह वचन वेद का वचन है।

काव्य से अर्थ अर्थात् धन की प्राप्ति तो प्रत्यक्ष रूप से सिद्ध है, इसके लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। अच्छी काव्य रचना से धन-सम्पदा भी अधिक प्राप्त होती है। जैसे– धावक नामक कवि को राजा श्रीहर्ष से अत्यधिक धन प्राप्त हुआ था। धावक नामक कवि ने श्रीहर्ष के नाम से रत्नावली नामक नाटिका का निर्माण कर बहुत धन प्राप्त किया था। इसी प्रकार ''किरातार्जुनीयम्'' नामक महाकाव्य के रचयिता महाकवि भारवि को **''सहसा विदधीत न क्रियाम्''** इस एक श्लोक की रचना पर ही एक लाख रुपये प्राप्त हुए थे। वर्तमान में भी अच्छे काव्य की रचना पर पुरस्कार इत्यादि प्राप्त होते हैं।

काम की प्राप्ति तो अर्थ अर्थात् धन के द्वारा सिद्ध ही है। काम का अर्थ है – इच्छाओं की पूर्ति। यह पूर्ति अर्थ अर्थात् धन के द्वारा नितान्त सम्भव है। कहा गया है –**''धर्मादर्थस्ततः कामः कामात्सुखसमुन्नतिः''** अर्थात् धर्म से अर्थ, अर्थ से काम ओर काम से सुख की प्राप्ति होती है। मोक्ष की प्राप्ति धर्म का फल है, धर्म के फल के अनुसार मोक्ष प्राप्ति का निर्धारण होता है। काव्य के द्वारा ही पाठक अथवा सामाजिक के हृदय में अनासक्ति योग अर्थात् मोक्ष की भावना पूर्ण रूप से भर जाती है। मोक्षोपयोगी वाक्यों में व्युत्पत्ति अर्थात् प्रतिभा प्रदर्शन से भी मोक्ष के मार्ग में सहजता रहती है। कोई भी कवि मोक्ष के लिए काव्य रचना नहीं करता अपितु मोक्ष तो काव्य का आनन्द प्राप्त करने वाले को प्राप्त होता है। वस्तुतः निष्काम धर्म ही मोक्ष का कारण होता है अर्थात् किसी भी इच्छा से रहित धर्म ही मोक्ष प्रदान करता है, इस प्रकार काव्य भी निष्काम जन्य होने के कारण मोक्ष प्रदान करता है।

''तरति शोकमात्मवित्'' अर्थात् आत्मविद् शोक से पार हो जाता है, **''ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति''** अर्थात् ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म जैसा ही हो जाता है, इस प्रकार के मोक्षोपयोगी वाक्यों में अनेक प्रकार के शब्दों के अर्थ के ज्ञान के द्वारा तथा दृढ़ ज्ञान को उत्पन्न कराने में समर्थ इन वाक्यों में व्युत्पत्ति के प्रदर्शन से भी मोक्ष-प्राप्ति सम्भव है। इन उपनिषद्-वाक्यों में सतत चिन्तन-मनन स्थापित करने से भी मोक्ष की प्राप्ति होती है।

धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष इन चार पुरुषार्थों की प्राप्ति जब काव्य से सम्भव है तो वेद-शास्त्रों को पढ़ने से क्या लाभ है? वेद-शास्त्र तो कठिन हैं जबकि काव्य तो सरल एवं सरस है तो कोई फिर कोई वेद-शास्त्रों का अध्ययन क्यों करेगा? इस प्रश्न का समाधान करते है–

चतुर्वर्गप्राप्तिर्हि वेदशास्त्रेभ्यो नीरसतया दुःखादेव परिणतबुद्धीनामेव जायते। परमानन्दसन्दोहजनकतया सुखादेव सुकुमारबुद्धीनामपि पुनः काव्यादेव।

चतुर्वर्ग की प्राप्ति अर्थात् धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष की प्राप्ति वेद-शास्त्रों से नीरस रूप में दुःख से अर्थात् अत्यन्त प्रयत्न से परिणत बुद्धि वालों (प्रतिभासम्पन्न व्यक्तियों) को होती है। वेद-शास्त्रों का अध्ययन अत्यन्त प्रयत्न से सम्भव है, वे सरस न होकर नीरस हैं अर्थात् उनमें कोई रस नहीं है, ऐसे वेद-शास्त्रों से पुरुषार्थ-चतुष्टय की प्राप्ति प्रौढ़ बुद्धि से युक्त लोगों को होती है।

परमानन्द के समूह को उत्पन्न करने का जो कारण है काव्य, उसके द्वारा सुख से ही अर्थात् अनायास ही सुकुमारबुद्धि से युक्त लोगों को चतुर्वर्ग की प्राप्ति हो जाती है अर्थात् काव्य तो परमानन्द का भण्डार है। कोमल बुद्धि वालों को सहज रूप में ही काव्य को पढ़ने अथवा सुनने से धर्म, अर्थ काम तथा मोक्ष की प्राप्ति हो जाया करती है।
वस्तुतः चतुर्वर्ग की प्राप्ति वेद-शास्त्र तथा काव्य इन दोनों से ही होती है परन्तु दोनों की प्राप्ति का क्रम एवं साधन पृथक्-पृथक् है।

1. वेदादि शास्त्रों से नीरस रूप में दुःख अर्थात् कष्ट से परिपक्व बुद्धि वालों को चतुर्वर्ग की प्राप्ति।
2. काव्य से सरस रूप में सुख अर्थात् सहज रूप से सुकुमार मति वालों को चतुर्वर्ग की प्राप्ति।

सुकुमार अर्थात् कोमल अथवा भोले-भाले लोगों के लिए काव्य ही एकमात्र चतुर्वर्ग की प्राप्ति का साधन हैं क्योंकि वे वेदादि शास्त्रों का अध्ययन करने में समर्थ नहीं है।

ननु तर्हि परिणतबुद्धिभिः सत्सु वेदशास्त्रेषु किमिति काव्ये यत्नः करणीय इत्यापि न वक्तव्यम्। कटुकौषधोपशमनीयस्य रोगस्य सितशर्करोपशमनीयत्वे कस्य वा रोगिणः सितशर्कराप्रवृत्तिः साधीयसी न स्यात्?

''तो फिर परिपक्व बुद्धि वालों को वेद-शास्त्रों के अतिरिक्त काव्य पढ़ने अथवा सुनने का प्रयास नहीं करना चाहिए क्योंकि उनको तो वेद-शास्त्रों को पढ़ने अथवा सुनने से धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष इन चार पुरुषार्थों की प्राप्ति तो हो ही रही है'' यह कहना भी युक्तिसंगत नहीं है अर्थात् ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि कड़वी दवाई से ठीक होने वाला रोग यदि मीठी शक्कर से ठीक हो जाए तो फिर सभी लोग सभी रोगी उस मीठी शक्कर का सेवन नहीं करेंगे? अर्थात् निश्चित रूप से करेंगे। इस प्रकार कड़वी दवाई तो वेद-शास्त्रों का अध्ययन करना है और मीठी शक्कर है काव्य का आस्वादन।

अतः परिपक्व बुद्धि वाले लोग भी वेदादि शास्त्रों को छोड़कर काव्य के रसास्वादन में तत्पर हो जाते हैं।
अतः काव्य चतुर्वर्ग की प्राप्ति का सरल एवं सुगम साधन है।

अब काव्य के प्रयोजन की प्रमाणिकता सिद्ध करते हैं –

किञ्च काव्यस्योपादेयत्वमग्निपुराणेऽप्युक्तम् –

नरत्वं दुर्लभं लोके विद्या तत्र सुदुर्लभा।
कवित्वं दुर्लभं तत्र शक्तिस्तत्र सुदुर्लभा।।

काव्य की उपादेयता अर्थात् उपयोगिता अथवा महत्त्व अग्निपुराण में इस प्रकार कहा गया है –

इस संसार में नरत्व अर्थात् मनुष्यत्व दुर्लभ है, इससे भी दुर्लभ है, विद्या प्राप्त करना, उससे भी दुर्लभ है, कवित्व और उससे भी दुर्लभ है, कवित्व शक्ति अर्थात् सबसे दुर्लभ कवित्व शक्ति है। काव्य की रचना करना अत्यन्त दुर्लभ है। काव्य करने की शक्ति हर किसी में नहीं होती है। यह तो ईश्वर की कृपा ही है जो हर किसी को नहीं मिलती है। सरस, सरल तथा सर्वजनग्राह्य काव्य रचना करना अत्यन्त दुर्लभ कार्य है।

''त्रिवर्गसाधनं नाट्यम्'' इति च ।

विष्णुपुराणेऽपि– ''काव्यालापाश्च ये केचिद्गीतकान्यखिलानि च।
शब्दमूर्तिधरस्यैते विष्णोरंशा महात्मनः''।।

नाट्यम् अर्थात् दृश्यकाव्य अथवा श्रव्यकाव्य अथवा दोनों ही त्रिवर्ग अर्थात् धर्म, अर्थ, तथा काम के साधन हैं, इनसे तीनों प्राप्त होते हैं। धर्म, अर्थ तथा काम की प्राप्ति का साधन काव्य है।

इस संसार में जो कुछ भी काव्य के आलाप अर्थात् कवि तथा पाठक के द्वारा उच्चारित किये जाने वाले रस व्यञ्जक शब्द हैं तथा जितने सारे गीत इत्यादि हैं, वे सब शब्दमूर्ति भगवान् विष्णु के अंश हैं। इस प्रकार के गीत एवं शब्दों की दर्शन-श्रवण आदि के रूप में उपासना से चतुर्वर्ग धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष की प्राप्ति अवश्य होती है।

6.2.2 अन्य काव्यशास्त्रीय आचार्यों द्वारा स्वीकृत काव्य प्रयोजन

काव्यशास्त्र की महनीय परम्परा आचार्य भरत से लेकर आज तक विद्यमान है। इस कालावधि में बहुत सारे आचार्यों ने काव्यशास्त्र की इस अक्षुण्ण परम्परा को पल्लवित, पुष्पित व फलित किया है। काव्यशास्त्र के सभी सिद्धान्तों पर सभी आचार्यों ने अपने स्वतन्त्र विचार रखे हैं। इस सन्दर्भ में काव्यप्रयोजन पर भी खूब चर्चा हुई है।

1. छठीं शताब्दी के आचार्य भामह ने अपने ''काव्यालकांर'' नामक ग्रन्थ में काव्य-प्रयोजन इस प्रकार लिखा है –

''धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।
करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिबन्धनम्''।

उत्तम काव्य की रचना धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों तथा समस्त कलाओं में निपुणता और कीर्ति अर्थात् आनन्द उत्पन्न करने वाली होती है।

वस्तुतः कीर्ति ही काव्य का मुख्य प्रयोजन है, इस सम्बन्ध में आचार्य भामह कहते हैं –

उपेयुषामपि दिवं सन्निबन्धविधायिनाम्।
आस्त एव निरातङ्कं कान्तं काव्यमयं वपुः।।
रुणद्धि रोदसी चास्य यावत् कीर्तिरनश्वरी।
तावत् किलायमध्यास्ते सुकृती वैबुधं पदम्।।
अति अतोऽभिवाञ्छता कीर्ति स्थेमसीमा भुवः स्थितेः।
यत्नो विदितवेद्येन विधेयः काव्यलक्षणः।।
सर्वथा पदमप्येकं निगाद्यमवद्यवत्।
विलक्ष्मणा हि काव्यने दुःसुतेनेव निन्द्यते।।
नाकवित्वधर्माय व्याधये दण्डनाय वा।
कुकवित्वं पुनः साक्षान्मृतिमाहुर्मनीषिणः''।।

उत्तम काव्यों की रचना करने वाले महाकवियों के दिवगंत हो जाने के बाद भी उनका सुन्दर काव्य शरीर अक्षुण्ण बना रहता है और जब तक उनकी अनश्वर कीर्ति इस भूमण्डल तथा आकाश में व्याप्त रहती है तब तक वे सौभाग्यशाली पुण्यात्मा देवपद का भोग करते है इसलिए प्रलयपर्यन्त स्थिर रहने वाली कीर्ति को चाहने वाले कवि को उसके उपयोगी समस्त विषयों का ज्ञान प्राप्त कर उत्तम काव्य की रचना के लिए प्रयत्न करना चाहिए। काव्य में एक भी अनुपयुक्त पद न आने पाए इस बात का ध्यान रखना चाहिए, क्योंकि बुरे काव्य की रचना से कवि उसी प्रकार निन्दा का पात्र होता है जिस प्रकार कुपुत्र से पिता की निन्दा होती है। कुकवि बनने की अपेक्षा तो अकवि बनना अच्छा है क्योंकि अकवित्व से तो न अधर्म होता है और न कोई व्याधि होती है। कुकवि बनना तो साक्षात् मृत्यु ही है।

2. आठवीं शताब्दी के आचार्य दण्डी ने अपने ग्रन्थ ''काव्यादर्श'' में काव्य का प्रयोजन इस प्रकार लिखा है –

व्युत्पन्नबुद्धिरमुना विधिदर्शितेन
मार्गेण दोषगुणयोवर्शवर्तिनीभिः।
वाग्भिः कृताभिसरणो मदिरेक्षणाभि
र्धन्यो युवेव रमते लभते च कीर्तिम्।।

इस प्रकार से दिखलाए गए मार्ग से तथा दोष और गुण की अनुयायिनी बातों से मद से लाल आँखों वाली युवति के समान वाक् अर्थात् वाणी को अनुकूल बनाकर उसमें व्युत्पन्न बुद्धि सज्जन युवा के समान रमण करता है और कीर्ति को प्राप्त करता है। दण्डी के अनुसार कीर्ति ही काव्य का मुख्य प्रयोजन है।

3. नवीं शताब्दी के आचार्य वामन ने ''काव्यालङ्कारसूत्र'' नामक अपने ग्रन्थ में काव्य का प्रयोजन इस प्रकार कहा है –

आचार्य वामन ने काव्य के दो प्रयोजन माने हैं– 1. कीर्ति 2. प्रीति का आनन्द

''काव्यं सद् दृष्टादृष्टार्थ प्रीतिकीर्तिहतुत्वात्''

प्रीति अर्थात् आनन्दानुभूति काव्य का दृष्ट प्रयोजन तथा कीर्ति अदृष्ट प्रयोजन है। कीर्ति पर ही इन्होंने विशेषबल दिया है –

प्रतिष्ठां काव्यबन्धस्य यशसः सरणिं विदुः।
अकीर्तिवर्तिनीं त्वेवं कुकवित्व विडम्बनाम्।।
कीर्तिं स्वर्गफलामाहुरासंसारं विपश्चितः।
अकीर्तिन्तु निरालोकनरकोद्देशदूतिकाम्।
तस्मात् कीर्तिमुपादातुमकीर्तिञ्च व्यपोहितुम्।
काव्यालङ्कारसूत्रार्थः प्रसाद्यः कविपुङ्गवैः।।

4. नवम शताब्दी के आचार्य रुद्रट ने ''काव्यालङ्कार'' नामक अपने ग्रन्थ में काव्य का प्रयोजन इस प्रकार लिखा है –

ज्वलदुज्जवलवाक्प्रसरः सरसं कुर्वन्महाकविः काव्यम्।
स्फुटमाकल्पमनल्पं प्रतनोति यशः परस्यापि।।

देदीप्यमान अथवा अलंकारों के द्वारा, उज्जवल अर्थात् निर्मल अथवा दोषाभाव के द्वारा सरस वाणी का प्रसार करने वाले काव्य का एक ही प्रयोजन है, वह है– युगान्त तक स्थायी रूप से रहने वाला यश। महाकवि यदि स्वल्पायु भी है तो वह काव्य से परम कीर्ति को प्राप्त कर लेता है।

5. दशम शताब्दी के आचार्य कुन्तक ने ''वक्रोक्तिजीवितम्'' नामक अपने ग्रन्थ में काव्य का प्रयोजन इस प्रकार लिखा है –

''धर्मादिसाधनोपायः सुकुमारक्रमोदितः।
काव्यबन्धोऽभिजातानां हृदयाह्लादकारकः।।
व्यवहारपरिस्पन्दसौन्दर्यं व्यवहारिभिः ।
सत्कारव्याधिगमादेव नूतनौचित्यमाप्यते।।
चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम्।
काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते''।

काव्य की रचना अभिजात अर्थात् श्रेष्ठ कुल में उत्पन्न राजकुमार आदि के लिए सुन्दर एवं सरस ढंग से कहा गया धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष की सिद्धि का सरल मार्ग है। सत्काव्य के परिज्ञान से ही व्यवहार करने वाले सब प्रकार के लोगों को अपने-अपने व्यवहार का पूर्णज्ञान

प्राप्त होता है और सबसे बड़ी बात यह है कि उससे सहृदयों के हृदय में चतुर्वर्ग फल की प्राप्ति से भी बढ़कर आनन्दानुभूतिरूप चमत्कार उत्पन्न होता है।

6. दसवीं शताब्दी में के आचार्य मम्मट ने ''काव्यप्रकाश'' नामक अपने ग्रन्थ में काव्य-प्रयोजन इस प्रकार लिखा है –

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे।।

काव्य यश का जनक, अर्थ का उत्पादक, व्यवहार का बोधक, अमगंल का नाशक, पढ़ने, सुनने, अथवा देखे जाने पर तुरन्त परमानन्द को देने वाला तथा स्त्री के समान सरस उपदेश प्रदान करने वाला होता है।

7. आचार्य हेमचन्द्र ने ''काव्यानुशासन'' नामक अपने ग्रन्थ में काव्य प्रयोजन इस प्रकार बतलाया है–

''काव्यमानन्दाय यशसे कान्तातुल्यतयोपदेशाय च''।

काव्य आनन्द, यश तथा स्त्री के समान सरस उपदेश प्रदान करने वाला होता है।

8. पण्डितराज जगन्नाथ ने ''रसगंगाधर'' नामक अपने ग्रन्थ में काव्य का प्रयोजन इस प्रकार लिखा है–

''तत्र कीर्ति-परमाह्लाद-गुरुराजदेवताप्रसादादि अनेकविध काव्यस्य प्रयोजकस्य इति। ''

कीर्ति, परमानन्द, गुरु, राजा तथा देवता आदि की कृपा ये सभी काव्य के प्रयोजन हैं

इस प्रकार विभिन्न काव्य प्रयोजनों का मूल सार यही है कि अमंगल का विनाश तथा यश के लिए काव्य की रचना की जाती है, अन्य सभी प्रयोजन इन दो प्रयोजनों के उपरान्त गौण प्रयोजन हैं।

6.3 काव्य लक्षण

कविता अर्थात् काव्य लिखना अत्यन्त गूढतम कार्य है। काव्य भावों का परिस्पन्दन है, ये भाव सात्विक मनोवृत्ति के प्रतीक है। हृदय में स्थित इन भावों का विभिन्न रूपों में विभिन्न स्वरूप को ग्रहण करना ही काव्य का मूर्त रूप ले लेता है। कवि का कर्म ही काव्य है, कवि की कृ ति ही काव्य है अथवा कविता कला द्वारा उत्पाद्य एक कलात्मक वस्तु है। वस्तुतः शब्द और अर्थ का सुन्दर संयोग ही काव्य कहलाता है। जलतरंगन्याय से शब्द और अर्थ परस्पर सम्बद्ध हैं जिस तरह जल को तरंगों से भिन्न नहीं किया जा सकता उसी प्रकार शब्द के बिना अर्थ

और अर्थ के बिना शब्द की कल्पना नहीं की जा सकती है। इन दोनों में अविनाभाव सम्बन्ध है।

6.3.1 साहित्यदर्पण के अनुसार काव्य-लक्षण

साहित्यदर्पण में काव्य लक्षण प्रस्तुत करने से पहले आचार्य विश्वनाथ आचार्य मम्मट के काव्य-लक्षण का खण्डन करते हैं, उसके प्श्चात् वक्रोक्तिजीवितकार आचार्य कुन्तक के काव्य लक्षण का खण्डन करते हैं, फिर इसके उपरान्त सरस्वतीकण्ठाभरण के कर्ता आचार्य भोजराज के काव्य लक्षण का खण्डन कर आचार्य वामन के काव्य-लक्षण का खण्डन करते हैं।

1. काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट के काव्य लक्षण का खण्डन

तत्किंस्वरूपं तावत्काव्यमित्यपेक्षायां कश्चिदाह—''तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि''। इति।

एतच्चिन्तयम्।

तथापि— यदि दोषरहितस्यैव काव्यत्वाङ्गीकारस्तदा—

''न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयस्तत्राऽप्यसौ तापसः
सोऽप्यत्रैव निहन्ति राक्षसकुलं जीवत्यहो रावणः।
धिग्धिक्छक्रजितं प्रबोधितवता किं कुम्भकर्णेन वा
स्वर्गग्रामवाटिकाविलुण्ठनवृथोच्छूनैः किमेभिर्भुजैः''।।

अस्य श्लोकस्य विधेयाविमर्शदोषदुष्टतया काव्यत्वं न स्यात्। प्रत्युत ध्वनित्वेनोत्तमकाव्यताऽस्याङ्गीकृता, तस्मादव्याप्तिर्लक्षणदोषः।

काव्य का क्या स्वरूप है इस विषय में आचार्य मम्मट कहते हैं – दोषों से रहित, गुण से युक्त, साधारणतः अलंकार सहित परन्तु कहीं-कहीं अलंकार रहित शब्द और अर्थ दोनों काव्य कहलाते हैं।

यह काव्य लक्षण चिन्तनीय है।

यदि दोष से रहित को ही काव्य स्वीकार करते हैं तो –

इस श्लोक में काव्य नहीं हो सकता –

सर्वप्रथम तो मुझ जैसे रावण के भी शत्रु होने लगे यही मेरा अपमान है और शत्रु भी वह तपस्वी राम, वह राम भी मेरी लंका में आकर मेरे राक्षस परिवार को मार रहा है, ओह फिर भी मैं रावण जी रहा हूँ, धिक्कार है इन्द्र विजयी मेघनाथ को, नींद से उठा कुम्भकर्ण भी

किस काम का, और मेरी ये भुजाएँ भी व्यर्थ जिन्होंने स्वर्ग कहे जाने वाले छोटे से गाँव को लूट लिया था, अब तो सब व्यर्थ हो गया।

यह पद्य विधेयाविमर्श नामक दोष से दूषित होने के कारण काव्य नहीं हो सकता है और भी इस श्लोक को तो ध्वनि काव्य अर्थात् उत्तम काव्य के उदाहरण के रूप में स्वीकार किया गया है अतः यहाँ अव्याप्ति लक्षण दोष है।

वस्तुतः लक्षण वह होता है जो अतिव्याप्ति, अव्याप्ति तथा असम्भव इन तीन दोषों से सर्वथा विमुक्त हो। यहाँ तो अव्याप्ति दोष है अतः यह काव्य का उदाहरण हो ही नहीं सकता है। यहाँ विधेयाविमर्श दोष की बात आयी है, उस पर विचार करते हैं।

विधेयाविमर्श दोष— प्रत्येक वाक्य में उद्देश्य और विधेय ये दो पदार्थ विद्यमान रहते हैं, इन दोनों में से विधेय की ही प्रधानता रहती है, लेकिन जहाँ विधेय का अविमर्श अर्थात् विधेय को अप्रधान बना दिया जाए वहाँ यह दोष होता है। विधेय को अप्रधान बना देने का सबसे प्रबल कारण है, उसको समास में स्थापित कर देना। समास में स्थापित करते ही विधेय अविमर्श अर्थात् अप्रधान बन जाता है। समास वस्तुतः अर्थों के परस्पर सम्बन्ध पर आश्रित होता है न कि वक्ता की इच्छा पर।

इस पद्य में ''वृथा'' यह पद समास में स्थापित होने के कारण अप्रधान हो गया है जबकि यह प्रधान होना चाहिए क्योंकि यह विधेय है परन्तु यह तो विधेय के बदले उद्देष्य जैसा प्रतीत हो रहा है, जैसे— वृथोच्छूनैः विमेभिर्भुजैः'' इसके स्थान पर एभिर्भुजैः वृथा उच्छूनैः किम्? यहाँ उच्छूनता अर्थात मतवालापन और वृथा विधेयरूप में रखने योग्य है किन्तु वृथोच्छूनैः पद में, तत्पुरुष समास में पूर्वपद की अपेक्षा उत्तरपद की प्रायः प्रधानता होने से विधेयभूत ''वृथा'' पद गौण हो गया है और उद्देश्यभूत उच्छून पद प्रधान बन गया है। इस प्रकार प्रधानतया परामर्श योग्य अंश अप्रधान रूप में प्रतीत हो रहा है इसीलिए यहाँ विधेयाविमर्श दोष है।

इस प्रकार विधेयाविमर्श दोष होने के कारण उपर्युक्त पद्य काव्य नहीं है।

ननु कश्चिदेवांशोऽत्र दुष्टो न पुनः सर्वोऽपीति चेत्, तर्हि यत्रांशे दोषः सोऽकाव्यत्वप्रयोजकः, यत्र ध्वनिः स उत्तमकाव्यत्वप्रयोजक इत्यंशाभ्यामुभयत आकृष्णमाणमिदं काव्यमकाव्यं वा किमपि न स्यात्। न च कञ्चिदेवांशं काव्यस्य दूषयन्तः श्रुतिदुष्टादयो दोषाः, किं तर्हि सर्वमेव काव्यम्। तथाहि काव्यात्मभूतस्य रसस्यानपकर्षकत्वे तेषां दोषत्वमपि नाङ्गीक्रियते। अन्यथा नित्यदोषानित्यदोषत्वव्यवस्थाऽपि न स्यात्! यदुक्तं ध्वनिकृता—

''श्रुतिदुष्टादयो दोषा अनित्या ये च दर्शिताः।
ध्वन्यात्मन्येन शृङ्गारे ते हेया इत्युदाहृताः''।।

किञ्च एवं काव्यं प्रविरलविषयं निर्विषयं वा स्यात्, सर्वथा निर्दोषस्यैकान्तमसंभवात्।

इस श्लोक (न्यक्कारो ह्ययमेव) में कुछ अंश ही विधेयाविमर्श नामक दोष से दूषित है, सम्पूर्ण पद्य दोष से दूषित नहीं है यदि ऐसा कहते हैं तो इसका यह समाधान है कि — जिस अंश

में दोष है वह काव्य नहीं है अर्थात् वह अकाव्यत्व का प्रयोजक है अथवा वह काव्यत्व से युक्त नहीं है और जहाँ दोष नहीं है अर्थात् निर्दोष है, वह ध्वनि काव्य अर्थात् उत्तम काव्य का प्रयोजक है अर्थात् जहाँ दोष नहीं है वहाँ उत्तम काव्य माना जा सकता है, इस प्रकार दो अंशों में खिंचता हुआ यह पद्य न काव्य होगा और न ही अकाव्य होगा, दोनों में से कुछ भी नहीं रहेगा। श्रुतिदुष्ट आदि काव्य के दोष काव्य के किसी एक अंश को दूषित नहीं करते वरन् वे तो सम्पूर्ण काव्य को ही दूषित करते हैं। अतएव विधेयाविमर्श दोष को आंशिक दोष कह देने से यहाँ उद्देश्य पूर्ण नहीं हो सकता है क्योंकि वस्तुतः इन दोषों से काव्य की आत्मा अर्थात् रस का अपकर्ष अर्थात् हानि होती है, इन दोषों से रसप्रतीति में बाधा होती है, यदि कदाचित् रस की प्रतीति हो भी जाये तो चमत्कार विहीन होती है।

यदि इन दोषों से काव्य के आत्मभूत रस का कोई विधान नहीं हो पाता तब इन्हें दोष भी नहीं माना गया होता। दोष को तो रस का विधायक मानना ही पड़ेगा क्योंकि बिना माने तो नित्य तथा अनित्य दोषों की व्यवस्था ही नहीं रहेगी। इसीलिए ध्वनिकार आचार्य आनन्दवर्धन अपने ग्रन्थ ध्वन्यालोक में नित्य तथा अनित्य दोष की प्रासंगिता इस प्रकार कहते हैं –

श्रुतिदुष्ट आदि तो अनित्य दोष बताये गये हैं, वे शृंगार आदि प्रधान काव्य में तो सर्वथा हेय अथवा त्याज्य हैं, वे ही दोष रौद्र आदि प्रधान काव्य में ग्राह्य अर्थात् उपादेय भी हैं।

यदि इस प्रकार दोष से युक्त शब्द और अर्थ को काव्य मानेंगे तो काव्य का विषय ही संकुचित और लक्ष्य विहीन हो जायेगा क्योंकि काव्य का अत्यन्त तथा सर्वथा दोष रहित होना नामुमकिन अर्थात असम्भव है। दोष से रहित कोई काव्य हो ही नहीं सकता है, सर्वथा निर्दोष काव्य की कल्पना करना अत्यन्त दुरूह है।

सर्वथा नित्य तथा अनित्य ये दो प्रकार के दोष माने जाते हैं। नित्यदोष वे हैं जो सभी जगह त्याज्य हैं अर्थात् सभी प्रकार के काव्य में जो त्याज्य हैं, जैसे च्युत संस्कृति इत्यादि दोष। अनित्य दोष वे हैं जो कहीं-कहीं तो त्याज्य हों और कहीं-कहीं ग्रहण करने लायक हों जैसे– श्रुतिदुष्ट इत्यादि दोष।

श्रुतिदुष्ट आदि दोष शृंगार रस से युक्त काव्य में तो त्याज्य हैं लेकिन रौद्र, वीभत्स आदि रस से युक्त काव्य में ग्राह्य हैं इसकी परिभाषा निम्नवत् है–

1. सर्वथा हेयाः नित्याः
2. कुत्रचित् त्याज्याः, कुत्रचिच्च ग्राह्या अनित्याः।

यहाँ यह महत्त्वपूर्ण है कि कविराज विश्वनाथ जो इस पद्य में विधेयाविमर्श नामक दोष स्वीकार कर रहे हैं, वास्तव में वह दोष है ही नहीं क्योंकि उद्देश्य के पहले विधेय का वर्णन कवि अपनी चतुराई से कर रहा है। रावण की विशेषता का वर्णन वीररस एवं ओज गुण से समन्वित होने के कारण विधेय का वर्णन उद्देश्य से पूर्व करना कवि-चातुरी का प्रबलतम परिचायक हैं। यहाँ क्रोधान्ध रावण की उक्ति है, क्रोध में तो व्यक्ति असंस्कृत भी बोलता है अतः उसके उग्र-स्वभाग को द्योतित करने के लिए उद्देश्य-विधेय का पौर्वापर्य विचारणीय नहीं है।

पुनः ''वृथा'' पद को विधेय कहने की क्या आवश्यकता है क्योंकि वृथा पद तो उच्छूनता का एक सार्थक विशेषण है। स्वर्ग को एक छोटा सा गाँव यहाँ बताया गया है इसीलिए इस छोटे गाँव को लूटने में ही ये भुजाएँ समर्थ हो पायी हैं लेकिन अब ये व्यर्थ हैं। स्वर्गग्रामटिका विलुण्ठन के कारण ही तो भुजदण्डों को वृथोच्छून कहा गया है। यदि स्वर्ग को स्वर्गग्रामटिका नहीं कहा जाता तब तो वृथोच्छून पद व्यर्थ हो जाता। स्वर्गग्रामटिका के स्थान पर यदि दुर्गम या अभेद्य दुर्ग कहा जाता तो भी यह पद व्यर्थ हो जाता। अतः आचार्य मम्मट द्वारा प्रतिपादित काव्य लक्षण में अदोषौ पद सार्थक एवं निर्दुष्ट ही प्रतीत होता है।

''अदोषौ पद का प्रकारान्तर से खण्डन''

नन्वीपदर्थे नञः प्रयोग इति चेत्तर्हि ''ईषद्दोषौ शब्दार्थौ काव्यम'' इत्युक्ते निर्दोषयोः काव्यत्वं न स्यात्। सति सम्भेव ''ईषद्दषौ इति चेत्, एतदपि काव्यलक्षणे न वाच्यम्, रत्नादिलक्षणे कीटानुवेधादिपरिहारवत्। नहि कीटानुवेधादयो रत्नस्य रत्नत्वं व्याहन्तुमीशाः किन्तूपादेयतारतम्यमेव कर्तुम्। तद्वदत्र श्रुतिदुष्टादयोऽपि काव्यस्य। उक्तं च–

''कीटानुविद्धरत्नादिसाधारण्येन काव्यता।
दुष्टेष्वपि मता यत्र रसाद्यनुगमः स्फुटः''।। इति

यदि ''अदोषौ'' इस पद में ईषत् के अर्थ में अर्थात अल्प के अर्थ में नञ् समास का प्रयोग किया जाए तो ''ईषद्दोषौ शब्दार्थौ काव्यम्'' अर्थात् कुछ दोषों से युक्त काव्य हो जायेगा तो फिर निर्दोष अर्थात् दोष से रहित काव्य नहीं होगा क्योंकि काव्य तो फिर उसको कहेंगे जिसमें थोड़ा दोष हो। यदि फिर ''ईषद्दोषौ'' अर्थात् कुछ दोषों से युक्त ही काव्य काव्य होता है तब तो इसका सीधा सा यह अर्थ है कि काव्य लक्षण में इस प्रकार की बात कहनी ही नहीं चाहिए क्योंकि दोष का होना या न होना अथवा थोड़ा होना या अधिक होना काव्य के स्वरूप का नियामक अथवा अनियामक नहीं अपितु उसकी उपादेयता के वर्द्धन या अवर्द्धन का ही कारण हो सकता है जैसे किसी रत्न विशेष के बारे में यदि हम बात करें तो यह नहीं कहना होता है कि रत्न वह है जिसमें कीटानुवेध का दोष न लगा हो अर्थात् रत्न वह है जिसमें कीड़े मकौड़ों के द्वारा अथवा कहीं से वह टूटा ूटा न हो क्योंकि कीटानुवेध अर्थात् (कीड़ों के द्वारा खाया जाने वाला) होने या न होने से रत्न का रत्नत्व कम नहीं होता है वरन् उसकी उपादेयता कम हो जाती है। इसी प्रकार श्रुतिदुष्ट इत्यादि दोषों के होने पर अथवा इनके न होने पर भी शब्दार्थ युगलरूप काव्य की उपादेयता कम अथवा अधिक हो सकती है लेकिन उस काव्य की काव्यता नष्ट नहीं होती है।

जिस प्रकार कोई रत्न कीटानुवेध के होने पर भी रत्न ही कहा जाता है उसी प्रकार जहाँ स्पष्ट रूप से रसादि का अनुगम अर्थात् रसादि की स्पष्ट अभिव्यजंना हो रही हो तब श्रुतिदुष्ट आदि दोषों के होने पर भी काव्य की काव्यता नष्ट नहीं हो सकती है।

वस्तुतः यहाँ रत्न के विषय के बारे में जो बात कविराज विश्वनाथ ने कही है, वह नितान्त असंगत प्रतीत होती है क्योंकि रत्न के जानकर जौहरी ये नहीं कहते हैं कि रत्न वह है जिसमें काकपद अथवा मक्षिकाकृति इत्यादि दोष न हों। वे तो केवल इतना ही कहा करते हैं कि जिस रत्न में उपर्युक्त दोष हों वह रत्न शुभ नहीं माना जाता।

अतः यह कहना चाहिए कि काव्य वह शब्दार्थयुगल है, जो रसात्मक हो, इसके बाद ह कहा जा सकता है कि जिस काव्य में विधेयाविमर्श आदि दोषों में से कोई दोष हो तो वह उच्चकोटि का नहीं होता है निम्न श्रेणी का होता है। अतः अदोषौ पद का समावेश काव्य में इसी दृष्टि से किया गया है कि रसानुभूति के बाधक प्रबल दोषों से रहित शब्द तथा अर्थ की समाष्टि काव्य कहलाती है अर्थात् जहाँ साधारण दोष के होते हुए भी रसानुभूति में बाधा नहीं होती है वह दोष युक्त काव्य भी काव्य ही है।

सगुणौ पद का खण्डन –

किञ्च। शब्दार्थयोः सगुणत्वविशेषणमनुपपन्नम्। गुणानां रसैकधर्मत्वस्य ''ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः'' इत्यादिना तेनैव प्रतिपादित्वात्। रसाभिव्यञ्जकत्वेनोपचारत उपपद्यत इति चेत्? तथाऽप्ययुक्तम्। तथाहि– तयोः काव्यस्वरूपेणाभिमतयोः शब्दार्थयो रसोऽस्ति, न वा? नास्ति चेत्, गुणवत्त्वमपि नास्ति, गुणानां तदन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात्। अस्ति चेत्? कथं नोक्तं रसवन्ताविति विशेषणम्। गुणवत्त्वान्यथानुपपत्त्यैतल्लभ्यत इति चेत्? तर्हि सरसावित्येव वक्तुं युक्तम् न सगुणाविति। नहि प्राणिमन्तो देशा इति केनाऽप्युच्यते। ननु ''शब्दार्थौ सगुणौ'' इत्यनेन गुणाभिव्यञ्जकौ शब्दार्थौ काव्ये प्रयोज्यावित्यभिप्राय इति चेत्? न, गुणाभिव्यञ्जकशब्दार्थवत्त्वस्य काव्ये उत्कर्षमात्राधायकत्वम्, न तु स्वरूपाधायकत्वम्। उक्तं हि– ''काव्यस्य शब्दार्थौ शरीरम्, रसादिश्चात्मा, गुणाः शौर्यादिवत्, दोषाः काणत्वादिवत्, रीतयोऽवयवसंस्थानविशेषवत्, अलङ्काराः कटककुण्डलादिवत्''।

और भी, मम्मट के काव्यलक्षण में ''सगुणौ'' यह पद जो है यह विशेषण भी ठीक नहीं है क्योंकि गुण शब्द और अर्थ के धर्म नहीं हैं, गुण तो रस के धर्म हैं, जैसा कि स्वयं आप (आचार्य मम्मट) ने प्रतिपादित किया है कि जो रस के प्रधान धर्म हैं जैसे कि शौर्य आदि आत्मा के धर्म हैं वैसे ही गुण भी रस के धर्म हैं।

सगुणौ यह विशेषण यहाँ अर्थात् काव्य लक्षण में रसाभिव्यञ्जकता को द्योतित करने के लिए उपचार से कहा गया है क्योंकि रसाभिव्यञ्जक शब्द और अर्थ को उपचार से सगुण शब्द और अर्थ कहा ही जा सकता है परन्तु यह बात यहाँ ठीक नहीं है क्योंकि जिस शब्द और अर्थ को काव्य के रूप में स्वीकार किया जा रहा है उसमें रस है या नहीं, यदि उन दोनों में रस नहीं है तो उन दोनों में गुण भी नहीं है क्योंकि जहाँ रस है, वहाँ गुण भी रहेंगे। दोनों अर्थात् रस और गुण में अन्वय-व्यतिरेक सम्बन्ध है अर्थात् जहाँ रस होगा वहाँ गुण भी होगा, जहाँ रस नहीं होगा वहाँ गुण भी नहीं होगा। यदि उन दोनों अर्थात् शब्द और अर्थ में रस है तो फिर सगुणौ के स्थान पर रसवन्तौ यह विशेषण क्यों नहीं कहा गया? यदि यह कहा जाए कि अन्यथानुपपत्ति से शब्द और अर्थ गुण से युक्त होते हैं तो इसका अर्थ यही है कि शब्द और अर्थ रस से युक्त हैं, वहाँ सगुणौ विशेषण की आवश्यकता नहीं है अर्थात् शब्द और अर्थ के सगुणौ विशेषण के बजाय शब्द और अर्थ का सरसौ विशेषण वहाँ क्यों नहीं हो सकता क्योंकि ''ये वो जगह है जहाँ प्राणी रहते हैं'' इस तरह से कोई भी नहीं कहता है अथवा ये कहा जाये कि ये वे भूभाग हैं जहाँ शौर्यादि गुण रहा करते हैं इसीलिए ''सरसौ शब्दार्थौ काव्यम्'' यह ही करना ठीक है प्रत्युत ''सगुणौ शब्दार्थौ काव्यम''।

यदि ''शब्दार्थौ सगुणौ'' यह कहने से गुणभिव्यञ्जक शब्द और अर्थ का भान होता है अर्थात् ''सरसौ शब्दार्थौ'' के बजाय सगुणौ शब्दार्थौ यह औपचारिक प्रयोग काव्य में गुणाभिव्यञ्जक शब्द और अर्थ के प्रयोग पर जोर देने के उद्देश्य से किया गया है तो यह बात बिल्कुल व्यर्थ है क्योंकि गुणाभिव्यञ्जक शब्द और अर्थ काव्य के उत्कर्ष मात्र के वर्द्धक भले ही हों, स्वरूप के आधायक नहीं हो सकते अर्थात् शब्दार्थ काव्य के उत्कर्ष को बढ़ाने वाले भले ही हों वे स्वरुप के आधायक नहीं हो सकते हैं। यहाँ शब्दार्थ का तात्पर्य गुणाभिव्यञ्जक शब्दार्थ है इसीलिए कहा गया है –

- शब्द और अर्थ काव्य के शरीर हैं।
- रस और भाव आदि काव्य की आत्मा हैं।
- गुण (शौर्य इत्यादि की तरह) रस के धर्म हैं।
- दोष काणत्व इत्यादि की तरह हैं।
- रीतियाँ इस काव्य रूपी शरीर के अवयवसंस्थान अर्थात् हाथ,पैर इत्यादि अवयव हैं।
- अलंकार कटक कुण्डल इत्यादि की तरह हैं।

जैसे शौर्य आदि गुण पुरुष के पुरुषत्व को नष्ट नहीं कर सकते अपितु पुरुषत्व अर्थात् व्यक्तित्व को बढ़ाते ही है वस्तुतः आचार्य मम्मट की दृष्टि में शब्द और अर्थ में माधुर्यादि गुणों के होने का एकमात्र अभिप्राय शब्द और अर्थ का मधुर शृंगारदि रसों के अभिव्यञ्जन का सामर्थ्य ही है, अन्य कुछ नहीं।''सरसौ शब्दार्थौ''यदि यह कहा जाए तो रसाभिव्यञ्जक शब्द और अर्थ यह अर्थ तो निकल रहा है किन्तु रसानुभव में अभिव्यङ्ग्य गुण का अभिप्राय कदापि नहीं निकल सकता है।

''सगुणौ शब्दार्थौ'' का अर्थ है ''साक्षात् रसाभिव्यञ्जकौ शब्दार्थौ'' अथवा ''परम्परया गुणाभिव्यञ्जकौ शब्दार्थौ'' परन्तु ''सरसौ शब्दार्थौ'' अथवा ''रसवन्तौ शब्दार्थौ' से ''रसाभिव्यञ्जकौ शब्दार्थौ'' का ही अभिप्राय निकल सकता है न कि ''परम्परया गुणाभिव्यञ्जकौ शब्दार्थौ'' का। अतः काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट का काव्य-लक्षण एकदम निर्दुष्ट है।

वस्तुतः गुण रस के ही धर्म हैं परन्तु गौण रूप से अर्थात् परम्परा से वे शब्द और अर्थ के भी धर्म हैं अर्थात् शब्द और अर्थ के साथ भी उनका सम्बन्ध है क्योंकि स्वयं आचार्य मम्मट कहते हैं– ''गुणवृत्त्या पुनस्तेषां वृत्ति शब्दार्थयोर्मता।'' अर्थात् गौणी वृत्ति से शब्द और अर्थ के साथ गुणों का सम्बन्ध होता है। अतः काव्य लक्षण में आचार्य मम्मट ने ''सगुणौ'' जो यह पद अथवा 'शब्दार्थौ' का विशेषण दिया है, वह नितान्त साधु है।

माधुर्यादि गुणों को काव्य का उत्कर्षाधायक मानकर कविराज ने जो आक्षेप किया है, वह भी निर्मूल है क्योंकि गुण तो काव्य के स्वरूपाधायक होकर ही काव्य के उत्कर्षाधायक होते हैं जबकि अलंकार काव्य के स्वरूपाधायक नहीं प्रत्युत उत्कर्षाधायक ही होते हैं। शब्द और अर्थ के द्वारा कभी-कभी अलंकार काव्य का उपकार अर्थात् काव्य का उत्कर्ष कर देते हैं परन्तु गुण तो हमेशा ही काव्य का उपकार अर्थात् काव्य का उत्कर्ष करते हैं।

''अनलङ्कृती पुनः क्वापि'' इस पद का भी खण्डन''

एतेन ''अनलङ्कृती पुनः क्वापि'' इति यदुक्तम्, तदपि परास्तम्। अस्यार्थः सर्वत्र सालङ्कारौ क्वचित्त्वस्फुटालङ्कारावपि शब्दार्थौ काव्यमिति तत्र सालङ्कारशब्दार्थयोरपि काव्ये उत्कर्षाधायकत्वात्।

इससे 'अनलङ्कृती पुनः क्वापि' अर्थात् काव्य में कहीं-कहीं पर यदि स्पष्ट अलंकार न हो तो भी काव्य का काव्यत्व तो रहता ही है, उसे कोई हानि नहीं होती है, यह भी परास्त हो गया है क्योंकि इसका अर्थ है – सर्वत्र अलंकार से युक्त काव्य परन्तु कहीं कहीं स्पष्ट रूप से अलंकार के न होने पर भी शब्द और अर्थ काव्य है। सालङ्कार शब्दार्थ का आशय यह है कि अलंकार से युक्त शब्द और अर्थ काव्य के स्वरूपाधायक नहीं प्रत्युत उत्कर्षाधायक होते हैं। ये अलंकार काव्य की उत्कृष्टता के साधन हैं।

वस्तुतः आचार्य मम्मट के ''अनलङ्कृती पुनः क्वापि'' इस पद के कहने का यह आशय है कि जहाँ कहीं रसादि की प्रतीति हो रही हो वहाँ अलंकार से रहित होने पर काव्यत्व की हानि नहीं होती है। अलंकार से रहित होने पर काव्यत्व की हानि नहीं होती है। अलंकार तो शब्द और अर्थ के ही धर्म हैं, शब्द और अर्थ के उत्कर्ष के द्वारा मुख्य रस को उपकृत करते हैं, जहाँ रस नहीं है वहाँ केवल उक्तिवैचित्र्यमात्र ही होते हैं और कहीं कहीं रस के होने पर भी उसका अर्थात् काव्य का उत्कर्ष नहीं करते हैं।

अतः ''अनलङ्कृती पुनः क्वापि'' यह पद भी साधु ही है।

2. **वक्रोक्तिजीवितकार आचार्य कुन्तक के मन का खण्डन**

   एतेन ''वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्'' इति वक्रोक्तिजीवितकारोक्तमपि परास्तम्। वक्रोक्तेरलङ्काररूपत्वात्।

अलंकार से युक्त शब्द और अर्थ काव्य नहीं कहे जा सकते हैं तो वक्रोक्तिजीवित ग्रन्थ के कर्ता आचार्य कुन्तक का ''वक्रोक्ति काव्य का जीवन है'' यह कथन भी स्वयं ही असिद्ध हो गया अलंकार काव्य की आत्मा हो नहीं सकता।

वस्तुतः यहाँ पर भी कविराज विश्वनाथ व्यर्थ में ही उलझ गये हैं क्योंकि यह सत्य है कि वक्रोक्ति अर्थात् उक्तिवैचित्र्य अथवा एक विशेषप्रकार का कथन, काव्य की आत्मा अर्थात् जीवन नहीं हो सकता परन्तु वक्रोक्तिजीवितकार की वक्रोक्ति एक अलंकार ही है, यह आप कैसे कह सकते हैं? उन्होंने तो इसे काव्य की एक कला अर्थात् काव्य कहने की एक शैली अथवा वैदग्ध्य भणिति या उक्ति वैचित्र्य कहा है। अलंकार भी वक्रोक्ति का एक प्रकार है क्योंकि अलंकार भी उक्तिवैचित्र्य ही है। वक्रोक्ति अलंकार नहीं है

अस्फुटालंकार के उदाहरण का खण्डन

यच्च क्वचिदस्फुटालङ्कारत्वे उदाहृतम्–

''यः कौमारहरः स एव हि वरस्ता एव चैत्रक्षपा–
स्ते चोन्मीलितमालतीसुरभयः प्रौढ़ाः कदम्बानिलाः।
सा चैवास्मि तथापि सुरतव्यापारलीलाविधौ,
रेवारोधसि वेतसीतरुतले चेतः समुत्कण्ठते''।।

एतच्चिन्त्यम्। अत्र हि विभावनाविशेषोक्तिमूलस्य सन्देहसङ्करालङ्कारस्य स्फुटत्वम्।

जो यह अस्फुट अर्थात् अस्पष्ट अलंकार के उदाहरण के रूप में पद्य उदाहृत किया गया है यह भी चिन्त्य है क्योंकि – जिसने मेरे कौमार्य अथवा कुवाँरीपन का हरण किया है, वहीं मेरे पति है, वही चैत्रमास वसन्त मास की चाँदनी रातें हैं। खिली हुई मालती लता अर्थात् वासन्ती लताओं की भीनी-भीनी सुगन्ध भी वही है, धूलि कदम्ब की उन्मादक वायु बह रही है और मैं भी वही हूँ फिर भी न जाने क्यों आज वहाँ नर्मदा नदी के तट पर उस बेंत के पेड़ के नीचे जहाँ अनेक बार अपने पतिदेव के साथ सम्भोग कर चुकी हूँ, उन काम केलियों को बार-बार करने के लिए मन बहुत मचल अर्थात् उत्कण्ठित हो रहा है।

यहाँ विभावना और विशेषोक्ति मूल सन्देहसङ्कर अलंकार है।

इस पद्य में मालती शब्द आया है मालती का अर्थ है, जाति पुष्प अथवा चमेली का पुष्प परन्तु कवि सम्प्रदाय के अनुसार मालती का पुष्प वसन्त ऋतु में होता तो है परन्तु वसन्त ऋतु में जाति पुष्प का वर्णन करना वर्जित है –

''न स्याज्जाती वसन्ते'' अतः यहाँ मालती पद से वसन्त ऋतु में खिलने वाली लता का ग्रहण करना चाहिए। पुनः इस पद्य में कदम्ब शब्द का भी प्रयोग हुआ है, वस्तुतः वसन्त ऋतु में कदम्ब भी नहीं खिलता है, वर्षा ऋतु में खिलता है, इसलिए यहाँ कदम्ब शब्द से वसन्त में खिलने वाले धूलि-कदम्ब नामक पुष्प-विशेष का ग्रहण करना चाहिए।

यहाँ कविराज विश्वनाथ के मत में विभावना तथा विशेषोक्ति अलंकार है। विभावना अलंकार वहाँ होता है जहाँ कारण के अभाव में कार्य की उत्पत्ति हो जाये, यहाँ सुरत क्रीड़ा के उपकरण वही वर, वही मालती की सुगन्ध, वही कदम्ब की समीर इत्यादि विषयों के अनुपभोग रूपी कारण के अभाव में भी नायिका के मन के उत्कण्ठा रूपी कार्य का वर्णन होने से यहाँ विभावना है।

कारणाभावेऽपि कार्योत्पत्तिर्विभावना। यहाँ विशेषोक्ति भी है क्योंकि विशेषोक्ति अलंकार वहाँ होता है जहाँ कारण के विद्यमान होने पर भी कार्य का अभाव हो, यहाँ नायिका के द्वारा वर, मालती की सुगन्ध तथा कदम्ब के वृक्ष से युक्त वायु इत्यादि कारणों के होने पर भी सुरत क्रीड़ा रूपी कार्य का अभाव है अतः यहाँ विशेषोक्ति अलंकार है, अतः यहाँ विभावना और विशेषोक्ति अलंकार के सन्देह होने से इन दोनों अलंकारों का सङ्कर है।

वस्तुतः यहाँ कारण के अभाव होने पर भी ''चेतः समुत्कण्ठेत'' इस वाक्य से उत्कण्ठा रूपी कार्य की उत्पत्ति हो रही है अतः यहाँ विभावना है, पुनः यहाँ कारण के विद्यमान होने पर भी कार्य का अभाव है अतः यहाँ विशेषोक्ति है।

आचार्य मम्मट के अनुसार यहाँ ''हरो वरः''इत्यादि में अनुप्रास अलंकार हो सकता है परन्तु शृंगार रस के प्रतिकूल वर्ण होने के कारण यहाँ अनुप्रास अलंकार नहीं हैं। अस्मि क्रिया का भी सभी कारकों के साथ सम्बन्ध नहीं है अतः यहाँ दीपक अलंकार भी नहीं है। यहाँ दीपक, परिसंख्या, स्मरण, तुल्ययोगिता, काव्यालिङ्ग, सम्मुच्चय इत्यादि अलंकार भी स्पष्ट रूप से नहीं है। अतः ये अस्फुट अलंकार का ही उदाहरण है।

3. सरस्वतीकण्ठाभरण्कार आचार्य भोजदेव के काव्य लक्षण का खण्डन

एतेन–

''अदोषं गुणवत्काव्यमलङ्कारैलङ्कृतम्।
रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति''।।

इत्यादीनामपि काव्यलक्षणत्वमपास्तम्।

काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट के काव्य लक्षण से आचार्य भोजदेव का काव्यलक्षण भी स्वयं ही खण्डित हो गया क्योंकि वे कहते हैं– दोष से रहित, गुणों से युक्त, अलंकारों से अलंकृत रस से समन्वित ही काव्य कहलाता है। इस प्रकार के काव्य की जो कवि रचना करता है, वह परम यश तथा परमानन्द को प्राप्त करता है।

यहाँ पर भी ''अदोषं'' इस पद पर तथा 'गुणवत्' एवं 'रसान्वितम्' इन दोनों पदों पर भी आपत्ति करते हुए आचार्य विश्वनाथ ने इसका खण्डन किया है क्योंकि 'गुणवत्' तथा 'रसान्वितम्' इन दोनों को एक साथ कहने की आवश्यकता नहीं थी, गुणवत् का तात्पर्य रस से युक्त भी है ही क्योंकि रस के धर्म गुण है। पुनः ''अदोषम्'' पर तो उनकी आपत्ति पहले से ही है।

4. ध्वनिकार आचार्य आनन्दवर्धन के काव्य लक्षण का खण्डन

यत्तु ध्वनिकारेणोक्तम्– ''काव्यस्यात्मा ध्वनिः'' इति तत्किं वस्त्वलङ्काररसादिलक्षणस्त्रिरूपो ध्वनिः काव्यस्यात्मा, उत रसादिरूपमात्रो वा? नाद्यः,– प्रहेलिकादावतिव्याप्तेः। द्वितीयश्चेदोमिति ब्रूमः।

जो ध्वनिकार आचार्य आनन्दवर्धन ने अपने ग्रन्थ ध्वन्यालोक में कहा है कि काव्य की आत्मा ध्वनि है। इस ध्वनि में कौन सी ध्वनि काव्य की आत्मा है, वस्तु, अलंकार तथा रस इन तीन प्रकार की ध्वनियों में कौन सी ध्वनि काव्य की आत्मा है, यदि तीनों में से रसादि ध्वनि ही काव्य की आत्मा है? पहली अर्थात् वस्तु ध्वनि तो काव्य की आत्मा नहीं है क्योंकि प्रहेलिका अर्थात् व्यङ्ग्यार्थ विशिष्ट नीरस काव्य भी उसमें आ जायेंगे क्योंकि ये प्रहेलिका इत्यादि भी वस्तु रूप ही होते हैं। प्रहेलिका इत्यादि में ''देवदत्तो ग्रामं याति'' अर्थात् देवदत्त गाँव जाता है, यह भी ध्वनि विशेष होने के कारण काव्य बन जायेगा।

यदि दूसरी अर्थात् रसादिरूप ध्वनि ही काव्य की आत्मा है तो उसमें तो हम भी एकमत हैं अर्थात् उसमें हमारी सहमति है, रसारूिपध्वनि काव्य की आत्मा हो सकता है परन्तु फिर ''काव्य की आत्मा ध्वनि है'' यह व्यवहार नहीं होगा, फिर तो यह व्यवहार होना चाहिए कि ''रसादि ध्वनि ही काव्य की आत्मा होती है''।

ननु यदि रसादिरूपमात्रो ध्वनिः काव्यस्यात्मा, तदा–

अत्ता एत्थ णिम्ज्जइ एत्थ अहं दिसअं पलोएहि।
मा पहिअ रत्तिअन्धिअ सेज्जाए मह णिमज्जहिसि।

(श्वश्रूरत्र निमज्जति, अत्राहं, दिवस एव प्रलोकय।
मा पथिक रात्र्यन्ध, शय्यायां मम निमङ्क्ष्यसि।।)

इत्यादौ वस्तुमात्रस्य व्यङ्ग्यत्वे कथं काव्यव्यवहार इति चेत्? न– अत्रापि रसाभासवत्तयैवेति ब्रूमः, अन्यथा ''देवदत्तो ग्रामं याति'' इति वाक्ये तद्भृत्यस्य तदनुसरणरूपव्यङ्ग्यावगतेरपि काव्यत्वं स्यात्। अस्त्विति चेत्? न, रसवत एव काव्यत्वाङ्गीकारात्।

यदि रसादिरूपमात्र ही ध्वनि है अर्थात् रसादिरूप मात्र ध्वनि ही काव्य की आत्मा है तो इस उदाहरण में –

''मेरी सास यहाँ सोती है और मैं यहाँ सोती हूँ, यह सब दिन में ही अच्छी तरह से देख लेना, अरे रात्रि के अन्धे पथिक, कहीं ऐसा मत कर देना कि तुम बिना देखे भाले ही मेरी खाट पर लेटने लग जाओ''। इस उदाहरण को क्यों काव्य माना जाए क्योंकि इसमें तो वस्तुमात्र का ही व्यंग्य दिखाई दे रहा है अर्थात् यह प्रतीत हो रहा कि नायिका इस प्रकार अपने वचनों से पर पुरुष अर्थात् आगन्तुक पुरुष को अपनी खाट पर ही अपने साथ सोने का संकेत कर रही है। यहाँ यहीं वस्तुमात्ररूप व्यंग्य प्रकट हो रहा है, परन्तु ऐसा नहीं है, वस्तुमात्र के व्यंग्य होने को यहाँ काव्यत्व की प्रतीति हो रही हो अपितु यहाँ रसाभाव के कारण ध्वनि अर्थात् काव्यत्व की प्राप्ति हो रही है क्योंकि यहाँ पथिक परपुरुष के साथ किसी नायिका के रतिभाव का प्रकाशन श्रृंगार रस का आभास नहीं है तो क्या है? वस्तुतः काव्य उसी को कहते हैं जो रस से युक्त हो, रसादि रूप अर्थ के अभिव्यञ्जक होने के कारण ही शब्दार्थ काव्य होने लगे तब तो यह वाक्य भी ''देवदत्त गाँव जा रहा है''। काव्य हो जायेगा क्योंकि यहाँ भी वस्तुरूप व्यंग्यार्थ है। देवदत्त की पीछे-पीछे सका नौकर भी जा रहा है परन्तु देवदत्त गाँव जा रहा है यह वाक्य काव्य नहीं हो सकता क्योंकि काव्य रस से युक्त ही कहलाता है, जो शब्दार्थ काव्य रसाभिव्यञ्जक हो वही शब्दार्थ काव्य कहलाता है, देवदत्त गाँव जा रहा है इस वाक्य में रस नहीं है अतः यह वाक्य भी काव्य नहीं बन सकता।

काव्यस्य प्रयोजनं हि रसास्वादमुखपिण्डदानद्वारा वेदशास्त्रविमुखानां सुकुमारमतीनां राजपुत्रादीनां विनेयानां ''रामादिवत्वप्रवर्तितव्यं न रावणादिवत्'' इत्यादिकृत्याकृत्यप्रवृत्तिनिवृत्त्युपदेष इति चिरन्तनैरप्युक्तत्वात् तथा चाग्नेयपुराणेऽप्युक्तम्– ''वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्''।

प्राचीन काव्यशास्त्रियों का यह कहना है कि काव्य का यही प्रयोजन है कि रस के आस्वादन के सुखपूर्वक सेवन से, वेदशास्त्र से जो विमुख है अर्थात् जो वेद एवं शास्त्रों को नहीं पढ़ते हैं वो, सुकुमार मति से युक्त, राजकुमार आदि को राम आदि की तरह आचरण करना चाहिए, रावण आदि की तरह नहीं, इस प्रकार जो शिक्षा प्रदान करे वही वस्तुतः काव्य का मूल उद्देश्य है और इसी प्रसंग में अग्निपुराण में भी कहा गया है – अनेक प्रकार की वाणी की विचित्रता होने पर भी रस ही काव्य का जीवन है, मूल आधार है। उक्तिवैचित्र्य चाहे कितना ही हो, रस ही काव्य का प्राण है, रस के बिना काव्य का कोई अस्तित्व नहीं है। रस की जीवन्तता ही काव्य की चेतनता है।

व्यक्तिविवेककारेणाऽप्युक्तं – काव्यस्यात्मनि अङ्गिनि, रसादिरूपे न कस्यचिद्विमतिः। इति। ध्वनिकारेणाऽप्युक्तम्– 'नहि कवेरितिवृत्तमात्रनिर्वाहेणात्मपदलाभः, इतिहासादेरेव तत्सिद्धेः' इत्यादि।

व्यक्तिविवेककार आचार्य महिमभट्ट ने भी कहा है कि कोई भी ऐसा आचार्य नहीं है जो काव्य की आत्मा अर्थात् काव्य के जीवन के रूप में रसादि को स्वीकार न करे अर्थात् सभी आचार्य इस बात को स्वीकार करते हैं कि रसादि ही काव्य की आत्मा है। ध्वनिकार आचार्य आनन्दवर्धन कहते हैं कि कवि का महान् पद केवल काव्य के कथा शरीर मात्र के निर्माण पर किसी को नहीं मिला करता, वस्तुतः कवि को महान् पद केवल रसानुकूल काव्य प्रबन्ध निर्माण पर ही प्राप्त होता है, कथा-शरीर तो इतिहास आदि में ही रह जाता है, कथा को कोई याद नहीं रखता है।

''ननु तर्हि प्रबन्धान्तर्वर्तिनां केषांचिन्नीरसानां पद्यानां काव्यत्वं न स्यादिति चेत्? न, रसवत्पद्यान्तर्गतनीरसपदानामिव पद्मरसेन, प्रबन्धरसेनैव तेषां रसवत्ताङ्गीकारात्। यत्तु नीरसेष्वपि गुणाभिव्यञ्जकवर्णसद्भावाद्दोषाभवादलंकारसद्भावाच्च काव्यव्यवहारः स रसादिमत्काव्यबन्धसाम्याद्गौण एव।

यहाँ प्रश्न है कि यदि रस से युक्त वाक्य ही काव्य है तब किसी काव्य के अन्दर जो कतिपय नीरस पद्य है अथवा नीरस वाक्य है, वे तो काव्य नहीं हो सकते, तो इसका यही समाधान है कि जैसे रस से युक्त पद्य काव्य के अन्तर्गत आने वाले नीरस वाक्यों अथवा पदों में भी सरसता आ जाती है। वैसे ही यदि किसी काव्य-प्रबन्ध की सरसता से उसके भीतर यदि कुछ नीरस भी पद्य-वाक्य प्रयुक्त हो तो वे भी सरसता ही टपकाने वाले माने जाते हैं। वस्तुतः काव्य वही है जो सरस हो, सरल हो। कभी-कभी नीरस वाक्यों अथवा पद्यों में काव्य का व्यवहार होने लगता है अर्थात् वे भी काव्य बन जाते हैं। कभी-कभी इन वाक्यों अथवा पद्यों में ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे गुणों के अभिव्यंजक वर्णों से ये युक्त हैं, दोष का इनमें सर्वथा अभाव है तथा अलंकार और रस से ये युक्त हैं, परन्तु इतना होने के फलस्वरूप भी ये पद्य अथवा काव्य रस से युक्त काव्य बन्ध की तुलना में सर्वथा गौण ही हैं। वस्तुतः चाहे कितने ही गुण अथवा चाहे कितने ही अलंकार हो तथा सर्वथा दोष से रहित हों परन्तु यदि काव्य में रस नहीं है तो वह काव्य, काव्य की श्रेणी में ना होकर अकाव्य ही है, नीरस काव्य भले ही गुण एवं अलंकारों से युक्त हो परन्तु रस के बिना उनका कोई महत्त्व नहीं है जैसे कोई कुरूप (रसहीन) स्त्री कितने ही

अलंकारों को धारण कर ले फिर भी वह सुन्दरी नहीं कहला सकती उसी प्रकार काव्य में रस के बिना काव्यत्व नहीं हो सकता।

5. आचार्य वामन कृत काव्य-लक्षण का खण्डन–

यत्तु वामनेनोक्तम्– ''रीतिरात्मा काव्यस्य'' इति, तन्न; रीतेः संघटनाविशेषत्वात्। संघटनायाश्चवयवसंस्थापनरूपत्वात्, आत्मनश्च तद्भिन्नत्वात्।

आचार्य वामन ने ''वक्रोक्तिजीवितम्'' नामक ग्रन्थ में जो कहा है कि रीति काव्य की आत्मा है अर्थात् रीति काव्य का सारतत्त्व है, वह भी युक्तियुक्त नहीं है।

रीति अर्थात् शैली तो एक संघटना विशेष है, और सघंटना काव्य का एक अवयव है, काव्य का एक अंग है, आत्मा तो शरीर अथवा शरीर के अंगों से भिन्न होती है, अर्थात रीति काव्य का एक अंग मात्र है, आत्मा नहीं और अयवव संस्थान अर्थात् अंग कभी भी आत्मा नहीं बन सकता है, अतः रीति भी काव्य की आत्मा नहीं बन सकती है।

आचार्य आनन्दवर्धन ने भी यही कहा है – रीति को काव्य की आत्मा मानने का अर्थ है, आत्मतत्त्व के अपरिज्ञान का दुष्परिणाम,

6. आचार्य आनन्दवर्धन के मत का खण्डन–

यच्च ध्वनिकारेणोक्तम् –

''अर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मा यो व्यवस्थितः।
वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ''।। इति

अत्र वाच्यात्मत्वं ''काव्यस्यात्मा ध्वनिः'' इति स्ववचनविरोधादेवापास्तम्।

सहृदयों के द्वारा जो प्रशंसनीय अर्थ है, वह काव्य की आत्मा के रूप में व्यवस्थित है अर्थात् सहृदय लोग जिस अर्थ की प्रशंसा करते हैं, वह काव्य की आत्मा है, उस अर्थ के वाच्य तथा प्रतीयमान नामक दो भेद हैं।

यहाँ वाच्य को काव्य की आत्मा माना गया है और अन्य स्थान पर काव्य की आत्मा ध्वनि है। इन दोनों में से वाच्य काव्य की आत्मा है या ध्वनि काव्य की आत्मा है, ये दोनों ही कथन परस्पर विरोधी हैं, अतः अपना वचन अर्थात् आनन्दवर्धन का स्वयं का ही वचन स्पष्ट नहीं होने के कारण स्वयं ही खण्डित हो गया।

वस्तुतः आचार्य आनन्दवर्धन के अभिप्राय को कविराज विश्वनाथ समझ नहीं सके। आचार्य आनन्दवर्धन का कहना है कि काव्य में अर्थ, वाच्य और व्यंग्य इन दो रूपों में बँटा हुआ रहता है, इन दोनों रूपों में वही अर्थ प्रशंसनीय होता है जिसकी सहृदय प्रशंसा करते हैं। इन दोनों रूपों में वाच्यार्थ शरीरवत् है तथा प्रतीयमानार्थ आत्मवत् रहता है। सहृदयों के द्वारा जो प्रशंसनीय अर्थ है, उस अर्थ के ''वाच्य तथा प्रतीयमान'' ये दो भेद हैं, जिनमें प्रतीयमान अर्थ ही काव्य की आत्मा है।

यहाँ कविराज विश्वनाथ ने जो कहा है कि वाच्यार्थ ही काव्य की आत्मा के रूप में दिखाई दे रहा है, वह असंगत है। काव्य की आत्मा तो प्रतीयमान अर्थ ही है। शब्दार्थशरीरं काव्यम्। इनमें शब्द तो शरीर के स्थूलत्वादि के समान सर्वजनसंवेद्य होने से शरीरभूत ही है परन्तु अर्थ तो स्थूल शरीर की तरह सर्वजनसंवेद्य नहीं है। व्यंग्यार्थ तो सहृदयैकवेद्य है ही परन्तु उससे भिन्न वाच्यार्थ भी व्युत्पन्न पुरुषों को ही प्रतीत होता है। जब शब्द को शरीर के रूप में स्वीकार करते हैं तो शरीर को अनुप्राणित करने वाली आत्मा को मानना भी आवश्यक है, तो अर्थ ही आत्मा के रूप में स्वीकार किया गया है। परन्तु सम्पूर्ण अर्थ ही काव्य की आत्मा नहीं है अपितु सहृदयों के द्वारा जो प्रशंसनीय अर्थ है वो ही काव्य की आत्मा है। उस अर्थ के दो भेद है— वाच्य तथा प्रतीयमान, इनमें प्रतीयमान अर्थ ही काव्य की आत्मा है, दूसरा जो वाच्यार्थ है, उसे हम अन्तःकरण का धर्म अर्थात् मन स्वीकार कर सकते हैं।

आचार्य विश्वनाथ का काव्य लक्षण—

तत्किं पुनः काव्यमित्युच्यते —

''वाक्यं रसात्मकं काव्यम्''

रसस्वरूपं निरुपयिष्यामः। रस एवात्मा साररूपतया जीवनाधायको यस्य। तेन विना तस्य काव्यत्वानङ्गीकारात्। ''रस्यते इति रसः'' इति व्युत्पत्तियोगाद्भावतदाभासादयोऽपि गृह्यन्ते।

''रस से युक्त वाक्य ही काव्य कहलाता है''। रस क्या है? इसका वर्णन तो आगे किया जायेगा। रस ही जिसकी आत्मा है, वह जीवन का आधायक अर्थात् जीवन का मूल तत्त्व ही रसात्मक कहलाता है, रस के बिना काव्य हो ही नहीं सकता है अर्थात् रस के बिना कोई भी वाक्य काव्य नहीं कहला सकता।''रस्यते'' अर्थात् जिसका आस्वादन किया जा सके अथवा जिसका स्वाद लिया जा सके, वह ही रस है, रस से यहाँ रसाभास, भावाभास का भी ग्रहण किया जाता है।

वस्तुतः आचार्य आनन्दवर्धन के रस-ध्वनि के सिद्धान्त को स्मरण करते हुए ही आचार्य विश्वनाथ ने **''वाक्यं रसात्मकं काव्यम्''** यह काव्य लक्षण बनाया। यहाँ रसात्मक का अर्थ विभावादियोजनात्मक अर्थात् विभावादियों से युक्त ही रसात्मक का अर्थ है। वैसे व्यक्तिविवेककार आचार्य महिम भट्ट भी रस से युक्त वाक्य को काव्य मानते हैं परन्तु उनसे कुछ भेद प्रदर्षित करने के लिए आचार्य विश्वनाथ ने विभावादियोजनात्मक की जगह रसात्मक शब्द का प्रयोग कर दिया है।

रसात्मक अर्थात् रस ही जिसकी आत्मा है, जीवनाधायक अर्थात् प्राण है—

तत्र रसो यथा —

''शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किञ्चिच्छनै—
र्निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम्।
विस्त्रब्धं परिचुम्ब्य जातपुलकामालोक्य गण्डस्थलीं
लज्जानम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिरं चुम्बिता''।।

अत्र हि सम्भोगश्रृंगाराख्यो रसः।

(रस का उदाहरण देते हैं)
रस में भी श्रृंगार रस प्रधान है अतः श्रृंगार का उदाहरण देते हैं–

पति के बराबर अलग पलंग पर लेटी हुई नवोढा नायिका ने वासगृह अर्थात् षयन–कक्ष को सूना देखकर अर्थात् सखियों से रहित देखकर, अपने पलंग से धीरे से उठकर, कहीं वलय अर्थात् कङ्कण इत्यादि की आवाज से मेरे पति जाग न जायें, इस तरह, नींद का बहाना कर लेटे हुए अपने पति के मुख को बहुत देर तक, अच्छी तरह से देखकर, ये सो रहे हैं, ऐसा जानकर निःशंक भाव से अर्थात् पूर्ण विश्वास से पति का चुम्बन कर लेने पर, पति के मुख पर चुम्बन किये जाने पर प्रसन्नचित्त होकर पति के गालों पर रोमांच देखकर नायिका यह समझ गयी कि वे जग रहे थे, इसलिए उसका मुख लज्जा से झुक गया, उस लज्जा से नम्र मुखवाली अपनी प्रेमिका अथवा बाला को पकड़कर हँसते हुए प्रियतम अर्थात् नायक ने बहुत देर तक उसका चुम्बन किया।

यहाँ सम्भोग श्रृंगार रस है।

वस्तुतः यह पद्य अमरुकशतक से उद्धृत किया गया है। इस श्लोक में नायक आलम्बन विभाव है, शून्य वासगृह उद्दीपन विभाव है, मुख को अच्छी तरह से देखना तथा चुम्बन इत्यादि अनुभाव है, लज्जा, ह्रास इत्यादि व्यभिचारी भाव है। रति स्थायी भाव है, इससे सामाजिकों को रस की चर्वणा होती है अर्थात् रस का आनन्द प्राप्त होता है।

भावो यथा महापात्रराघवानन्दसान्धिविग्रहिकाणाम्–

> **''यस्यालीयत शल्कसीम्नि जलधिः पृष्ठे जगन्मण्डलं**
> **दंष्ट्रायां धरणी, नखे दितिसुताधीशः पदे रोदसी।**
> **क्रोधे क्षत्त्रगणः,शेर दशमुखः, पाणौ प्रलम्बासुरो,**
> **ध्याने विश्वमसावधार्मिककुलं, कस्मैचिदस्मै नमः''।।**

अत्र भगवद्विषया रतिर्भावः।

सान्धिविग्राहिक राघवानन्द महापात्र के इस पद्य में भाव का उदाहरण–
इस श्लोक भगवान् विष्णु के दशावतारों का वर्णन है–

1. जिसके शरीर की चमड़ी के एक भाग में अर्थात् एक छोर में सम्पूर्ण समुद्र छिप गया अर्थात् लीन हो गया (यस्य शल्कसीम्नि जलधिः अलीयत अर्थात् मत्स्यावतार)
2. जिसके पृष्ठ पर अर्थात् पीठ पर सम्पूर्ण पृथिवीमण्डल आ गया। (यस्य पृष्ठे जगन्मण्डलं अलीयत अर्थात् कूर्मावतार अर्थात कच्छपावतार)

3. जिसकी दाड़ों में पृथ्वी छोटी सी वस्तु के समान समा गई (यस्य दंष्ट्रायां धरणी अलीयत अर्थात् वराहावतार)
4. जिसके नाखूनों में हिरण्यकशिपु मौत के मुँह में समा गया। (यस्य नखे दितिसुताधीशः अलीयत अर्थात् नृसिंहावतार)
5. जिसके पैरों में पृथ्वी और अन्तरिक्ष समा गया (यस्य पदे रोदसी अलीयत अर्थात् वामनावतार)
6. जिसके क्रोध से क्षत्रियों का विनाश हो गया (यस्य क्रोधे क्षत्रंगणः अलीयत अर्थात् परषुराम अवतार)
7. जिसके बाणों से रावण का विनाश हो गया (यस्य शरे दशमुखः अलीयत) अर्थात् रामावतार।
8. जिसके हाथों से प्रलम्बासुर का वध हुआ (यस्य पाणौ प्रलम्बासुरः अलीयत अर्थात् बलरामावतार)
9. जिसके ध्यान में सम्पूर्ण विश्व लीन हो गया (यस्य ध्याने विश्वम् अलीयत अर्थातृ बौद्धावततार)
10. जिसकी तलवार में म्लेच्छों का समूह समा गया (यस्य असौ अधार्मिककुलम् अलीयत अर्थात् कल्कि अवतार)

ऐसे अनिर्वचनीय आनन्द के दाता नारायण भगवान् को प्रणाम है।

यहाँ अर्थात् इस पद्य में भगवान् विषयक रति होने के कारण यह भाव का उदाहरण है।

यहाँ भगवान् आलम्बन हैं, भगवान के अलौकिक चरित्र का वर्णन उद्दीपन विभाव है, अपने आप को छोटा बताना ही यहाँ अनुभाव है, स्मृति तथा हर्ष आदि संचारी भाव हैं, इससे यहाँ भाव प्रकट हो रहा है।

रसाभासो यथा–

'' मधु द्विरेफः कुसुमैकपात्रे पपौ प्रियां स्वामनुवर्तमानः।
श्रृंगेण च स्पर्शनिमीलिताक्षीं मृगीमकण्डूयत कृष्णसारः''।।

अत्र सम्भोगश्रृंगाररस्य तिर्यग्विषयत्वाद्रसाभासः। एवमन्यत्।

रसाभास का उदाहरण जैसे – महाकवि कालिदास के ''कुमारसम्भवम्'' महाकाव्य के तृतीय सर्ग में वसन्त ऋतु का वर्णन है–

वसन्त ऋतु में भ्रमर ने भ्रमरी को पुष्परस में शहद पिलाना शुरू कर दिया, और स्वयं बचे हुए पुष्परस को पीने लगा तथा दूसरी और कामातुर कृष्णसार मृग अपनी प्रिया मृगी के पास जाकर, उससे सटता हुआ आनन्द से आँखे मीचे खड़ी उसे सींगों से खुजलाते हुए प्रेम करने लगा।

यहाँ तिर्यक् योनि अर्थात् पशु-पक्षियों के सम्भोग शृंगार का वर्णन होने के कारण रसाभास है। इस प्रकार अन्य उदाहरण भी जानने चाहिए।

6.3.2 अन्य काव्यशास्त्रीय आचार्यो द्वारा स्वीकृत काव्य-लक्षण –

1. अग्निपुराण के अनुसार काव्य-लक्षण–

''संक्षेपाद् वाक्यमिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली।
काव्यं स्फुरदलंकारं गुणवद् दोषवर्जितम्''।।

इस काव्य लक्षण में मुख्यतः पाँच तत्त्व है–

i. इष्टार्थ ii. संक्षिप्त वाक्य iii. अलंकार iv. गुण v. दोष

2. आचार्य भरत का काव्य-लक्षण –

''मृदुललितपदाढ्यं गूढशब्दार्थहीनं
जनपदसुखबोध्यं युक्तिमन्नृत्ययोग्यम्
बहुकृतरसमार्गं सन्धिसन्धानयुक्तं
भवति जगति योग्यं नाटकं प्रेक्षकाणाम्''।।

इस काव्य लक्षण की मुख्यतः चार विषेषताएँ हैं–

i. मृदु, ललित और सरल शब्दों से युक्त।
ii. रस से युक्त।
iii. लोगों को सुख प्रदान करने वाला।
iv. दोषों से रहित।

3. आचार्य भामह का काव्य-लक्षण–

''शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्''।

4. आचार्य वामन का काव्य-लक्षण–

''काव्यशब्दोऽयं गुणालंकारसंस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते''।

5. आचार्य रुद्रट का काव्य-लक्षण – **''शब्दार्थौ काव्यम्''।**

6. आचार्य हेमचन्द्र का काव्य-लक्षण – **''अदोषौ सगुणौ सालंकारौ च शब्दार्थौ काव्यम्''।**

7. आचार्य वग्भट का काव्य-लक्षण–

''शब्दार्थौ निर्दोषो सगुणौ प्रायः सालङ्कारौ च काव्यम्''।

8. आचार्य दण्डी का काव्य-लक्षण –

''शरीरं तावदिष्टार्थ व्यवच्छिन्ना पदावली''।

9. आचार्य आनन्दवर्धन का काव्य लक्षण–

''शब्दार्थशरीरं तावत्वकाव्यम्''।

10. आचार्य कुन्तक का काव्य-लक्षण–

''शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि''।।

11. आचार्य क्षेमेन्द्र का काव्य-लक्षण –

''काव्यं विशिष्टशब्दार्थ साहित्यसदलङ्कृति।''

12. आचार्य मम्मट का काव्य-लक्षण–

''तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि''।

13. आचार्य जगन्नाथ का काव्य-लक्षण–
''रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्''।

14. आचार्य राजशेखर का काव्य-लक्षण–

''गुणवदलङ्कृतम् च काव्यम्''।

15. आचार्य भोजराज का काव्य-लक्षण–

''निर्दोषं गुणवत्काव्यमलङ्कारैरलङ्कृतम्।
रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति''।।

16. आचार्य जयदेव का काव्य–लक्षण–

''निर्दोषा लक्षणवती सरीतिर्गुणभूषणा।
सालङ्काररसानेकवृत्तिर्वाक्यकाव्यनामभाक्''।।

17. रेवाप्रसाद द्विवेदी का काव्य-लक्षण–

''ज्ञानात्मकोऽपिः शब्दः स्यादुपाधि काव्यवर्त्मणि।
पात्रं रसे पानकाख्ये दर्पणे वा तनौ यथा।।
या चैषा पूर्णतायुक्ता संविन्नाम्नी नवा वधूः।
सैव विच्छित्तिसम्पन्ना कवितात्वं प्रपद्यते''।।

18. आचार्य अभिराज राजेन्द्र मिश्र का काव्य-लक्षण

''काव्यं लोकोत्तराख्यानं रसगर्भं स्वभावजम्''।।

19. आचार्य राधावल्लभ त्रिपाठी का काव्य-लक्षण–

''लोकानुकीर्तनं काव्यम्''।

6.4 सारांश

प्रस्तुत इकाई में हमने काव्य प्रयोजन की चर्चा के सन्दर्भ में आचार्य विश्वनाथ के काव्य-प्रयोजन, धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष की प्राप्ति काव्य से ही सम्भव है, ये चारों पुरुषार्थ काव्य द्वारा अनायास अर्थात सहजता से प्राप्त हो जाते हैं तथा राम इत्यादि की तरह आचरण करो, रावण आदि की तरह नहीं, इस उपदेश के साथ-साथ काव्य का प्रयोजन सिद्ध होता है।

इसी सन्दर्भ में आचार्य भामह के काव्य-प्रयोजन, कीर्ति तथा परमानन्द को विशेषरूप से उद्धृत किया गया। शब्द की महत्ता के विषय में यह भी कहा गया है कि एक ही शब्द उसको अच्छी तरह से सोच समझकर प्रयोग किया जाए और उसको अच्छी तरह से समझा जाए, तो वह इस लोक तथा स्वर्ग में हमारे मनोरथों को पूर्ण करने में समर्थ होता है। वेद शास्त्रों का अध्ययन अत्यन्त प्रयत्न से सम्भव है, वे सरस न होकर नीरस हैं अर्थात् उनमें कोई रस नहीं है, ऐसे वेद-शास्त्रों से पुरुषार्थ-मनुष्य की प्राप्ति प्रौढ़ बुद्धि से युक्त लोगों को ही होती है। अग्निपुराण तथा विष्णुपुराण के सन्दर्भों को ग्रहण कर काव्य के प्रयोजन की प्रामाणिकता सिद्ध की गई है। इसके उपरान्त काव्यशास्त्र की परम्परा में अन्य आचार्यों के काव्य-प्रयोजन पर भी विचार-विमर्श किया गया है।

काव्य प्रयोजन के उपरान्त काव्य-लक्षण की पूर्वपीठिका रची गई है, जिसमें क्रमशः मम्मट के काव्य-लक्षण का खण्डन, आचार्य कुन्तक के काव्य-लक्षण का खण्डन, आचार्य भोजदेव के काव्य-लक्षण का खण्डन, आचार्य आनन्दवर्धन के काव्य-लक्षण का खण्डन, आचार्य वामन के काव्य-लक्षण का खण्डन, प्रस्तुत किया गया है, तदनु अपना लक्षण प्रस्तुत किया है– **वाक्यं रसात्मकं काव्यम्।** अर्थात् रस से युक्त वाक्य ही काव्य कहलाता है। इसी के अन्तर्गत रस, भाव, रसाभाव तथा भावाभास आदि के उदाहरणों को समझाया गया है।

6.5 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. साहित्यदर्पण– व्याख्याकार– डॉ. सत्यव्रत सिंह, चौखम्बा विद्या भवन वाराणसी, दशम संस्करण, 1997।
2. साहित्यदर्पण– लक्ष्मी टीका से युक्त, आचार्य कृष्णमोहन शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, चतुर्थ संस्कारण,1985।
3. काव्यप्रकाश– आचार्य विश्वेश्वर, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, संशोधित संस्करण, 2005।
4. आधुनिक संस्कृत काव्यशास्त्र– डॉ. आनन्द कुमार श्रीवास्तव, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली 1990।

6.6 अभ्यास प्रश्न

1. साहित्यर्पण के अनुसार काव्य के प्रयोजन को स्पष्ट रूप से प्रतिपादित कीजिए।
2. धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष की प्राप्ति काव्य से कैसे सम्भव है? इस सन्दर्भ में कविराज विश्वनाथ के मत को लिखिए।
3. आचार्य मम्मट के काव्य-लक्षण में ''सगुणौ'' पद के खण्डन को विस्तारपूर्वक लिखिए।
4. आचार्य विश्वनाथ कृत आचार्य आनन्दवर्धन के काव्य-लक्षण का खण्डन कीजिए।
5. आचार्य विश्वनाथ के काव्य-लक्षण को विस्तार से प्रतिपादित कीजिए।

इकाई 7 वाक्य व तद्भेद, पद एवं शब्द-व्यापार

इकाई की रूपरेखा

7.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप–

- वाक्य, महावाक्य से परिचित होंगे।
- संकेतग्रह के विषय में ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।
- अभिधा शक्ति को भली-भाँति समझ सकेंगे।
- लक्षणा एवं व्यञ्जना शक्ति को भली-भाँति समझ सकेंगे।

7.1 प्रस्तावना

विश्वनाथ 'कविराज' ने साहित्यदर्पण के प्रथम परिच्छेद में काव्य का लक्षण **'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'** निर्धारित किया है। इस दृष्टि से लक्षणोक्त 'वाक्य' किसे कहते हैं? यह विचारणीय है, अतः विश्वनाथ 'कविराज' ग्रन्थ के द्वितीय परिच्छेद के प्रारम्भ में ही वाक्य का निरूपण करते हैं। विश्वनाथ 'कविराज' रसात्मक वाक्य को काव्य कहते हैं, अतः रसात्मकता क्या है? इसे जानने के लिए अर्थ और अर्थ की उद्भाविका शक्तियों का निरूपण करना आवश्यक

था, इस दृष्टि से विश्वनाथ 'कविराज' ने अर्थ के तीन भेद किये हैं– वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्ग्य। इन तीन अर्थों की बोधिकाशक्ति के नाम क्रमशः अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना हैं। प्रस्तुत इकाई के माध्यम से आप इन्हीं महत्त्वपूर्ण विषयों का अध्ययन करेंगे।

7.2 वाक्य व तद्भेद

विश्वनाथ 'कविराज' वाक्य को दो भेदों में विभाजित करते हैं 01 वाक्य 02 महावाक्य ।

7.2.1 वाक्य एवं महावाक्य का स्वरूप

वाक्यस्वरूपमाह–

वाक्यं स्याद् योग्यताकाङ्क्षासत्तियुक्तः पदोच्चयः।

वाक्य का स्वरूप का निरूपण किया जा रहा है–

योग्यता, आकाङ्क्षा और आसत्ति से युक्त पदों के समूह को वाक्य कहा जाता है।

वाक्य के उक्त लक्षण में कतिपय पारिभाषिक पदों का प्रयोग किया गया है, जिन्हें समझने के बाद ही वाक्य के स्वरूप का ठीक से बोध सकता है, अतः विश्वनाथ 'कविराज' उन पदों की व्याख्या करते हैं–

योग्यता पदार्थानां परस्परसंबन्धे बाधाभावः । पदोच्चयस्यैतदभावेऽपि वाक्यत्वे 'वह्निना सिञ्चति' इत्याद्यपि वाक्यं स्यात्। आकाङ्क्षा प्रतीतिपर्यवसानविरहः। स च श्रोतुर्जिज्ञासारूपः। निराकाङ्क्षस्य वाक्यत्वे 'गौरश्वः पुरुषो हस्ती' इत्यादीनामपि वाक्यत्वं स्यात्। आसत्तिर्बुद्ध्याविच्छेदः। बुद्धिविच्छेदेऽपि वाक्यत्वे इदानीमुच्चारितस्य देवदत्तशब्दस्य दिनान्तरोच्चारितेन गच्छतीति पदेन सङ्गतिः स्यात्। अत्राकाङ्क्षायोग्यतयोरात्ममार्थधर्मत्वेऽपि पदोच्चयधर्मत्वमुपचारात् ।

पदों के अर्थों में जो पारस्परिक सम्बन्ध है उसमें बाधा का अभाव होना योग्यता कहा जाता है। यदि लक्षण में 'योग्यता' पद का निवेश किये बिना केवल 'पदों के समूह' को 'वाक्य'कहा जाता तब 'वह्निना सिञ्चति' अर्थात् अग्नि से सिंचाई कर रहा है– को भी वाक्य कहा जाता, किन्तु यह वाक्य नहीं है कारण अग्नि में सिंचाई करने की योग्यता नहीं है। 'आकाङ्क्षा' कहते हैं प्रतीति की समाप्ति के अभाव को। आकाङ्क्षा श्रोता की जिज्ञासा का नाम है। यदि वाक्य के लक्षण में 'आकाङ्क्षा' पद का सन्निवेश नहीं होता तब जिस पदसमूह में श्रोता की जिज्ञासा नहीं होगी उसे भी वाक्य कहना पड़ता, जैसे– 'गौः अश्वः पुरुष, हस्ती' इत्यादि पदसमूह को वाक्य मानना पड़ता किन्तु यह पदसमूह वाक्य नहीं हो सकता क्योंकि इसमें परस्पर असबम्द्ध पदों का समूह है, अतः ऐसे पदसमूह में श्रोता की जिज्ञासा नहीं होती है। बुद्धि के अविच्छेद को 'आसत्ति' कहा जाता है। यदि वाक्यलक्षण में 'आसत्ति' पद का सन्निवेश नहीं होता तब एक 'देवदत्त' पद के उच्चारण के अगले दिन 'गच्छति' पद के उच्चारण होने की स्थिति में उत्पन्न होने वाला पदसमूह भी वाक्य की कोटि में आने लगेगा।

ऊपर वाक्य के स्वरूप का निरूपण करने के पश्चात् महावाक्य के स्वरूप का निरूपण किया जा रहा है–

वाक्योच्चयो महावाक्यम्–

अनेक वाक्यों के समूह को 'महावाक्य' कहा जाता है।

योग्यताकाङ्क्षासत्तियुक्त इत्येव।

महावाक्य में भी आकाङ्क्षा, योग्यता, आसत्ति का होना आवश्यक है।

7.2.2 वाक्य के भेद

इत्थं वाक्यं द्विधा मतम्।।1।।

इत्थमिति वाक्यत्वेन महावाक्यत्वेन च।

इस प्रकार वाक्य और महावाक्य भेद से वाक्य दो प्रकार का होता है। जैसा कि तन्त्रवार्तिक में कहा गया है–

उक्तं च तन्त्रवार्तिके–

स्वार्थबोधसमाप्तानामङ्गाङ्गित्वव्यपेक्षया।

वाक्यानामेकवाक्यत्वं पुनः संहत्य जायते।। इति।

अपने-अपने अर्थ में पर्यवसित होने वाले वाक्य, पारस्परिक अंग एवं अंगी के सम्बन्धों से युक्त होकर पुनः मिलकर महावाक्यता को प्राप्त कर लेते हैं।

तत्र वाक्यं यथा– 'शून्यं वासगृहम्'– इत्यादि। महावाक्यं यथा– रामायण-महाभारत-रघुवंशादि।

इसमें वाक्य का उदाहरण 'शून्यं वासगृहम्' पद्य है तथा महावाक्य का उदाहरण– रामायण, महाभारत आदि ग्रन्थ हैं। भाव यह है कि पद समूह के माध्यम से संक्षिप्त आशय का प्रकाशन किया जाता है जिसे वाक्य कहा जाता है। अनेक संक्षिप्त आशयों को व्यक्त करने वाले वाक्यों के समूह द्वारा जब किसी उद्देश्यभूत-प्रबन्ध जैसे– महाकाव्य, खण्डकाव्य, नाटक आदि की रचना सम्पन्न की जाती है तो तारतम्य की दृष्टि से उस प्रबन्ध का (वाक्यसमूह द्वारा उपस्थापित) समस्त अर्थ जुड़कर एकमय हो जाता है अतः वह महावाक्य कहा जाता है।

7.3 पद विचार

वाक्य के स्वरूप का निरूपण करने के पश्चात् विश्वनाथ कविराज वाक्य लक्षण में समाविष्ट पद के लक्षण का विचार करते हैं।

7.3.1 पद लक्षण

पदोच्चयो वाक्यमित्युक्तम्।

अर्थात् पद के समूह को वाक्य कहा जाता है– यह जो कहा गया है तो जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि पद किसे कहा जाता है? इसलिए उक्त जिज्ञासा के शमनार्थ विश्वनाथ कविराज पद के लक्षण का निरूपण करते हैं–

तत्र किं पदलक्षणमित्यत आह–

वर्णाः पदं प्रयोगार्हानन्वितैकार्थबोधकाः।

यथा– घटः। प्रयोगार्हेति प्रातिपदिकस्य व्यवच्छेदः। अनन्वितेति वाक्यमहावाक्ययोः। एकेति साकाङ्क्षानेकपदवाक्यानाम्। अर्थबोधका इति कचटतपेत्यादीनाम्। वर्णा इति बहुवचनमविवक्षितम्।

जो वर्ण, प्रयोग करने के योग्य हो किसी अन्य पद से जुड़ा न हो तथा एकमात्र अर्थ का बोधक हो ऐसे वर्णध्वर्णों को पद कहा जाता है।

जैसे 'घटः'। पदलक्षण में प्रयुक्त 'प्रयोगार्ह' इस विशेषण का तात्पर्य पद को विभक्तिरहित वर्णसमूहरूप प्रातिपदिकों से पृथक् करना है क्योंकि सुप्-तिङ्-प्रत्ययों से युक्त पद ही प्रयोगार्ह होते हैं। सुबादि प्रत्यय लगा हो या न लगा हो किन्तु अर्थवत्ता होने के कारण वर्णसमूह को प्रातिपदिक कहा जा सकता है, किन्तु विभक्तिरहित प्रातिपदिक प्रयोग के योग्य नहीं होता, अब यदि लक्षण में 'प्रयोगार्ह' न कहा जाता तो सुबादिविभक्ति रहित वर्णसमुदाय भी पद कहलाने लगता, अतः इस स्थिति का परिहार करने के लिए लक्षण में 'प्रयोगार्ह' पद का निवेश किया गया, जिससे फलितार्थ यह निकलता है कि सुबादि प्रत्यय युक्त वर्णसमुदाय ही पद होते हैं। इसके बाद पदलक्षण में 'अनन्वित' विशेषण के निवेश का फल दिखाया जा रहा है। यदि लक्षण में 'अनन्वित' पद का प्रयोग न होता तो पदलक्षण की व्याप्ति वाक्य और महावाक्य में होने लगती, क्योंकि वाक्य, महावाक्य में क्रमशः अनेक पद और अनेक वाक्य परस्पर मिले रहते हैं और मिलकर ही अर्थ बोधक होते हैं, अतः पद के लक्षण को वाक्य और महावाक्य न समझ लिया जाये इसलिए 'अनन्वित' पद का निवेश किया गया जिससे उसके किसी से जुड़े रहने की स्थिति का निराकरण किया गया। 'एक' कहने से साकांक्ष अनेक पदों तथा वाक्यों का व्यवच्छेद हो जाता है। 'अर्थबोधकाः' पद के निवेश से निरर्थक पदों का व्यच्छेद हो जाता है अर्थात् 'क' 'च' 'ट' 'त' 'प' जैसे निरर्थक वर्णों को पद न कहा जाने लगे, इसलिए 'अर्थबोधकाः' पद का निवेश किया गया।

लक्षण में 'वर्णाः' में जो बहुवचन प्रयोग है वह अविवक्षित है अर्थात् कहीं अनेक वर्णों का पद हो सकता है तो कहीं एक वर्ण भी पद बन सकता है इसी प्रकार कहीं दो वर्ण से भी पद हो सकता है जैसे– 'गौः' गाय, 'गृहम्' घर।

7.3.2 अर्थ एवं अर्थभेद

पद की विस्तृत चर्चा के बाद विश्वनाथ 'कविराज' अर्थों का विभाजन करते हैं–

अर्थो वाच्यश्च लक्ष्यश्च व्यङ्ग्यश्चेति त्रिधा मतः।।2।।

अर्थात् वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्ग्य के भेद से अर्थ तीन प्रकार का होता है।

एषां स्वरूपमाह–

वाच्योऽर्थोऽभिधया बोध्यो लक्ष्यो लक्षणया मतः।

व्यङ्ग्यो व्यञ्जनया ताः स्युस्तिस्रः शब्दस्य शक्तयः।।3।।

उक्त तीन प्रकार के अर्थों में वाच्यार्थ का बोध अभिधा शक्ति से होता है, लक्ष्यार्थ का बोध लक्षणा शक्ति से होता है तथा व्यङ्ग्यार्थ का बोध व्यञ्जना शक्ति से होता है। इसलिए शब्द की तीन शक्तियाँ हैं।

ता अभिधाद्याः ।

कारिका में 'ताः' पद से अभिधा आदि तीनों शक्तियों का बोध होता है।

7.3.3 अभिधा शक्ति निरूपण

तत्र संकेतितार्थस्य बोधनादग्रिमाभिधा।

उनमें (शब्द की अभिधा आदि तीनों शक्तियों में) संकेतित अर्थ का बोध कराने वाली प्रथम शक्ति का नाम अभिधा है।

उत्तमवृद्धेन मध्यमवृद्धमुद्दिश्य 'गामानय' इत्युक्ते तं गवानयनप्रवृत्तमुपलभ्य बालोऽस्य वाक्यस्य 'सास्नादिमत्पिण्डानयनमर्थः' इति प्रथमं प्रतिपद्यते, अनन्तरं च 'गां बधान' 'अश्वमानय' इत्यादावावापोद्वापाभ्यां गोशब्दस्य 'सास्नादिमानर्थः' आनयनपदस्य च 'आहरणमर्थः' इति संकेतमवधारयति। क्वचिच्च प्रसिद्धपदसमभिव्याहारात्, यथा– 'इह प्रभिन्नकमलोदरे मधूनि मधुकरः पिबति' इत्यत्र। क्वचिदाप्तोपदेशात्, यथा– 'अयमश्वशब्दवाच्यः' इत्यत्र। तं च सङ्केतितमर्थं बोधयन्ती शब्दस्य शक्त्यन्तरानन्तरिता शक्तिरभिधा नाम।

उत्तम वृद्ध के द्वारा मध्यमवृद्ध (सेवक) को 'गामानय' (गाय लाओ) कहने पर सेवक को गाय लाता हुआ बालक देखता है तब वह बालक उन दोनों (गाम्, आनय) पदों का अक्रमिकरूप में सास्नादिमान् कोई आकृतिविशेष तथा आनयन रूप अर्थ बुद्धि में रखता है अर्थात् 'गामानय' इस वाक्य को सुनकर वह यह नहीं जानता कि इन दोनों पदों में कौन सा पद गाय का वाचक है और कौन सा आनयनरूप क्रिया का, इसके बाद उत्तमवृद्ध के द्वारा 'गां बधान' (गाय बाँधो) 'अश्वमानय' (घोड़ा लाओ) को जब सुनता है और सेवक को वैसा आचरण करते हुए देखता है तब वह शब्दों के इस आवापोद्वापक्रिया (रखना, हटाना) से जान जाता है कि किस पद का कौन सा अर्थ है, अर्थात् शब्दों के आवापोद्वाप-क्रिया से वह समझ जाता है कि 'गाम्' पद का सास्नादिमान् अर्थ है और 'आनयन' का आहरण (लाना) अर्थ है।

कहीं-कहीं प्रसिद्ध पद के सान्निध्य में आये अज्ञातार्थक पद का भी अर्थबोध हो जाता है जैसे 'इह प्रभिन्नकमलोदरे मधूनि मधुकरः पिबति' (इस खिले हुए कमल के भीतर भौंरा मधुपान कर रहा है) पद में 'मधुकरः' पद का अर्थ अज्ञात है, किन्तु इस पद का प्रयोग लोकप्रसिद्ध 'कमल' पद के साथ है अतः 'मधुकरः' पद का अर्थ ज्ञात हो जाता है।

कहीं आप्त (श्रेष्ठ ऋषि) वचनों से भी संकेतग्रह होता है जैसे 'अयमश्वशब्दवाच्यः', (इस प्राणी को घोड़ा शब्द से जाना जाये)।

इस प्रकार संकेतित अर्थ का बोध कराने वाली शक्ति का नाम अभिधा है।

अब संकेत का क्षेत्र क्या-क्या है? ऐसी जिज्ञासा उत्पन्न होती है जिसकी पूर्ति में विश्वनाथ 'कविराज' कहते हैं–

सङ्केतो गृह्यते जातौ गुणद्रव्यक्रियासु च।।4।।

संकेतग्रह जाति, गुण, द्रव्य और क्रिया में होता है।

जातिर्गोपिण्डादिषु गोत्वादिका। गुणो विशेषाधानहेतुः सिद्धो वस्तुधर्मः। शुक्लादयो हि गवादिकं सजातीयेभ्यः कृष्णगवादिभ्यो व्यावर्तयन्ति। द्रव्यशब्दा एकव्यक्तिवाचिनो हरिहरडित्थडवित्थादयः। क्रियाः साध्यरूपा वस्तुधर्माः पाकादयः। एषु हि अधिश्रयणावश्रयणान्तादिपूर्वापरीभूतो व्यापारकलापः पाकादिशब्दवाच्यः। एष्वेव हि व्यक्तेरुपाधिषु संकेतो गृह्यते, न व्यक्तौ, आनन्त्यव्यभिचारदोषापातात्।

जाति गोपिण्ड में रहने वाले गोत्व सामान्य को कहते हैं। पूर्व से ही सिद्ध वस्तुधर्म को गुण कहा जाता है जो किसी वस्तु को समानाकार उसे अन्य वस्तु से पृथक् करता है। जैसे शुक्ल आदि गुण सजातीय कृष्णगुण वाली गाय को अलग कर देते हैं, अर्थात् गोत्वेन सभी गायें समान हैं किन्तु जब हम विविध गुण-वाली गायों की उपस्थिति में 'शुक्ला गौः' पद प्रयोग करते हैं तब वह कृष्ण आदि गुणों वाली समस्त गायों से अलग हो जाती है। द्रव्य शब्द एक व्यक्ति के वाचक होते हैं जैसे– हरि, हर, डित्थ, डवित्थ आदि। साध्यरूप वस्तु के धर्मों को क्रिया कहा जाता है। इसमें अधिश्रयण (पकाने के लिए पात्रविशेष को चूल्हे पर चढ़ाने) से लेकर अवश्रयण (पात्र विशेष को चूल्हे से उतारने) तक जितने भी अवान्तर व्यापार हैं उसे 'पाक' शब्द से बोधित किया जाता है। व्यक्ति के इन्हीं चारों उपाधियों अर्थात् जाति, गुण, द्रव्य और क्रिया में संकेतग्रह किया जाता है केवल व्यक्ति में संकेतग्रह नहीं किया जा सकता अन्यथा आनत्य और व्यभिचार दोष उपस्थित होंगे।

आनन्त्य और व्यभिचार दोष

संकेतग्रह किसमें होता है? इस विषय में भिन्न-भिन्न शास्त्र में विचार किया गया है किन्तु विश्वनाथ 'कविराज' ने व्याकरणशास्त्र के अनुसार ही संकेतग्रह के विषय का निरूपण किया है। ऊपर कहा गया है कि व्यक्ति में संकेतग्रह मानने से आनन्त्य तथा व्यभिचार दोष उत्पन्न होंगे, अब जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि व्यक्ति में संकेतग्रह मानने में आनन्त्य और व्यभिचार दोष कैसे उत्पन्न होंगे? अतः इस प्रसंग को ठीक से समझ लेना आवश्यक है। वस्तुतः जिस अर्थ का बोध कराने के लिए जिस शब्द का ग्रहण किया जाता है, वह शब्द उसी अर्थ का वाचक माना जाता है। सामान्यरूप से संकेतग्रह व्यक्ति (द्रव्य) में ही होना चाहिए है, क्योंकि लोकव्यवहार में व्यक्ति ही प्रवृत्तिनिमित्त (किसी कार्य को करने का कारण) होता है, किन्तु केवल व्यक्ति में संकेतग्रह मानने में आनन्त्यदोष होगा क्योंकि यदि व्यक्ति में संकेतग्रह मानेंगे तो जिस पद से जिस व्यक्ति में संकेतग्रह हुआ है उस पद से केवल उसी व्यक्ति की उपस्थिति होगी, फिर तो भिन्न-भिन्न व्यक्तियों का बोध कराने के लिए भिन्न-भिन्न संकेतग्रह करना पड़ेगा अतः अनन्त शक्तियों की कल्पना होगी यही आनन्त्य दोष होगा। इस विषय को दूसरे प्रकार से भी समझा जा सकता है जैसे किसी वृद्ध ने बालक से कहा कि– 'अयं गोः पदवाच्यः' अर्थात् यह दृश्यमान आकृतिविशेष 'गौः' पद वाच्य हो, अब यदि 'गौः' पद का संकेतग्रह केवल उस आकृतिविशेष पशु-व्यक्ति में हुआ तब तो उस 'गौः' पद से केवल उसी गोव्यक्ति की उपस्थिति होगी जिसका संकेतग्रह किया गया है, न कि अन्य यहाँ-वहाँ विद्यमान

तथा भूत, भविष्य, वर्तमान की समस्त गौवों का, अतः केवल व्यक्ति में संकेतग्रह मानने पर आनन्त्यदोष उपस्थित होगा।

उक्त आनन्त्यदोष से बचने के लिए यदि यह कहा जाय कि एक ही गो-आदि-व्यक्ति में संकेतग्रह करने के बाद समस्त गो-आदि-व्यक्तियों का बोध भी उसी शब्द से कर लिया जाये, तो यह भी उचित नहीं, कारण जब अन्य व्यक्तियों में संकेतग्रह हुआ ही नहीं तो उन व्यक्तियों की उपस्थिति उस शब्द से कैसे होगी? अर्थात् उन व्यक्तियों की वाचकता उस शब्द में नहीं होगी यही है व्यभिचार दोष, नियम के उल्लंघन को व्यभिचार कहते हैं। जिस शब्द में जिस अर्थ का संकेत होता है उस शब्द से उसी अर्थ का बोध होता है, यह है नियम किन्तु व्यक्तिविशेष में किये गये संकेतग्रह से भूत, भविष्य, वर्तमान तथा दूसरे स्थान पर रह रहे समस्त गो-आदि-व्यक्तियों का बोध कराना व्यभिचारदोष है।

7.3.4 लक्षणा शक्ति निरूपण

अथ लक्षणा–

मुख्यार्थबाधे तद्युक्तो ययान्योऽर्थः प्रतीयते।

रूढेः प्रयोजनाद्वासौ लक्षणा शक्तिरर्पिता।।5।।

मुख्यार्थ का बाध होने पर, मुख्यार्थ के साथ (सामीप्यादि संयोग से) युक्त होने पर और रूढि अथवा प्रयोजन के होने पर लक्षणाशक्ति होती है यह अर्पित अर्थात् आरोपित शक्ति होती है, (अर्थात् अर्थविशेष का वाचक होने वाले शब्द में दूसरे अर्थ को अर्पित कर दिया जाता है)। लक्षणा अभिधा की तरह स्वाभाविक शक्ति नहीं होती।

'कलिङ्गः साहसिकः' इत्यादौ कलिङ्गादिशब्दो देशविशेषादिरूपे स्वार्थेऽसंभवन् यया शब्दशक्त्या स्वसंयुक्तान् पुरुषादीन् प्रत्याययति, यया च 'गङ्गायां घोषः' इत्यादौ गङ्गादिशब्दो जलमयादिरूपार्थवाचकत्वात् प्रकृतेऽसंभवन् स्वस्य सामीप्यादिसंबन्धसंबन्धिनं तटादिं बोधयति, सा शब्दस्यार्पिता स्वाभाविकेतरा ईश्वरानुद्भाविता वा शक्तिर्लक्षणा नाम। पूर्वत्र हेतू रूढिः प्रसिद्धिरेव। उत्तरत्र 'गङ्गातटे घोषः' इति प्रतिपादनालभ्यस्य शीतत्वपावनत्वातिशयस्य बोधनरूपं प्रयोजनम्। हेतुं विनापि यस्य कस्यचित् संबन्धिनो लक्षणेऽतिप्रसंगः स्यात्, इत्युक्तम्– रूढेः प्रयोजनाद्वासौ इति।

कलिंग साहसी होता है, यहाँ 'कलिंगः' पद देशविशेष का वाचक है तथा 'साहसिकः' पद दुष्कर कर्म करने वाले अर्थ का वाचक है, किन्तु कलिंग जो कि देशविशेष का वाचक होने से अचेतन है उसका साहसी होना असम्भव है, क्योंकि साहसत्व चेतनवस्तु का धर्म है। इस स्थिति में जिस शब्द-शक्ति से 'कलिंग' शब्द अपने से संयुक्त पुरुषों का बोध कराकर 'कलिंगः पुरुषः साहसिकः' इत्याकारक अर्थ को उपस्थित करता है, इसी प्रकार 'गङ्गायां घोषः' (गंगा में झोपड़ी/कुटी) उदाहरण में जलप्रवाह का वाचक 'गङ्गा' पद जिस शब्दशक्ति से अपने मुख्यार्थ (जलप्रवाह) से संयुक्त 'तट' अर्थ को प्रस्तुत करता है वह शब्द की अर्पित और स्वाभाविक अभिधा शक्ति से इतर ईश्वर से अनुद्भावित लक्षणा शक्ति है। पूर्व के (कलिंगः साहसिकः) उदाहरण में तृतीय हेतु के रूप में रूढि है और दूसरे (गङ्गायां घोषः) उदाहरण

में (तट में शैत्यपावनत्वरूप) प्रयोजन हेतु है। यदि 'गङ्गायास्तटे घोषः' यह वाक्य कहा जाता तो तट में शैत्यपावनत्व की प्रतीति नहीं हो पाती किन्तु 'गङ्गायां घोषः' के प्रयोग से तट और प्रयोजन के रूप में शैत्यपावनत्व की उपस्थिति होती है। रूढि और प्रयोजनरूप हेतु के बिना भी लक्षणा न होने लगे अतः लक्षण में रूढि और प्रयोजनरूप हेतु का होना कहा गया है।

केचित्तु 'कर्मणि कुशलः' इति रूढावुदाहरन्ति। तेषामयमभिप्रायः— कुशाँल्लातीति व्युत्पत्तिलभ्यः कुशग्राहिरूपो मुख्योऽर्थः प्रकृतेऽसंभवन् विवेचकत्वादिसाधर्म्यसम्बन्धसम्बन्धिनं दक्षरूपमर्थं बोधयति। तदन्ये न मन्यन्ते। कुशग्राहिरूपार्थस्य व्युत्पत्तिलभ्यत्वेऽपि दक्षरूपस्यैव मुख्यार्थत्वात्। अन्यद्धि शब्दानां व्युत्पत्तिनिमित्तमन्यच्च प्रवृत्तिनिमित्तम्। व्युत्पत्तिलभ्यस्य मुख्यार्थत्वे 'गौः शेते' इत्यत्रापि लक्षणा स्यात्। 'गमेर्डोः' (उणादि— 2/67) इति गमधातोर्डोप्रत्ययेन व्युत्पादितस्य गोशब्दस्य शयनकालेऽप्रयोगात्।

कुछ विचारक 'कर्मणि कुशलः' को रूढि लक्षणा का उदाहरण मानते हैं। कतिपय मम्मट आदि आचार्यों ने कर्मणि कुशलः को रूढि लक्षणा का उदाहरण माना है क्योंकि उनके मत में 'कुशान् लातीति कुशलः' जो व्युत्पत्ति से लभ्य अर्थ है उसका मुख्य अर्थ— कुश को लाने वाला है किन्तु उदाहरणोक्त 'कुशल' पद का प्रयोग वीणा बजाने में जो निपुण है उसके लिए किया गया है, अब वीणा बजाने वाला कुशल कैसे हो सकता है? क्योंकि वह कुश को उखाड़कर नहीं लाता, अतः मुख्यार्थ का बाध हो गया, इसके बाद विवेचकत्वादि साधर्म्यरूप लक्षणा के द्वितीय हेतु से दक्ष अर्थ लक्षित होता है, परम्परावश कुशल पद का दक्ष अर्थ में प्रयोग होने लगा अतः यह पद निपुण अर्थ में रूढ़ हो गया जिससे यह रूढि लक्षणा का उदाहरण है।

परन्तु कतिपय आचार्यों के मत में 'कर्मणि कुशलः' लक्षणा का उदाहरण होने योग्य नहीं है क्योंकि व्युत्पत्ति से लभ्य कुश लाने वाला मुख्यार्थ होने पर भी दक्ष अर्थ ही मुख्यार्थ है, क्योंकि शब्दों का व्युत्पत्तिनिमित्त कुछ और होता है और प्रवृत्तिनिमित्त अर्थात् प्रयोगकारण कुछ और होता है, इसी तरह भले ही यहाँ कुशल पद से व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ कुश लाने वाला हो पर प्रवृत्तिनिमित्त द्वारा इसका दक्ष रूप अर्थ ही मुख्य है अतः लक्षणा नहीं होगी। यदि तो भी यहाँ लक्षणा मानेंगे फिर तो 'गौः शेते' (गाय सो रही है) वाक्य में भी लक्षणा माननी होगी क्योंकि 'गोः' शब्द का अर्थ 'गमर्डोः' पाणिनि सूत्र से अर्थात् 'गम्' धातु से 'डो' प्रत्यय करने पर 'गो' शब्द व्युत्पन्न होता है जिसका अर्थ 'गच्छतीति गौः' अर्थात् जो संचरणशील है वह गो-पद-वाच्य है, अब संचरणशील गाय के लिए 'शेते' अर्थात् सोना (स्थिर हो जाना) कैसे सम्भव है अतः यहाँ भी लक्षणा माननी पड़ेगी जो कि उचित नहीं है।

तद्भेदानाह—

मुख्यार्थस्येतराक्षेपो वाक्यार्थेऽन्वयसिद्धये।

स्यादात्मनोऽप्युपादानादेषोपादानलक्षणा।।6।।

अब लक्षणा के भेदों को बताया जा रहा है—

जब वाक्यार्थ में अपने अन्वय की सिद्धि के लिए मुख्यार्थ अन्य अर्थ का आक्षेप (ग्रहण) कर लेता है तब अपने अर्थ का भी अस्तित्व बने रहने के कारण इसे उपादान लक्षणा कहते हैं।

रूढावुपादानलक्षणा यथा– 'श्वेतो धावति'। प्रयोजने यथा– 'कुन्ताः प्रविशन्ति'। अनयोर्हि श्वेतादिभिः कुन्तादिभिश्चाचेतनतया केवलैर्धावनप्रवेशनक्रिययोः कर्तृतयान्वयमलभमानैरेतत्सिद्धये आत्मसम्बन्धिनोऽश्वादयः पुरुषादयश्चाक्षिप्यन्ते। पूर्वत्र प्रयोजनाभावाद् रूढिः, उत्तरत्र तु कुन्तादीनामतिगहनत्वं प्रयोजनम्। अत्र च मुख्यार्थस्यात्मनोऽप्युपादानम्। लक्षणलक्षणायां तु परस्यैवोपलक्षणमित्यनयोर्भेदः। इयमेवाजहत्स्वार्थेत्युच्यते।

रूढि उपादानलक्षणा का उदाहरण है– 'श्वेतो धावति' (अर्थात् श्वेतगुण दौड़ रहा है) तथा प्रयोजनवती उपादानलक्षणा का उदाहरण है– 'कुन्ताः प्रविशन्ति' (भाले प्रवेश कर रहे हैं)। इन दोनों उदाहरणों में धावनक्रिया और प्रवेशनक्रिया का अन्वय श्वेतगुण तथा भाले में अनुपपन्न है, अर्थात् श्वेतगुण और भाले अचेतन हैं, धावन और प्रवेशनक्रियाओं का अन्वय इन अचेतन कर्ताओं में सर्वथा अनुपपन्न है, इसलिए ये अपने से सम्बन्धी 'अश्व' और 'पुरुष' का आक्षेप करते हैं, अर्थात् श्वेतः अपने समवायसम्बन्ध से अश्व (श्वेतगुणविशिष्ट अश्व का) तथा कुन्त स्वसंयोगी सम्बन्ध से अपने से संयुक्त (कुन्त धारक पुरुष) रूप अर्थ का आक्षेप करते हैं। पूर्व के उदाहरण में प्रयोजन का अभाव होने से रूढि उपादानलक्षणा है तथा दूसरे उदाहरण में भालों की अतिगहनता रूप प्रयोजन हेतु के होने से प्रयोजनवती उपादानलक्षणा है।

उपादानलक्षणा में उपने अर्थ की उपस्थितिपूर्वक दूसरे अर्थ का आक्षेप किया जाता है तथा लक्षणलक्षणा में शब्द अपने मुख्यार्थ का पूर्णतः परित्याग कर दूसरे अर्थ को लक्षित करता है, यही दोनों लक्षणा प्रकारों में अन्तर है। उपादानलक्षणा को (दर्शनशास्त्र) में अजहत्स्वार्था कहा जाता है।

अर्पणं स्वस्य वाक्यार्थे परस्यान्वयसिद्धये।

उपलक्षणहेतुत्वादेषा लक्षणलक्षणा।।7।।

वाक्य में पर अर्थात् दूसरे अर्थ की सिद्धि के लिए जब कोई शब्द अपने मुख्यार्थ का समर्पण कर अन्य अर्थ (जो वस्तुतः उसके वाचक शब्द का अर्थ था उस–) को लक्षित करे तो वह दूसरे अर्थ का उपलक्षक बन जाने के कारण लक्षणलक्षणा होती है।

रूढिप्रयोजनयोर्लक्षणलक्षणा यथा– 'कलिङ्गः साहसिकः', 'गङ्गायां घोषः' इति च। अनयोर्हि पुरुषतटयोर्वाक्यार्थेऽन्वयसिद्धये कलिङ्गगङ्गाशब्दावात्मानमर्पयतः।

रूढिमती लक्षणलक्षणा तथा प्रयोजनवती लक्षणलक्षणा के क्रमशः उदाहरण हैं– 'कलिङ्गः साहसिकः' (कलिंग देशविशेष साहसी है), तथा 'गङ्गायां घोषः' (गंगा में कुटी)। इन दोनों उदाहरणों में साहसी और घोष रूपी अर्थों की सिद्धि के लिए 'कलिंग' पद ने अपने 'देशविशेष (निर्जीव) भूखण्ड' रूप अर्थ को सर्वथा समर्पित कर पुरुषरूप अर्थ का बोध कराता है तथा 'गङ्गा' पद 'घोष' की सिद्धि करने के लिए अपने मुख्यार्थ जलप्रवाह का सर्वथा अर्पण कर तट रूप अर्थ का बोध करा रहा है।

प्रयोजनवती लक्षणलक्षणा का विश्वनाथ 'कविराज' एक अन्य उदाहरण देते हुए कहते हैं–

यथा वा–

उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते सुजनता प्रथिता भवता परम्।

विदधदीदृशमेव सदा सखे ! सुखितमास्स्व ततः शरदां शतम्।।

भावार्थ– तुमने बहुत उपकार किया है, और तुम्हारे द्वारा (मेरे प्रति) सौजन्य दिखाया गया है, इसी तरह का आचरण करते हुए तुम हजारों वर्ष सुख प्राप्त करते रहो।

अत्रापकारादीनां वाक्यार्थेऽन्वयसिद्धये उपकृतादयः शब्दा आत्मानमर्पयन्ति। अपकारिणं प्रत्युपकारादिप्रतिपादनान्मुख्यार्थबाधो वैपरीत्यलक्षणः सम्बन्धः, फलमप्यपकारातिशयः। इयमेव जहत्स्वार्थेत्युच्यते।

यहाँ वाक्यार्थ के रूप में अपकारी के प्रति किया गया उक्त कथन है, किन्तु अपकारी के प्रति वैसा कथन उपयुक्त नहीं है, क्योंकि वैसा कथन केवल उपकारी व्यक्ति के प्रति ही संगत हो सकता है। अतः अपकारी व्यक्ति के प्रति उपकारी-व्यक्ति-सदृश-कथन सर्वथा असम्भव होने के कारण मुख्यार्थ का बाध होता है, इसके बाद वैपरीत्यसम्बन्ध से 'उपकृतम्', 'सुजनता', 'सुखितम्', 'आस्स्व' आदि पद अपने अर्थ का समर्पण करके क्रमशः 'अपकृतम्', 'दुर्जनता', 'दुःखितम्' और 'म्रियस्व' आदि दूसरे अर्थ का बोध करा रहे हैं तथा अपकारादि की अतिशयता यहाँ प्रयोजन है। इसी लक्षणा को जहत्स्वार्था भी कहा जाता है।

आरोपाध्यवसानाभ्यां प्रत्येकं ता अपि द्विधा।

ताः पूर्वोक्ताश्चतुर्भेदलक्षणाः।

इस प्रकार अभी तक लक्षणा के जो चार– 1 रूढिमती उपादानलक्षणा, 2 प्रयोजनवती उपादानलक्षणा, 3 रूढिमती लक्षणलक्षणा, 4 प्रयोजनवती लक्षणलक्षणा भेद बताये गये हैं वे आरोप और अध्यवसान भेद से पुनः दो प्रकार के हो जाते हैं, अर्थात् उक्त चारों लक्षणाभेदों में से प्रत्येक, आरोप और अध्यवसान के कारण दो प्रकार की हो जाती है (जिससे उनके 04×02=08 आठ भेद हो जाते हैं)।

विषयस्यानिगीर्णस्यान्यतादात्म्यप्रतीतिकृत् ।।8।।

सारोपा स्यान्निगीर्णस्य मता साध्यवसानिका।

अनिगीर्ण (अनाच्छादित) विषय (उपमेय) की अन्य (उपमान) के साथ तादात्म्य की प्रतीति कराने वाली (लक्षणा) सारोपा कही जाती है, अर्थात् जहाँ विषय (उपमेय) अपने स्वरूप में विद्यमान रहते हुए अपने से भिन्न विषयी (उपमान) के साथ एकरूप अर्थात् अभिन्न प्रतीत हुआ करता है वह सारोपा लक्षणा कही जाती है। साध्यवसाना लक्षणा वह होती है जिसमें विषयी (उपमान) के द्वारा विषय (उपमेय) का निगरण करके दोनों में अभेदात्मक प्रतीति कराई जाती है, अर्थात् आच्छादित स्वरूप वाले विषय (उपमेय) की विषयी (उपमान) की तादात्म्य अर्थात् अभेद प्रतीति कराने वाली लक्षणा साध्यवसाना कही जाती है।

विषयिणा अनिगीर्णस्य विषयस्य तेनैव सह तादात्म्यप्रतीतिकृत् सारोपा। इयमेव रूपकालङ्कारस्य बीजम्।

विषयी द्वारा जिसका स्वरूप आच्छादित नहीं किया गया है अर्थात् जहाँ (विषयी की तरह) विषय (भी) शब्द से प्रतिपादित है उस विषय का विषयी के साथ तादात्म्य प्रतीति कराने वाली लक्षणा सारोपा है। यही लक्षणा प्रकार रूपकालङ्कार का बीज है।

रूढावुपादानलक्षणा सारोपा यथा– 'अश्वः श्वेतो धावति'। अत्र हि श्वेतगुणवानश्वोऽनिगीर्णस्वरूपः स्वसमवेतगुणतादात्म्येन प्रतीयते।

रूढि उपादान लक्षणा का उदाहरण– 'अश्वः श्वेतो धावति' (सफेद घोड़ा दौड़ रहा है) है। यहाँ 'श्वेत' पद अपने मुख्यार्थ का त्याग किये बिना समवाय-सम्बन्ध से श्वेतगुणवान् अर्थ उपस्थित कर रहा है। यहाँ विषयी 'श्वेत' और विषय 'अश्व' स्वशब्दवाच्य हैं। अश्व रूप द्रव्य और उसमें समवायसम्बन्ध से रहने वाला श्वेत गुण दोनों परस्पर अभिन्न रूप में बताये जा रहे हैं ।

प्रयोजने यथा– एते कुन्ताः प्रविशन्ति। अत्र सर्वनाम्ना कुन्तधारिपुरुषनिर्देशात्।

प्रयोजनवती सारोपा उपादान लक्षणा का उदाहरण 'एते कुन्ताः प्रविशन्ति' (ये भाले प्रवेश कर रहे हैं) है। यहाँ भी विषयी और विषय शब्द से उपात्त हैं। यहाँ 'एते' इस सर्वनाम पद से कुन्तधारी पुरुष (विषय) निर्देश्य है तथा 'कुन्ताः' विषयी भी स्वपदोक्त है। यहाँ भी दोनों में तादात्म्य की प्रतीति हो रही है।

रूढौ लक्षणलक्षणा सारोपा यथा– कलिङ्गः पुरुषो युध्यते। अत्र कलिङ्गपुरुषयोराधाराधेयभावः सम्बन्धः।

रूढि सारोपा लक्षणलक्षणा का उदाहरण जैसे– 'कलिङ्गः पुरुषो युध्यते' (कलिंग पुरुष युद्ध कर रहा है) है। यहाँ विषयी तथा विषय दोनों शब्द से कथित हैं। अचेतन और चेतन का समानाधिकरण्य रूप से अन्वय की अनुपपत्ति होने के कारण मुख्यार्थ का बाध है तथा दोनों में आधाराधेय भाव सम्बन्ध है। कलिंग की वीरता की लोक में प्रसिद्धि है, इस कारण यहाँ रूढि सारोपा लक्षणलक्षणा स्पष्ट है।

प्रयोजने यथा– 'आयुर्घृतम्'। अत्रायुष्कारणमपि घृतं कार्यकारणभावसम्बन्धसम्बन्ध्यायुस्तादात्म्येन प्रतीयते। अन्यवैलक्षण्येनाव्यभिचारेणायुष्करत्वं प्रयोजनम्।

प्रयोजनवती सारोपा लक्षणलक्षणा का उदाहरण 'आयुर्घृतम्' (घृत ही आयु है) यहाँ 'आयु' विषयी है तथा 'घृत' विषय है, दोनों शब्दतः उपात्त हैं अतः सारोपत्व स्पष्ट है। 'आयुः' का अर्थ दीर्घकाल जीवन है, आयु का कारण होने से घृत को आयुः कहा जाता है, अर्थात् आयुः कार्य है घृत कारण है, अतः आयुर्घृतम् में कार्यकारणभावसम्बन्ध है इस कारण आयु से अभिन्न घृत रूप तादात्म्यबोध हो रहा है। घृत में संसार के अन्य पदार्थों की अपेक्षा आयुर्जनकत्व का प्रत्यायन कराना प्रयोजन है।

लक्षणा में अनेक सम्बन्ध हो सकते हैं, पूर्व में आपने लक्षणा के जो उदाहरण पढ़े हैं, उसमें कहीं कार्यकारण भाव सम्बन्ध है तो कहीं समवायसम्बन्ध कहीं आधाराधेयभाव सम्बन्ध। विश्वनाथ 'कविराज' उक्त सम्बन्धों के अतिरिक्त सम्बन्ध की स्थिति में लक्षणा होने का उदाहरण देते हैं–

यथा वा– राजकीये पुरुषे गच्छति 'राजासौ गच्छति' इति। अत्र स्व स्वामिभावलक्षणः सम्बन्धः। यथा वा– अग्रमात्रेऽवयवभागे 'हस्तोऽयम्'। अत्रावयवावयविभावलक्षणसम्बन्धः। 'ब्राह्मणेऽपि तक्षाऽसौ'। अत्र तात्कर्म्यलक्षणः। इन्द्रार्थासु स्थूणासु 'अमी इन्द्राः'। अत्र तादर्थ्यलक्षणः सम्बन्धः। एवमन्यत्रापि। निगीर्णस्य पुनर्विषयस्यान्यतादात्म्यप्रतीतिकृत्साध्यवसाना। अस्याश्चतुर्षु भेदेषु पूर्वोदाहरणान्येव। तदेवमष्टप्रकारा लक्षणा।

किसी राजकीय पुरुष के जाने पर 'राजासौ गच्छति' (यह राजा जा रहा है)। यहाँ राजकीयपुरुष को राजा कहा गया, जबकि वह राजा नहीं है, इस कारण मुख्यार्थ का बाध होता है, इसके बाद 'स्वस्वामिभाव-सम्बन्ध' से राजकीयपुरुष की उपस्थिति होती है, जिसका बोधक 'अदः' पद से बना हुआ 'असौ' पद है, राजा की तरह राजकीयपुरुष में भी हितचिन्तकत्वरूप गुण का होना प्रयोजन है। यहाँ राजा विषयी असौ (पद बोध्य राजकीयपुरुष) विषय है, जो शब्दतः उक्त हैं, अतः यहाँ सारोपा लक्षणा है।

लक्षणा कहीं-कहीं अवयव-अवयवि-भाव-सम्बन्ध से भी होती है जैसे 'हस्तोऽयम्' (यह हाथ है)। यहाँ हाथ के केवल अग्रभाग के लिए 'हस्तोऽयम्' कह दिया गया है जबकि वह विस्तृत हस्तभाग का वाचक है। विस्तृतभाग अवयवी है अग्रभाग अवयव है, अतः मुख्यार्थबाध है, उसके बाद अवयवावयवी रूप सम्बन्ध से अग्रभाग की उपस्थिति होती है, अग्रभाग की विलक्षणता दिखलाना प्रयोजन है।

अन्य का कार्य करने के कारण भी लक्षणा होती है, जैसे कोई ब्राह्मण बढ़ई का कार्य करे तो उसे 'तक्षाऽसौ' कहा जाता है। तक्ष बढ़ई का वाचक है तथा 'असौ' पद से ब्राह्मण निर्दिश्यमान् है। ब्राह्मण बढ़ई नहीं हो सकता अतः मुख्यार्थबाध है, तात्कर्म्यरूप सम्बन्ध से ब्राह्मण में तक्षत्व रूप आरोपित अर्थ की उपस्थिति होती है तथा ब्राह्मण भी तक्ष की तरह शिल्पादि कर्म में निपुण हो सकता है– का प्रतिपादन प्रयोजन है। यहाँ भी विषयी विषय दोनों शब्दतः उक्त हैं।

कहीं तादर्थ्यसम्बन्ध से लक्षणा होती है। जैसे इन्द्र के निमित्त बने हुए यज्ञ के खम्भों को 'अमी इन्द्राः' कह दिया जाता है। यहाँ भी विषयी-विषय क्रमशः 'इन्द्र' और अमी (पद बोध्य) 'स्तम्भ' उपात्त हैं।

इसी प्रकार अन्य सम्बन्धों से भी लक्षणा हो सकती है। जिसे स्वयं ही समझ लेना चाहिए।

निगीर्ण किये गये विषय की अन्य (उपमान) के साथ तादात्म्यप्रतीति कराने वाली लक्षणा को साध्यवसाना कहते हैं। इसके चारों भेदों अर्थात् 1 रूढा साध्यवसाना उपादानवती लक्षणा, 2 प्रयोजनवती साध्यवसाना उपादानवती लक्षणा, 3 रूढा साध्यवसाना लक्षणलक्षणा, 4 प्रयोजनवती साध्यवसाना लक्षणलक्षणा के उदाहरण वही हैं जो पूर्व में दिये जा चुके हैं– 1 श्वेतो धावति, 2 कुन्ताः प्रविशन्ति, 3 कलिङ्गः साहसिकः, 4 गङ्गायां घोषः।

इस प्रकार अब तक लक्षणा के आठ भेद बताये जा चुके हैं जिन्हें सुगमता से समझने के लिए तालिका प्रस्तुत की जा रही है–

लक्षणा के वे चार भेद जा सर्वप्रथम निरूपित किये गये–

1 रूढा उपादानलक्षणा — श्वेतो धावति

2 प्रयोजनवती उपादानलक्षणा — कुन्ताः प्रविशन्ति

3 रूढा लक्षणलक्षणा — कलिङ्गः साहसिकः

4 प्रयोजनवती लक्षणलक्षणा — गङ्गायां घोषः

प्रारम्भिक उक्त चार भेदों को सारोपा और साध्यवसाना भेद से दो भागों में विभक्त करने की स्थिति में लक्षणा–

1 रूढा सारोपा उपादानवती लक्षणा — अश्वः श्वेतो धावति

2 प्रयोजनवती सारोपा उपादानवती लक्षणा — एते कुन्ताः प्रविशन्ति

3 रूढा सारोपा लक्षणलक्षणा — कलिङ्गः पुरुषो युध्यते

4 प्रयोजनवती सारोपा लक्षणलक्षणा — आयुर्घृतम्

5 रूढा साध्यवसाना उपादानवती लक्षणा — श्वेतो धावति

6 प्रयोजनवती साध्यवसाना उपादानवती लक्षणा — कुन्ताः प्रविशन्ति

7 रूढा साध्यवसाना लक्षणलक्षणा — कलिङ्गः साहसिकः

8 प्रयोजनवती साध्यवसाना लक्षणलक्षणा — गङ्गायां घोषः

सादृश्येतरसम्बन्धाः शुद्धास्ताः सकला अपि।

सादृश्यात्तु मता गौण्यस्तेन षोडश भेदिताः।।9।।

उक्त आठ प्रकार की लक्षणायें सादृश्यसम्बन्ध से भिन्न सम्बन्ध वाली हैं अतः वे शुद्धा लक्षणा हैं। सादृश्यसम्बन्ध से जो लक्षणा होती है उसे गौणी लक्षणा कहा जाता है। अतः लक्षणा के सोलह भेद हो जाते हैं।

ताः पूर्वोक्ता अष्टभेदा लक्षणाः। सादृश्येतरसम्बन्धाः कार्यकारणभावादयः। अत्र शुद्धानां पूर्वोदाहरणान्येव। रूढावुपादानलक्षणा सारोपा गौणी यथा– 'एतानि तैलानि हेमन्ते सुखानि'। अत्र तैलशब्दस्तिलभवस्नेहरूपं मुख्यार्थमुपादयैव सार्षपादिषु स्नेहेषु वर्तते। प्रयोजने यथा– राजकुमारेषु तत्सदृशेषु च गच्छत्सु 'एते राजकुमारा गच्छन्ति'। रूढावुपादानलक्षणा साध्यवसाना गौणी यथा– 'तैलानि हेमन्ते सुखानि'। प्रयोजने यथा– 'राजकुमारा गच्छन्ति'। रूढौ लक्षणलक्षणा सारोपा गौणी यथा– 'राजा गौडेन्द्रं कण्टकं शोधयति'। प्रयोजने यथा– 'गौर्वाहीकः'। रूढौ लक्षणलक्षणा साध्यवसाना गौणी यथा– 'राजा कण्टकं शोधयति'। प्रयोजने यथा– 'गौर्जल्पति'।

अर्थात् पूर्व की आठ लक्षणायें जो सादृश्यसम्बन्ध से भिन्न कार्यकारणादि सम्बन्ध से थीं वे ही सादृश्यसम्बन्ध से भी हो सकती हैं अतः वे 08×02=16 प्रकार की हो जाती हैं। शुद्धा लक्षणा

के उदाहरण पूर्व में दिये जा चुके हैं। अब गौणी लक्षणा के आठ भेदों का निरूपण किया जाना है।

(1) रूढा गौणी सारोपा उपादानलक्षणा का उदाहरण 'एतानि तैलानि हेमन्ते सुखानि' (ये तैल हेमन्त ऋतु में सुखद हैं) है। यहाँ 'तैलानि' पद विषयी है 'एतानि' पदबोध्य सरसों विषय है, अतः दोनों के शब्दतः उपात्त होने से सारोपत्व स्पष्ट है। 'तैल' पद मासृण्य अथवा चिकनाई का वाचक होने के साथ सर्षपादि तैलों को लक्षित कर रहा है अतः उपादानलक्षणात्व सिद्ध है। यहाँ तैलानि के मुख्यार्थ तिल से उत्पन्न तैल के मासृण्य चिकनाई और लक्ष्यार्थ सर्षपादि के तैल के चिकनाई के बीच सादृश्यरूप सम्बन्ध है। यहाँ तिल के तैल की चिकनाई की तरह चिकनाई सर्षपादि वस्तुओं से निर्मित तैल में भी होती है ऐसी प्रसिद्धि है।

(02) प्रयोजनवती गौणी सारोपा उपादानलक्षणा का उदाहरण 'एते राजकुमारा गच्छन्ति' (ये राजकुमार जा रहे हैं) है। यहाँ राजकुमार के सदृश किन्तु भिन्न बालकों के लिए उक्त वाक्य का प्रयोग किया है जिससे मुख्यार्थबाध होता है, शूरतावीरतारूप सादृश्यसम्बन्ध के कारण राजकुमार से भिन्न किन्तु राजकुमारसदृश अर्थ की उपस्थिति होती है। राजकुमारसदृश कुमारों में राजकुमारों में रहने वाले सौन्दर्य आकर्षकत्व की प्रतीति कराना प्रयोजन है। यहाँ 'राजकुमार' विषयी है 'एते' पदबोध्य राजकुमार-सदृश-कुमार विषय है दोनों शब्दतः उपात्त हैं अतः सारोपत्व स्पष्ट है। राजकुमार पद अपने अर्थ के साथ राजकुमारसदृश परार्थ का आक्षेप कर रहा है अतः उपादानत्व भी स्पष्ट है। विषयी और विषय के गुणों का सादृश्य है अतः यह गौणी लक्षणा का उदाहरण है।

(3) रूढा गौणी साध्यवसाना उपादानलक्षणा का उदाहरण 'तैलानि हेमन्ते सुखानि' है। यहाँ 'तैलानि' विषयी है जिसके द्वारा विषय (सर्षपादि) का निगरण किया गया है। अतः यह साध्यवसाना लक्षणा का उदाहरण है। इसकी मुख्यार्थबाधादि विशेषता पूर्व में प्रतिपादित 'रूढा गौणी सारोपा उपादानलक्षणा' में निरूपित है।

(4) प्रयोजनवती गौणी साध्यवसाना उपादानलक्षणा का उदाहरण 'राजकुमारा गच्छन्ति' है। यहाँ 'राजकुमारा' इस विषयी के द्वारा विषय (राजकुमारसदृश-कुमार) का निगरण किया गया है, अतः साध्यवसाना लक्षणा है, शेष मुख्यार्थबाधादि विशेषता पूर्वप्रतिपादित 'प्रयोजनवती गौणी सारोपा उपादानलक्षणा' में निरूपित है।

(5) रूढा गौणी सारोपा लक्षणलक्षणा का उदाहरण– 'राजा गौडेन्द्रं कण्टकं शोधयति' है। यहाँ 'गौडेन्द्रम्' पद विषय है तथा 'कण्टकम्' पद विषयी है, ये दोनों शब्दतः उपात्त हैं अतः सारोपत्व स्पष्ट है। यहाँ गौडेन्द्र और कण्टक का समानाधिकरण्यरूप मुख्यार्थ का बाध है अर्थात् चेतन-अचेतन का समानाधिकरण्य उपपन्न नहीं हो रहा है इस कारण कण्टक पद जो वृक्ष के नुकीले अग्रभाग का वाचक है वह अपने मुख्यार्थ का त्याग करके दुःखप्रदानक्षमत्वरूप सादृ श्यसम्बन्ध से दुःखदायी शत्रु रूप अर्थ को लक्षित कर रहा है, कण्टक के दुःखप्रदातृत्व-रूप-अर्थ में लोकप्रसिद्धि है अतः रूढि है। यहाँ शत्रु और कण्टक में दुःखप्रदातृत्वरूप गुणगत सादृश्य होने से गौणी लक्षणा है।

(6) प्रयोजनवती गौणी सारोपा लक्षणलक्षणा का उदाहरण– 'गौर्वाहीकः' (वाहीक देश निवासी बैल है) यहाँ 'गौः' पद विषयी है 'वाहीकः' विषय है दोनों शब्दतः उक्त हैं अतः सारोपत्व स्पष्ट है। यहाँ 'वाहीक' का मुख्यार्थ पंजाब-देशवासी व्यक्तिविशेष है तथा 'गौः' पद का मुख्यार्थ सास्नादिमान् है। दोनों में पशु और मनुष्य का समानाधिकरण रूप मुख्यार्थ का बाध है, इसके बाद गोपद अपने मुख्यार्थ वृषभ का त्याग करके जाड्यमान्द्यादिरूप सादृश्यसम्बन्ध से मूर्खरूप अर्थ को लक्षित करता है। जिससे लक्षणलक्षणा स्पष्ट है। इस प्रकार के प्रयोग से वाहीक व्यक्ति की अत्यधिक मूर्खता का प्रत्यायन कराना प्रयोजन है।

(7) रूढा गौणी साध्यवसाना लक्षणलक्षणा का उदाहरण– 'राजा कण्टकं शोधयति' है। यहाँ विषयी 'कण्टक' पद है जिसने विषय 'गौडेन्द्रम्' का निगरण कर लिया है, अतः साध्यवसानत्व स्पष्ट है। इस लक्षणा प्रकार की शेष विशेषता इसके सारोपात्वभेद में देखी जा सकती है।

(8) प्रयोजनवती गौणी साध्यवसाना लक्षणलक्षणा का उदाहरण 'गौर्जल्पति' है। यहाँ 'गौः' पद विषयी है जिसने विषय 'वाहीकः' का निगरण किया है, जिससे साध्यवसानात्व स्पष्ट है। इसकी अन्य विशेषता सारोपात्व के प्रसंग में देखी जा सकती है।

'गौर्वाहीकः' 'गौर्जल्पति' आदि लाक्षणिक प्रयोगों में लक्षणा विषयक कुछ रहस्य है जिसके सन्दर्भ में आचार्यों के कई मत हैं जिन्हें क्रमशः उपस्थापित किया जा रहा है–

अत्र केचिदाहुः– गोसहचारिणो गुणा जाड्यमान्द्यादयो लक्ष्यन्ते। ते च गोशब्दस्य वाहीकार्थाभिधाने निमित्तीभवन्ति। तदयुक्तम्– गोशब्दस्यागृहीतसङ्केतं वाहीकार्थमभिधातुमशक्यत्वाद् गोशब्दार्थमात्रबोधनाच्च। अभिधाया विरतत्वाद् विरतायाश्च पुनरुत्थानाभावात्।

कतिपय आचार्य कहते हैं कि 'गौर्वाहीकः' 'गौर्जल्पति' उदाहरणों में गोगत-जाड्यमान्द्यादिगुण लक्षित होते हैं और वे ही लक्षित जाड्यमान्द्यादिगुण वाहीक के अर्थ को अभिधा द्वारा बोधित करने में निमित्त बन जाते हैं– लेकिन आचार्यों का उक्त कथन उचित नहीं, क्योंकि संकेतग्रह के कारण गोपद से केवल वृषभ (बैल) का ही बोध होता है। गोपद से वाहीकार्थ अभिधा द्वारा बोधित नहीं हो सकता क्योंकि गोपद का वाहीकार्थ में संकेतग्रह नहीं है। अतः गोपद गोशब्दार्थ का ही बोध करायेगा। अब यदि यह कहा जाये कि गोपद गो के अर्थ का बोध कराके आन्तरालिक व्यवधान के बाद वाहीक का भी बोध करा देगा तो यह विचार भी उचित नहीं क्योंकि 'सकृदुच्चरितः शब्दः सकृदेवार्थं गमयति' (एक बार उच्चरित शब्द एक ही अर्थ देता है) इस न्याय से गोपद से गो अर्थ का बोध कराके अभिधा की शक्ति क्षीण हो जाएगी, क्षीण होने के बाद ('शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावः', इति न्याय से) उस अभिधाशक्ति का उत्थान सम्भव नहीं।

अन्ये च पुनर्गोशब्देन वाहीकार्थो नाभिधीयते, किन्तु स्वार्थसहचारिगुणसाजात्येन वाहीकार्थगता गुणा एव लक्ष्यन्ते। तदप्यन्ये न मन्यन्ते। तथाहि– अत्र गोशब्दाद्वाहीकार्थः प्रतीयते न वा? आद्ये गोशब्दादेव वा? लक्षिताद्वा गुणाद्? अविनाभावाद्वा? तत्र, न प्रथमः, वाहीकार्थेऽस्यासङ्केतितत्वात्। न द्वितीयः– अविनाभावलभ्यार्थस्य शाब्देऽन्वये प्रवेशासंभवात्।

शाब्दी ह्याकाङ्क्षा शब्देनैव पूर्यते। न द्वितीयः– यदि हि गोशब्दाद्वाहीकार्थो न प्रतीयते, तदाऽस्य वाहीकशब्दस्य च सामानाधिकरण्यमसमञ्जसं स्यात्।

कतिपय विचारक यह मानते हैं कि गोपद से वाहीकार्थ का बोध अभिधा द्वारा नहीं होता बल्कि गोशब्द का सास्नादिमान् पशुविशेषरूप जो मुख्यार्थ है उसके सहचारी जाड्यमान्द्यादि जो गुण हैं, उन गुणों के समान चूँकि वाहीक में भी गुण देखे जाते हैं अतः गोशब्द से लक्षणाशक्ति द्वारा वाहीकगत वे जाड्यमान्द्यादि गुण ही लक्षित होते हैं – किन्तु इस पक्ष को दूसरे आचार्य नहीं मानते क्योंकि उनके मत में यह प्रश्न उपस्थित होता है कि गोपद से वाहीकार्थ की प्रतीति होती है या नहीं?, और यदि प्रतीति होती है तो कैसे? गोशब्द से? या गोशब्द से लक्षित जाड्यमान्द्यादिगुणों से अविनाभाव द्वारा? इसमें प्रथम मत के प्रथम विकल्प में जिसके अनुसार गोपद से वाहीकार्थ की प्रतीति होती है– उसमें बाधा है, क्योंकि गोशब्द का वाहीकार्थ संकेतित अर्थ नहीं है तथा प्रथम मत का दूसरा विकल्प जिसके अनुसार गोशब्द से लक्षितगुण ही अविनाभाव के कारण गुणी रूप वाहीकार्थ का बोध करा देंगे– उसमें दोष है, क्योंकि गोपद के साथ अविनाभावसम्बन्ध से जाड्यमान्द्यादिगुण का बोध तो होगा ही, पर अविनाभाव से उपस्थित वह गुण शाब्दबोधप्रक्रिया में वाहीकार्थ के बोधन में निमित्त इसलिए नहीं बन पायेगा क्योंकि उसमें स्वपदोपस्थापकता नहीं है, अर्थात् वे जाड्यमान्द्यादिगुण गोपद से साथ अविनाभाव से अभिधया बोधित होंगे, जब ये अपने पद से कहे नहीं गये हैं तो शब्दतः अनुपस्थित रहकर वाहीकार्थ का बोध कैसे करायेंगे?, क्योंकि नियम है कि– 'शाब्दी ही आकाङ्क्षा शब्देनैव हि पूर्यते' अर्थात् शब्द की आकाङ्क्षा की पूर्ति शब्द से ही होती है।

दूसरे मत में यदि गोशब्द से वाहीक का अभिधान नहीं होता तब तो गोशब्द की वाहीकशब्द के साथ समानाधिकरण्य व्यवस्था असंगत हो जायेगी।

विश्वनाथ का सिद्धान्त पक्ष

तस्मादत्र गोशब्दो मुख्यया वृत्त्या वाहीकशब्देन सहान्वयमलभमानोऽज्ञत्वादिसाधर्म्यसंबन्धाद् वाहीकार्थं लक्षयति। वाहीकस्याज्ञत्वाद्यतिशयबोधनं प्रयोजनम्।

उक्त दोनों मतों में दोषदर्शन के बाद विश्वनाथ सिद्धान्त पक्ष प्रस्तुत करते हैं कि गोशब्द का अभिधावृत्ति से वाहीक शब्द के साथ अन्वय उपपन्न नहीं होने से अर्थात् गो (पशुविशेष) वाहीक व्यक्तिविशेष में समानाधिकरण्य उपपन्न नहीं होने से अन्वयानुपपत्ति है, जिससे मुख्यार्थबाध हो रहा है इसके बाद दोनों में अज्ञत्वादि साधर्म्यसम्बन्ध से गोपद लक्षणा शक्ति से वाहीकार्थ को लक्षित करता है। यहाँ वाहीक में अज्ञानता की अतिशयता का प्रत्यायन कराना प्रयोजन है।

इयं च गुणयोगाद्गौणीत्युच्यते। पूर्वा तूपचारामिश्रणाच्छुद्धा। उपचारो हि नामात्यन्तं विशकलितयोः शब्दयोः सादृश्यातिशयमहिम्ना भेदप्रतीतिस्थगनमात्रम्। यथा– 'अग्निर्माणवकयोः'। शुक्लपटयोस्तु नात्यन्तं भेदप्रतीतिः, तस्मादेवमादिषु शुद्धैव लक्षणा।

उक्त आठ प्रकार की लक्षणा में गुण का योग होने से इसे गौणी लक्षणा कहा जाता है। पूर्व में अर्थात् गौणी लक्षणा निरूपण के पूर्व जिन लक्षणाप्रकारों का निरूपण किया गया था उन्हें शुद्धा पद से अभिहित किया जाता है क्योंकि शुद्धा लक्षणा में उपचार का मिश्रण नहीं रहता।

दो परस्पर भिन्न वस्तुओं में अतिशय सादृश्य होने के कारण भेद की प्रतीति के स्थगन को उपचार कहा जाता है। जैसे– 'अग्निमाणवक' में (बालक अग्नि है), यहाँ पर बालक और अग्नि दो भिन्न पदार्थ हैं किन्तु अग्निगत तेजस्विता रूप गुण की तरह बालक में भी तेजस्विता गुण है इस सादृश्य के कारण उन परस्पर भिन्न पदार्थों के भेद की प्रतीति का स्थगन होने से गौणी लक्षणा है। शुक्लपट रूप दो भिन्न पदार्थों में उपचार नहीं है इस कारण यहाँ शुद्धा लक्षणा होगी।

इस प्रकार अभी तक आठ शुद्धा लक्षणा के भेदों और आठ गौणी लक्षणा के भेदों का निरूपण किया गया। अब यदि इन भेदों का योग किया जाय तो 08×08=16 भेद हो जाते हैं। इन सोलह भेदों में 08 में तो रूढि लक्षणा होती है और 08 भेदों में प्रयोजनवती लक्षणा है। प्रयोजनवती लक्षणा में जो व्यङ्ग्य व्यक्त होता है वह कहीं गूढ और कहीं अगूढ रहता है इस दृष्टि से उक्त प्रयोजनवती लक्षणा के 08×02=16 भेद हो जाते है। विश्वनाथ 'कविराज' आगे की कारिका के माध्यम से अब इसी विषय का प्रतिपादन करते हैं–

व्यङ्ग्यस्य गूढागूढत्वाद् द्विधा स्युः फललक्षणाः ।।10।।

व्यङ्ग्य दो प्रकार का होता है 01 गूढव्यङ्ग्य, 02 अगूढव्यङ्ग्य, अतः फलवती अर्थात् प्रयोजनवती लक्षणा दो प्रकार की होती है।

प्रयोजने या अष्टभेदा लक्षणा दर्शितास्ताः प्रयोजनरूपव्यङ्ग्यस्य गूढागूढतया प्रत्येकं द्विधा भूत्वा षोडश भेदाः। तत्र गूढः, काव्यार्थभावनापरिपक्वबुद्धिविभवमात्रवेद्यः। यथा– 'उपकृतं बहु तत्र' इति। अगूढः, अतिस्फुटतया सर्वजनसंवेद्यः। यथा–

उपदिशति कामिनीनां यौवनमद एव ललितानि।।

अत्र 'उपदिशति' इत्यनेन 'आविष्करोति' इति लक्ष्यते। आविष्कारातिशयश्चाभिधेयवत्स्फुटं प्रतीयते।

पूर्व में प्रयोजन में जो आठ भेद प्रकार की लक्षणा दिखाई गई है, वे प्रयोजनस्वरूप व्यङ्ग्य के कहीं गूढ और कहीं अगूढ रूप में विद्यमान होने से दो प्रकार की होकर 08×02=16 सोलह भेद की हो जाती हैं। उसमें गूढ व्यङ्ग्य केवल काव्यार्थ भावना से परिपक्व बुद्धि की महिमा वाले सहृदय द्वारा ही वेद्य है, जैसे– 'उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते' उदाहरण में। अगूढव्यङ्ग्य अत्यन्त स्पष्ट होता है उसे सभी लोग जान लेते हैं, जैसे–

यौवन का मद ही कामिनियों को विविध प्रकार के हाव-भाव चेष्टाओं को सिखा देता है।

यहाँ 'उपदिशति' इस पद से 'आविष्करोति' अर्थ लक्षित होता है, आविष्कारातिशयता का प्रत्यायन कराना प्रयोजन है जो अत्यन्त स्पष्ट है।

धर्मिधर्मगतत्वेन फलस्यैता अपि द्विधा।

एता अनन्तरोक्ताः षोडशभेदा लक्षणाः फलस्य धर्मिगतत्वेन धर्मगतत्वेन च प्रत्येकं द्विधा भूत्वा द्वात्रिंशद्भेदाः।

गूढ और अगूढ रूप में फल अर्थात् प्रयोजन (व्यङ्ग्यरूप) के कभी धर्मी में विद्यमान होने से कभी केवल धर्म के रूप में वेद्य होने से उक्त लक्षणायें पुनः दो प्रकार की हो जाती हैं।

उक्त सोलह प्रकार की लक्षणायें जिन्हें अभी निरूपित किया गया है वे सोलह प्रकार की लक्षणायें पुनः प्रयोजनरूप फल के कभी धर्मिगत और कभी धर्मगत होने से प्रत्येक दो प्रकार की होकर पुनः 16 × 02 =32 प्रकार की हो जाती हैं।

दिग्दर्शन की दृष्टि से फल के धर्मिगत और धर्मगत होने का उदाहरण दिया जा रहा है–

दिङ्मात्रं यथा–

स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्तवियतो वेल्लद्बलाकाघना

वाताः शीकरिणः पयोदसुहृदामानन्दकेकाः कलाः।

कामं सन्तु दृढं कठोरहृदयो रामोऽस्मि सर्वं सहे

वैदेही तु कथं भविष्यति हहा हा देवी धीरा भव।।

स्निग्ध और श्यामल कान्ति से ओतप्रोत आकाश (भले ही हों), आकाश में अत्यन्त घनी लहराती बकपङ्क्ति (भले ही हो), जलकणों को भरकर वायु (भले ही बहे), बादलों के मित्र मयूरों के केकास्वर भले ही हों (किन्तु) मैं कठोर हृदय वाला राम हूँ सब सह लूँगा, मेरी तो चिन्ता है कि मेरी सीता कैसी होगी, हे देवी! धैर्य धारण करो।

अत्रात्यन्तदुःखसहिष्णुरूपे रामे धर्मिणि लक्ष्ये तस्यैवातिशयः फलम्। 'गङ्गायां घोषः' इत्यत्र तटे शीतत्वपावनत्वरूपधर्मस्यातिशयः फलम्।

यहाँ अत्यन्तदुःखसहिष्णुरूप धर्मी राम में अत्यन्तदुःखसहिष्णुत्व की प्रतीति कराना ही फल (व्यङ्ग्य) है, अर्थात् जिस प्रकार का धर्मी है उसमें (धर्मी में) उस प्रकार के धर्मों की अतिशयता की प्रतीति कराना यहाँ फल अर्थात् प्रयोजन है।

प्रयोजन का धर्मगत होने का उदाहरण 'गङ्गायां घोषः' है। यहाँ सहृदयों का ध्यान केवल शीतलता पवित्रता रूप धर्म में ही स्थिर है न की तट रूप धर्मी में। भाव यह है शैत्यपावनत्वरूप धर्म केवल गङ्गारूप धर्मी में ही सम्भव है न कि तटरूप धर्मी में तथापि सामीप्यादिसम्बन्ध के बल से गङ्गा के अत्यन्त समीप वाले तट में उस प्रकार के धर्म की स्थिति बन सकती है इस दृष्टि से उस तट में शैत्यपावनत्वरूप धर्म की अतिशयता की प्रतीति कराना प्रयोजन है।

पूर्व उदाहरण में दुःखसहिष्णुत्वधर्म धर्मी राम के ही हैं, और उन धर्मों का ही धर्मी में अतिशयता से बोध कराना प्रयोजन है, जबकि दूसरे उदाहरण में शैत्यपावनत्वरूप धर्म जो वस्तुतः गङ्गा के धर्म हैं, तट में उन धर्मों की अतिशयता दिखाना प्रयोजन है।

तदेवं लक्षणाभेदाश्चत्वारिंशन्मता बुधैः।

रूढावष्टौ फले द्वात्रिंशिदिति चत्वारिंशल्लक्षणाभेदाः।

इस प्रकार विद्वानों के मत में लक्षणा के चालीस भेद हो जाते हैं अर्थात् रूढि लक्षणा के पूर्वप्रतिपादित आठ भेद तथा प्रयोजनवती लक्षणा के 32 भेद सबको 08×32 = 40 मिलाकर भेद हो जाते हैं।

किञ्च–

पदवाक्यगतत्वेन प्रत्येकं ता अपि द्विधा।

ता अनन्तरोक्ताश्चत्वारिंशद्भेदाः। तत्र पदगतत्वे यथा– 'गङ्गायां घोषः'। वाक्यगतत्वे यथा– 'उपकृतं बहु तत्र' इति। एवमशीतिप्रकारा लक्षणा।

उक्त चालीस भेद वाली लक्षणा पद और वाक्य में रहने से पुनः दो प्रकार की हो जाती है।

कारिका में उक्त 'ताः' पद से अभिप्राय अभी निरूपित की गई चालीस भेदों वाली लक्षणा से है। लक्षणा के पदगत होने का उदाहरण 'गङ्गायां घोषः' है, वाक्यगत होने का उदाहरण 'उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते' है। इस प्रकार उक्त चालीस लक्षणाभेदों के क्रमशः पद और वाक्य में रहने से 40×02= 80 (अस्सी) भेद हो जाते हैं।

7.3.5 व्यञ्जना शक्ति निरूपण

इस प्रकार लक्षणाशक्ति का निरूपण होने के बाद व्यञ्जनाशक्ति का निरूपण करना शेष रह जाता है इस दृष्टि से विश्वनाथ 'कविराज' क्रमप्राप्त व्यञ्जनाशक्ति का निरूपण करते हैं–

अथ व्यञ्जना–

विरतास्वभिधाद्यासु ययाऽर्थो बोध्यते परः।।12।।

सा वृत्तिर्व्यञ्जना नाम शब्दस्यार्थादिकस्य च।

अभिधा आदि शब्दशक्तियों के विरत हो जाने के बाद जिस शक्ति से अन्य (मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ से भिन्न) अर्थ का बोध कराया जाता है उस शक्ति का नाम व्यञ्जना है।

'शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावः' इति नयेनाभिधालक्षणातात्पर्याख्यासु तिसृषु वृत्तिषु स्वं स्वमर्थं बोधयित्वोपक्षीणासु यया अपरोऽन्योऽर्थो बोध्यते सा शब्दस्यार्थस्य प्रकृतिप्रत्ययादेश्च शक्तिर्व्यञ्जनध्ययनगमनप्रत्यायनादिव्यपदेशविषया व्यञ्जना नाम।

शब्द, बुद्धि और कर्म के विराम के अनन्तर व्यापार का अभाव होता है– यह शास्त्रवचन है। इस सिद्धान्त से अभिधा, लक्षणा और तात्पर्य नामक तीनों शब्दशक्तियों द्वारा अपना-अपना अर्थ बोधित कर उनके उपक्षीण (विश्रान्त) हो जाने पर जिस शक्ति से अन्य अर्थ का बोध होता है वह शब्द और अर्थ की साथ में प्रकृति और प्रत्यय आदि की शक्ति व्यञ्जना है जिसके– 'व्यंजन', 'ध्वनन', 'गमन', 'प्रत्यायन' आदि पर्याय हैं।

तत्र

अभिधालक्षणामूला शब्दस्य व्यञ्जना द्विधा।।13।।

उसमें शब्दमूल व्यंजना अर्थात् शाब्दी व्यंजना दो प्रकार की होती है– 01 अभिधामूला व्यंजना, 02 लक्षणामूला व्यंजना।

शाब्दी व्यंजना के दो भेद का नामग्रहण करने के पश्चात् विश्वनाथ 'कविराज' प्रथम भेद अभिधामूलव्यंजना का निरूपण करते हैं–

अभिधामूलामाह–

अनेकार्थस्य शब्दस्य संयोगाद्यैर्नियन्त्रिते।

एकत्रार्थेऽन्यधीर्हेतुर्व्यञ्जना साऽभिधाश्रया।।14।।

अनेकार्थक शब्द का संयोगादि (एकार्थ नियामक) हेतुओं के द्वारा एक अर्थ में नियमन करने के पश्चात् अन्य अर्थ का बोध जिससे होता है वह अभिधा के आश्रित रहने वाली (अभिधामूला) व्यंजना है।

आदिशब्दाद्विप्रयोगादयः।

कारिका में आदि पद से 'विप्रयोग' आदि हेतुओं का ग्रहण समझा जाये।

उक्तं हि–

संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता।

अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः।।

सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः।

शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः।। इति

'सशंखचक्रो हरिः' इति शंखचक्रयोगेन हरिशब्दो विष्णुमेवाभिधत्ते। 'अशंखचक्रो हरिः' इति तद्वियोगेन तमेव। 'भीमार्जुनौ' इति अर्जुनः पार्थः। 'कर्णार्जुनौ' इति कर्णः सूतपुत्रः। 'स्थाणुं वन्दे' इति स्थाणुः शिवः। 'सर्वं जानाति देवः' इति देवो भवान्। 'कुपितो मकरध्वजः' इति मकरध्वजः कामः।

'देवः पुरारिः' इति पुरारिः शिवः। 'मधुना मत्तः पिकः' इति मधुर्वसन्तः। 'पातु वो दयितामुखम्' इति मुखं सांमुख्यम्। 'विभाति गगने चन्द्रः' इति चन्द्रः शशी। 'निशि चित्रभानुः' इति चित्रभानुर्वह्निः। 'भाति रथाङ्गम्' इति नपुंसकव्यक्त्या रथांगं चक्रम्। स्वरस्तु वेद एव विशेषप्रतीतिकृन्न काव्य इति तस्य विषयो नोदाहृतः।

कारिका में संयोगाद्यैः में प्रयुक्त आदि पद से विप्रयोग आदि का ग्रहण होगा। कहा गया है–

संयोग, विप्रयोग, साहचर्य, विरोधिता, अर्थ, प्रकरण, लिंग, अन्यशब्द की सन्निधि, सामर्थ्य, औचित्य, देश, काल, व्यक्ति तथा स्वर आदि (नानार्थक पद के प्रयोग की अवस्था में जब वक्ता का तात्पर्य किस अर्थ में है ऐसा सन्देह उत्पन्न होता है तब ये श्रोता को) एकार्थ विषय स्मृति कराने के हेतु हैं।

संयोग नामक अभिधानियामक हेतु का उदाहरण है– 'सशंखचक्रो हरिः' (शंख और चक्र से युक्त विष्णु)। इस उदाहरण वाक्य में 'हरि' पद नानार्थक है। 'हरि' पद– बन्दर, सिंह, मेंढक और विष्णु इत्यादि अर्थों का वाचक है, किन्तु विष्णु को छोड़कर शंख और चक्र का योग अन्य किसी में सम्भव नहीं अतः शंख, चक्र संयोग से 'हरि' नानार्थक पद की अभिधा 'विष्णु' में नियन्त्रित होती है।

विप्रयोग का उदाहरण 'अशंखचक्रो हरिः' है (शंख चक्र से रहित विष्णु)। यहाँ विप्रयोग (वियोग) रूप हेतु से हरि की अभिधा विष्णु में नियमित होती है क्योंकि जिन प्रसिद्ध वस्तुओं के धारण करने से जिसका संयोग होता है उन वस्तुओं के किसी अवस्था विशेष में न होने से वियोग भी हो जाता है। इस नियम से शंख चक्र के जिस प्रसिद्ध संयोग से नानार्थक हरि पद की अभिधा विष्णु में नियमित होती है तो उसी वस्तु के वियोग में नानार्थक हरि पद की अभिधा विष्णु में नियमित होगी।

साहचर्य का उदाहरण 'भीमार्जुनौ' (भीम और अर्जुन) है। इस उदाहरण में 'अर्जुन' पद नानार्थक है वह कार्तवीर्य अर्जुन, अर्जुन नामक वृक्ष तथा पार्थ का वाचक है किन्तु भीम का साहचर्य अथवा सहचरण पार्थ के साथ ही है, अन्य के साथ नहीं। अतः भीम के साहचर्य से अर्जुन पद की अभिधा 'पार्थ' में नियन्त्रित होगी।

विरोधिता का उदाहरण 'कर्णार्जुनौ' (कर्ण और अर्जुन) है। यहाँ भी अर्जुन पद नानार्थक है किन्तु कर्ण का विरोध केवल पार्थ के साथ रहा है अन्य के साथ नहीं, अतः प्रसिद्ध विरोधवश अर्जुन पद की अभिधा 'पार्थ' में नियन्त्रित होती है।

अर्थ का उदाहरण 'स्थाणुं वन्दे' (शिव की वन्दना करता हूँ) है। यहाँ 'स्थाणु' भगवान् शिव और सूखी लकड़ी के ठूँठ का वाचक होने से नानार्थक है किन्तु स्थाणु के अन्य अर्थों में वन्दन क्रिया की योग्यता नहीं है, अथवा इसके अन्य अर्थों में वन्दन क्रिया के प्रयोजन की सिद्धि नहीं हो सकती, अतः अर्थ रूप हेतु से नानार्थक 'स्थाणु' पद की अभिधा 'शिव' में नियन्त्रित होती है।

प्रकरण का उदाहरण 'सर्वं जानाति देवः' (महाराज सब जानते हैं) है। यहाँ देव पद नानार्थक है, किन्तु राजा के सामने स्थित होकर वार्तालाप के प्रकरण में कहे गये 'देव' पद की अभिधा 'आप' (सम्मुखस्थ राजा) के अर्थ में नियन्त्रित होती है।

लिंग का उदाहरण 'कुपितो मकरध्वजः' (कामदेव कुपित हो गये हैं)। यहाँ मकरध्वज नानार्थक है। वह कामदेव के साथ ध्वजरूप अर्थ का भी वाचक है किन्तु 'कोप' रूप लिंग अर्थात् चिह्न के द्वारा 'मकरध्वज' की अभिधा 'कामदेव' अर्थ में नियन्त्रित होती है।

अन्यशब्दसन्निधि का उदाहरण 'देवः पुरारिः' (पुर नामक राक्षस के शत्रु भगवान् शिव) यहाँ देव पद की सन्निधि के कारण 'पुरारिः' पद 'शिव' का वाचक हो जाता है।

सामर्थ्य का उदाहरण 'मधुना मत्तः पिकः' (वसन्त में मदमस्त कोयल) है। यहाँ 'मधु' पद नानार्थक है वह मधु (शहद), चैत्रमास तथा वसन्त का वाचक है किन्तु कोकिल को मदमस्त करने का सामर्थ्य वसन्त में है, अतः मदमस्त करने के सामर्थ्य से 'मधु' पद की अभिधा 'वसन्त' में नियमित होती है।

औचिती का उदाहरण 'पातु वो दयितामुखम्' (प्रियमता तुम्हारी रक्षा करे) है। यहाँ 'मुख' पद आनन, और सामुख्य का वाचक होने से नानार्थक है किन्तु प्रिय का त्राण करने के औचित्य कि सिद्धि दयिता के साम्मुख्य अर्थात् अनुकूलता से है। अतः यहाँ 'मुख' पद की अभिधा 'साम्मुख्य' अर्थ में नियन्त्रित होती है।

देश का उदाहरण 'विभाति गगने चन्द्रः' (आकाश में चन्द्र सुशोभित हो रहा है) है। यहाँ चन्द्र पद नानार्थक है। चन्द्र के अन्य अर्थों की स्थिति आकाश में असम्भव है अतः गगन रूप देश (स्थानविशेष) से चन्द्र की अभिधा 'शशी' में नियन्त्रित होती है।

काल का उदाहरण 'निशि चित्रभानुः' (रात्रि में अग्नि) है। यहाँ चित्रभानु पद सूर्य और अग्नि का समान रूप से वाचक होने से नानार्थक है किन्तु रात्रिरूप काल में सूर्य की स्थिति सम्भव नहीं, अतः कालरूप हेतु से 'चित्रभानु' पद की अभिधा 'अग्नि' में नियन्त्रित हो रही है।

व्यक्ति का उदाहरण 'भाति रथाङ्गम्' (रथचक्र सुशोभित हो रहा है) है। यहाँ 'व्यक्ति' पद का तात्पर्य पुरुष नहीं बल्कि पदों के पुलिंग, स्त्रीलिंग और नपुंसकलिंग में होने से है। यहाँ 'रथांगम्' पद नानार्थक है, किन्तु 'रथांगम्' के नपुंसकलिंग में होने से इसकी अभिधा 'रथचक्र' में नियन्त्रित हो रही है।

स्वर (उदात्त, अनुदात्त और स्वरित आदि) के द्वारा अर्थ में परिवर्तन आदि कार्य वेद में ही प्रसिद्ध है, काव्य में इन स्वरों का विशेष महत्त्व नहीं है, इसलिए इसका उदाहरण नहीं दिया जा रहा है ।

इदं च केऽप्यसहमाना आहुः– 'स्वरोऽपि काक्वादिरूपः काव्ये विशेषप्रतीतिकृदेव। उदात्तादिरूपोऽपि मुनेः पाठोक्तदिशा श्रृंगारादिरसविशेषप्रतीतिकृदेव' इति एतद्विषये उदाहरणमुचितमेव इति, तन्न; तथाहि– स्वराः काक्वादयः उदात्तादयो वा व्यङ्ग्यरूपमेव विशेषं प्रत्याययन्ति, न खलु प्रकृतोक्तमनेकार्थशब्दस्यैकार्थनियन्त्रणरूपं विशेषम्। किञ्च, यदि यत्र क्वचिदनेकार्थशब्दानां प्रकरणादिनियमाभावादनियन्त्रितयोरप्यर्थयोरनुरूपस्वरवशेनैकत्र नियमनं वाच्यं तदा, तथाविधस्थले श्लेषानङ्गीकारप्रसङ्गः, न च तथा, अत एवाहुः श्लेषनिरूपणप्रस्तावे– 'काव्यमार्गे स्वरो न गण्यते इति च नयः'– इत्यलमुपजीव्यानां मान्यानां व्याख्यानेषु कटाक्षनिक्षेपेण। आदिशब्दात् 'एतावन्मात्रस्तनी' इत्यादौ हस्तादिचेष्टादिभिः स्तनादीनां कमलकोरकाद्याकारत्वम्।

ऊपर हरिकारिका में 'स्वरादयः' के माध्यम से स्वर को भी अर्थनियामक माना गया है किन्तु स्वर द्वारा अर्थनियामकता की उपयोगिता काव्य में नहीं होती, स्वर की अर्थनियामकता केवल वेद में ही होती है, इस कारण अर्थनियामक हेतु के प्रसंग में स्वर का उदाहरण नहीं दिया गया, किन्तु कुछ विद्वान् स्वरों द्वारा काव्य में भी अर्थनियामकता का समर्थन करते हैं उनके कहने का अभिप्राय यह है कि– काकु आदि स्वर काव्य में भी अर्थविशेष की प्रतीति कराते हैं तथा उदात्तादि स्वरों से रसविशेष की प्रतीति भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में प्रतिपादित है–

'उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितः कम्पितस्तथा।

वर्णाश्चत्वार एव स्युः पाठ्ययोगे तपोधनाः।।

तत्र हास्यशृङ्गारयोः स्वरितोदात्तैः, वीररौद्राद्भुतेषु उदात्तकम्पितैः करुणवात्सल्यभयानकेषु अनुदात्तस्वरितकम्पितैर्वर्णैः पाठ्यमुपपादयेत्' । नाट्यशास्त्र 19.43

अतः स्वर का भी उदाहरण देना उचित है— किन्तु विश्वनाथ 'कविराज' उक्त मत को नहीं मानते। विश्वनाथ कहते हैं कि काकु आदि रूप अथवा उदात्तादिरूप स्वर व्यङ्ग्यरूप अर्थ की प्रतीति कराते हैं, न कि (संयोगादि हेतुओं की तरह) अनेकार्थक शब्दों का एक अर्थ में नियन्त्रण। वैसा होने पर अर्थात् यदि काव्यधारा में स्वर भी एकार्थ का नियमन करने लगेंगे तब जहाँ अनेकार्थक शब्दों के दो अर्थों (या अधिक अर्थों) में से किसी एक अर्थ में प्रकरण आदि के द्वारा नियमन नहीं हुआ रहता, तो वहाँ आप (पूर्वपक्षी) यदि स्वर के बल पर ही एक अर्थ में नियमन करेंगे तो ऐसे स्थल में श्लेष का उच्छेद होने लगेगा। भाव यह है कि जहाँ अनेकार्थक शब्द के दोनों अर्थ संकेतग्रह के कारण अभिधाशक्ति द्वारा ही वाच्य होते हैं अर्थात् जहाँ दो अर्थों में से किसी भी अर्थ का प्रकरण आदि के द्वारा नियमन नहीं हुआ रहता वहाँ श्लेष अलंकार माना जाता है, तब तो श्लेषालंकार की सत्ता ही विनष्ट हो जायेगी इसीलिए श्लेषालंकार के प्रसंग में मम्मटादि आचार्यों ने— 'काव्यमार्गे स्वरो न गण्यते इति च नयः' कहा है इसलिए स्वर को एकार्थ नियामक हेतु मानने वाले आचार्यों का मत ठीक नहीं है।

(अभिधामूलध्वनि और श्लेष इन दोनों में ही दो अर्थों का बोध होता है किन्तु इन दोनों में मूल अन्तर यह है कि अभिधामूलध्वनि में जिन दो अर्थों का बोध होता है उसमें एक अर्थ का प्रकरण आदि से नियमन हुआ रहता है, (क्योंकि वहाँ प्रकरण स्पष्ट रहता है) इसके बाद शब्दशक्ति की महिमा से जो दूसरे व्यङ्ग्य रूप अर्थ का बोध होता है वह अभिधा और लक्षणा शब्दशक्ति से नहीं होगा, इसके लिए वहाँ व्यंजनाशक्ति प्रवृत्त होती है। इसके विपरीत श्लेषस्थल में दोनों अर्थ अभिधया ही बोध्य होते हैं, क्योंकि वहाँ का प्रकरण स्पष्ट नहीं रहता, जब प्रकरण स्पष्ट नहीं होगा तब एक अर्थ में अभिधा नियन्त्रित होगी ही नहीं, फलतः दोनों अर्थ अभिधा से ही क्रमशः (एक के बाद एक, इस क्रम से) ज्ञात होते हैं।)

अब हरिकारिका में प्रयुक्त 'स्वरादयः' में 'आदयः' (आदि) पद से चेष्टा आदि का ग्रहण होता है, जिसका निरूपण करना आवश्यक है अतः विश्वनाथ ने 'एतावन्मात्रस्तनिका.......' के उदाहरण में चेष्टा से अर्थ का नियमन होने का निरूपण करते हैं। उक्त उदाहरण में स्तन आदि का आकार क्या है? ऐसी स्थिति में उसके वास्तविक आकार का बोध (चूँकि शब्दों द्वारा सम्भव नहीं है तो) हाथ आदि की चेष्टा से कमल अथवा कोरक (पुष्पकली) जितना बड़ा, बता दिया जाता है।

एवमेकस्मिन्नर्थेऽभिधया नियन्त्रिते या शब्दार्थस्यान्यार्थबुद्धिहेतुः शक्तिः साऽभिधामूला व्यंजना।

अनेकार्थक शब्द का अभिधा द्वारा (संयोगादि अभिधानियामक हेतुओं से) एक अर्थ में नियन्त्रण होने के बाद भी जो शब्दशक्ति शब्दार्थ के अर्थान्तर की प्रतीति का कारण बनती है, वही अभिधामूला व्यंजना है।

यथा मम तातपादानांमहापात्रचतुर्दशभाषाविलासिनीभुजंगमहाकवीश्वरश्रीचन्द्रशेखरसांधिविग्रहिकाणाम्—

अभिधामूला व्यंजना का उदाहरण मेरे (विश्वनाथ के) पितृचरण, सान्धिविग्रहिक चतुर्दशभाषाविलासिनीभुजंग महाकवीश्वर श्री चन्द्रशेखर महापात्र का निम्न पद्य है–

दुर्गालङ्घितविग्रहो मनसिजं संमीलयंस्तेजसा

प्रोद्यद्राजकलो गृहीतगरिमा विष्वग्वृतो भोगिभिः।

नक्षत्रेशकृतेक्षणो गिरिगुरौ गाढां रुचिं धारयन्

गामाक्रम्य विभूतिभूषिततनू राजत्युमावल्लभः।।

अत्र प्रकरणेनाभिधया उमावल्लभशब्दस्योमानाम्नीमहादेवीवल्लभभानुदेवनृपतिरूपेऽर्थे नियन्त्रिते व्यञ्जनयैव गौरीवल्लभरूपोऽर्थो बोध्यते। एवमन्यत्।

शब्दार्थ– दुर्गालङ्घितविग्रह– दुर्ग (किला) से भी अलङ्घित (नहीं रोके जाने वाला) विग्रह (संग्राम) वाला। तेजसा– तेज से, मनसिजं– कामदेव को, संमीलयन्– पराजित करते हुए, प्रोद्यद्राजकलः– अन्य राजाओं को अपने अधीन करने वाला, गृहीतगरिमा– मान को धारण कर लिया है जिसने वह, भोगिभिः– अनुजीवी पुरुषों से, विष्वक्– चारों ओर से, वृतः– घिरा हुआ, नक्षत्रेशकृतेक्षणः– क्षत्रिय श्रेष्ठों की भी उपेक्षा करने वाला (क्षत्रों अर्थात् क्षत्रियों में जो ईश हैं वे हुए क्षत्रेश, उन क्षत्रिय-श्रेष्ठों में नहीं की गई दृष्टि जिसके द्वारा वह हुआ नक्षत्रेशकृ तेक्षणः), गिरिगुरौ– शिव में, गाढां रुचिं– दृढ प्रेम को, धारयन्– धारण करता हुआ, गाम्– पृथ्वी को, आक्रम्य– पराक्रम से अधीन करके, विभूतिभूषिततनुः– विभूति अर्थात् सम्पत्ति से भूषित सुशोभित है तनु शरीर जिसका ऐसा कोई, उमावल्लभ– उमा नामक रानी के पति, राजति– सुशोभित हो रहे हैं।

अप्राकरणिक शिवपरक अर्थ की संगति

शब्दार्थ– दुर्गालङ्घितविग्रह– पार्वती से लंघित (अर्धनारीश्वर के रूप में) है विग्रह जिसका वह भगवान् शंकर। तेजसा– तृतीय नेत्र के खोल देने से, मनसिजं– कामदेव को, संमीलयन्– नाश करते हुए, प्रोद्यद्राजकलः– मस्तक के चन्द्रमा से शोभा धारण करने वाला, गृहीतगरिमा– मान को धारण कर लिया है जिसने वह, भोगिभिः– सर्पों से, विष्वक्– चारों ओर से, वृतः– घिरा हुआ, नक्षत्रेशकृतेक्षणः– सौम्य दृष्टि से भक्तों को देखते हुए, गिरिगुरौ– हिमाद्रि नामक श्वशुर में, गाढां रुचिं– दृढ प्रेम को, धारयन्– धारण करता हुआ, गाम्– बैल के ऊपर, आक्रम्य– बैठकर, विभूतिभूषिततनुः– भस्म से भूषित है शरीर जिसका, उमावल्लभ– उमा पार्वती के पति भगवान् शंकर, राजति– सुशोभित हो रहे हैं।

उक्त पद्य का प्राकरणिक अर्थ उमा नामक महारानी के पति भानुदेव नामक राजा का वर्णन है किन्तु वाक्य में 'उभावल्लभ' पद उमा–नामक रानी के पति (अर्थात् भानुदेव राजा) का बोध कराने के साथ उमा अर्थात् पार्वती के वल्लभ भगवान् शिव का भी बोध करता है। इसके बाद श्लोक के अन्य पद भी जो उमावल्लभ (भानुदेव राजा) के विशेषण हैं वे भी शिव के पक्ष में संगत हो जाते हैं किन्तु शिवपरक अर्थ यहाँ प्राकरणिक नहीं है। शिवपरक अर्थ प्राकरणिक राजपरक अर्थ के बोध के बाद शब्दशक्ति के द्वारा ज्ञात होता है, अतः यहाँ अभिधामूलध्वनि है।

लक्षणामूलामाह–

लक्षणोपास्यते यस्य कृते तत्तु प्रयोजनम्।

यया प्रत्याय्यते सा स्याद् व्यञ्जना लक्षणाश्रया।।15।।

जिसके लिये लक्षणा का आश्रय लिया जाता है वह प्रयोजन (रूप अर्थ) जिस (शब्द) शक्ति के द्वारा प्रतीत कराया जाता है वह लक्षणाश्रया (लक्षणा) व्यंजना कही जाती है।

'गङ्गायां घोषः' इत्यादौ जलमयाद्यर्थबोधनादभिधायां तटाद्यर्थबोधनाच्च लक्षणायां विरतायां यथा शीतत्वपावनत्वाद्यतिशयादिर्बोध्यते सा लक्षणामूला व्यञ्जना।

'गङ्गायां घोषः' इत्यादि उदाहरण में जलरूप अर्थ का बोध कराकर अभिधा के विरत हो जाने पर तथा तटरूप अर्थ का बोध कराकर लक्षणा के विरत हो जाने पर जिस (शब्दशक्ति) के द्वारा शैत्यपावनत्व आदि अर्थ का बोध कराया जाता है वह लक्षणामूला व्यंजना है।

इस प्रकार यहाँ तक विश्वनाथ ने शाब्दी व्यंजना की चर्चा की, शाब्दी व्यञ्जना में व्यङ्ग्यार्थ शब्द के अधीन रहता है, अर्थात् शब्दविशेष के कारण निकलने वाले व्यङ्ग्यार्थ की स्थिति को शाब्दी व्यंजना कहा जाता है। शाब्दी व्यंजना के दो प्रकार हैं अभिधामूला व्यंजना और लक्षणामूला व्यंजना। इन दोनों का निरूपण हो गया है चूँकि (बताये जाने वाले) वक्ता आदि वैशिष्ट्य से अर्थ भी दूसरे अर्थ का व्यंजक होता है अर्थात् अर्थ से भी व्यङ्ग्यार्थ निकलता है जिसे आर्थी व्यञ्जना कहते हैं उसका निरूपण करने के लिए विश्वनाथ कहते हैं–

एवं शाब्दीं व्यञ्जनामुक्त्वार्थीमाह–

इस प्रकार शाब्दी व्यंजना के निरूपण के पश्चात् अब क्रमप्राप्त आर्थी व्यंजना का निरूपण किया जा रहा है–

वक्तृबोद्धव्यवाक्यानामन्यसंनिधिवाच्ययोः।

प्रस्तावदेशकालानां काकोश्चेष्टादिकस्य च।।16।।

वैशिष्ट्याद‌न्यमर्थं या बोधयेत् साऽर्थसंभवा।।

व्यञ्जनेति सम्बध्यते।

वक्ता, बोद्धव्य, वाक्य, अन्यसन्निधि, वाच्य, प्रस्ताव, देश, काल, काकु तथा चेष्टादि के वैशिष्ट्य से जो अन्य (व्यङ्ग्य) अर्थ का बोध कराती है वह अर्थमूला व्यञ्जना शक्ति है।

तत्र वक्तृवाक्यप्रस्तावदेशकालवैशिष्ट्ये यथा मम–

कालो मधुः कुपित एष च पुष्पधन्वा

धीरा वहन्ति रतिखेदहराः समीराः।

केलीवनीयमपि वञ्जुलकुञ्जमञ्जु–

दूरे पतिः कथय किं करणीयमद्य।।

अत्रैतं देशं प्रति शीघ्रं प्रच्छन्नकामुकस्त्वया प्रेष्यतामिति सखीं प्रति कयाचिद् व्यज्यते।

इनमें वक्ता, वाक्य, प्रस्ताव, देश तथा काल के वैशिष्ट्य के प्रसंग में आर्थी व्यञ्जना का उदाहरण मेरा (विश्वनाथ) का ही जैसे–

पद्य का भावार्थ– वसन्त का समय है, कामदेव कुपित हो उठा है, रति श्रम की थकान को हरने वाली हवाएँ भी बह रही हैं। यह केलिवनिका भी अशोक कुञ्जों से मनभावन हो गई है, परन्तु ऐसे अवसर पर प्रियतम परदेश में जा बसे हैं। हे सखि! तुम ही बताओ मैं क्या करूँ।

इस पद्य में सखी के प्रति नायिका के उक्त कथन का व्यङ्ग्यार्थ यही है कि तुम ऐसे मनमोहक अवसर पर किसी प्रच्छन्न कामुक को भेज दो।

इस पद्य में वक्ता का वैशिष्ट्य– पति के दूर रहने से काम की विह्वलता है। वाक्य का वैशिष्ट्य– अनुभूयमान संभोग की पीड़ा है, प्रस्ताव का वैशिष्ट्य– पति के दूर होने पर करणीयत्व के बारे में परामर्श लेना है। काल का वैशिष्ट्य– वसन्त मास में कामुकता की वृद्धि है।

बोद्धव्य वैशिष्ट्य का उदाहरण देते हुए विश्वनाथ कहते हैं कि–

बोद्धव्यवैशिष्ट्ये यथा–

निःशेषच्युतचन्दनं स्तनतटं निर्मृष्टरागोऽधरो

नेत्रे दूरमनञ्जने पुलकिता तन्वी तवेयं तनुः।

मिथ्यावादिनि! दूति! बान्धवजनस्याज्ञातपीडागमे

वापीं स्नातुमितो गतासि न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकम्।।

पद्य का भावार्थ– स्तन तट पर लगा हुआ चन्दन धुल गया है, होठों का राग नष्ट हो गया है, आँखे काजल से हीन हो गई हैं, तुम्हारे शरीर में रोमाञ्च छाया हुआ है। हे झूठ बोलने वाली तथा अपने बन्धुओं की पीड़ा न समझने वाली दूती! तुम मेरे पास से नहाने के लिये चली गई थी, उस दुष्ट के पास नहीं गई।

अत्र तदन्तिकमेव रन्तुं गतासीति विपरीतलक्षणया लक्ष्यम्। तस्य च रन्तुमिति व्यङ्ग्यं प्रतिपाद्यं दूतीवैशिष्ट्याद् बोध्यते।

इस पद्य में लक्ष्यार्थ यह है कि– 'तुम उस नीच के पास ही गई थी' – जो विपरीतलक्षणा से निकल रहा है और उस लक्ष्यार्थ से– 'रमण करने के लिये गई थी'– यह व्यङ्ग्यार्थ दूती के वैशिष्ट्य से व्यक्त हो रहा ह ।

अन्यसन्निधि का उदाहरण–

अन्यसंनिधिवैशिष्ट्ये यथा–

पश्य निश्चलनिष्पन्दा बिसिनीपत्रे राजते बलाका।

निर्मलमरकतभाजनपरिस्थिता शङ्खशुक्तिरिव।।

अत्र बलाकाया निस्पन्दत्वेन विश्वस्तत्वम्, तेनास्य देशस्य विजनत्वम्, अतः संकेतस्थानमेतदिति कयापि संनिहितं प्रच्छन्नकामुकं प्रत्युच्यते। अत्रैवं स्थाननिर्जनत्वरूपं व्यङ्ग्यार्थवैशिष्ट्यं प्रयोजनम्।

पद्य का भावार्थ– देखो, कमलिनी के पत्ते पर निश्चल और निस्पन्द होकर बलाका बैठी हुई है, वह निर्मल मरकतमणि के पात्र पर रखी शंखशुक्ति के समान सुशोभित हो रही है।

प्रच्छन्न कामुक की सन्निधि में किसी नायिका के द्वारा उक्त कथन किया है। यहाँ बलाका निस्पन्द है– इस वाच्यार्थ से व्यञ्जनावृत्ति द्वारा उस बलाका की विश्वस्तता व्यक्त हो रही है और उस विश्वस्तता रूप व्यङ्ग्यार्थ से उस स्थान की निर्जनता व्यक्त हो रही है, तथा इन दो व्यङ्ग्यार्थों के बाद अन्तिमरूप से यह व्यङ्ग्यार्थ निकलता है कि 'संकेतस्थान यह ही है' अर्थात् हम दोनों के मिलन के लिए सबसे उपयुक्त यही स्थान है। उस स्थान को अपने वाच्यार्थ के द्वारा सर्वात्मना निर्जनत्व साबित करना प्रयोजन है।

'भिन्नकण्ठध्वनिर्धीरैः काकुरित्यभिधीयते' इत्युक्तप्रकारायाः काकोर्भेदा आकरेभ्यो ज्ञातव्याः। एतद्वैशिष्ट्ये यथा–

कण्ठ की भिन्न (उतार चढ़ाव रूप) ध्वनि (उच्चारण प्रकार) के कारण होने वाले अर्थ परिवर्तन को विद्वानों ने 'काकु' कहा है। काकु के भेदों का ज्ञान प्रसिद्ध ग्रन्थों के अध्ययन से जानना चाहिए। विश्वनाथ 'कविराज' यहाँ केवल काकु के वैशिष्ट्य का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं जैसे–

गुरुपरतन्त्रतया बत दूरतरं देशमुद्यतो गन्तुम्।

अलिकुलकोकिलललिते नैष्यति सखि! सुरभिसमयेऽसौ।।

अत्र नैष्यति, अपि तर्हि एष्यत्येवेति काक्वा व्यज्यते।

पद्य का भावार्थ– (पति को परदेश जाने में उद्यत देखकर) कोई नायिका अपनी सखी से कहती है– हे सखि! गुरुजनों (माता-पिता) की आज्ञा के वशीभूत पतिदेव दूरदेश जाने के लिए सन्नद्ध हैं, लगता है वे भौंरों और कोयलों से रमणीय वसन्त समय में भी नहीं आयेंगे।

यहाँ पर नायिका ने आगमन-निषेध के अभिप्राय से ही 'नैष्यति' पद कहा था, किन्तु सखी ने कण्ठ में कुछ परिवर्तन के साथ 'न एष्यति अपितु एष्यत्येव' (नहीं आयेंगे बल्कि आयेंगे ही) उच्चारण किया जिससे अर्थ में पूर्णतः परिवर्तन हो गया। यहाँ काकु के वैशिष्ट्य से निषेधपरक अर्थ से विधिपरक अर्थ की व्यञ्जना हो रही है।

चेष्टावैशिष्ट्ये यथा–

संकेतकालमनसं विटं ज्ञात्वा विदग्धया।

हसन्नेत्रार्पिताकूतं लीलापद्मं निमीलितम्।।

अत्र संध्या संकेतकाल इति पद्मनिमीलनादिचेष्टया कयाचिद् द्योत्यते।

विश्वनाथ 'कविराज' के उक्त पद्य को चेष्टावैशिष्ट्य के उदाहरण के रूप में उद्धृत किया है।

पद्य का भावार्थ– विट को संकेतकाल (मिलन वेला) को जानने में उत्सुक जानकर विदग्ध नायिका ने हँसलोनी आँखों से अपने अभिप्राय को सूचित करने हेतु लीलाकमल को बन्द कर दिया।

यहाँ संध्यावेला ही संकेत काल है, यह नायिका के कमल को बन्द करने रूप चेष्टा से व्यक्त हो रहा है।

एवं वक्त्रादीनां व्यस्तसमस्तानां वैशिष्ट्ये बोद्धव्यम्।

इस प्रकार वक्ता आदि के वैशिष्ट्य रूप उपकरण से आर्थी व्यञ्जना के जो दस भेद होते हैं, उन सभी भेदों का अलग-अलग उदाहरण यहाँ नहीं दिया गया। एक पद्य में अनेक वक्तृबोद्धव्य आदि के वैशिष्ट्य हो सकते हैं अतः इस दृष्टि से मैंने (विश्वनाथ 'कविराज' ने) उदाहरण दिया। वैसे पद्य में वक्तृबोद्धव्य आदि उपकरणों में से एक भी उपकरण हो सकता है।

त्रैविध्यादिमयार्थानां प्रत्येकं त्रिविधा मता।।17।।

अर्थानां वाच्यलक्ष्यव्यङ्ग्यत्वेन त्रिरूपतया सर्वा अप्यनन्तरोक्ता व्यञ्जनास्त्रिविधाः। तत्र वाच्यार्थस्य व्यञ्जना यथा– 'कालो मधुः'– इत्यादि। लक्ष्यार्थस्य यथा– 'निःशेषच्युतचन्दनम्'– इत्यादि। व्यङ्ग्यार्थस्य यथा– 'पश्य निश्चलनिष्पन्दा' इत्यादि। प्रकृतिप्रत्ययादिव्यञ्जकत्वं तु प्रपञ्चयिष्यते।

यह (वक्ता आदि के वैशिष्ट्य रूप उपकरणों से) दस भेद वाली आर्थी व्यञ्जना, अर्थों के वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्ग्य रूप से तीन प्रकार होने से तीन प्रकार की होती है अर्थात् आर्थी व्यञ्जना का प्रत्येक भेद अर्थ के वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्ग्य रूप में रहने के कारण तीन प्रकार का हो जाता है। जिससे इसके 30 भेद आपाततः होने लगते हैं किन्तु वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्ग्य रूप जो त्रिप्रकारक अर्थ है उन सभी में अर्थत्व सामान्य के होने से, अर्थत्वेन अर्थ में कोई भेद नहीं है अतः 30 भेद न होकर 10 ही भेद मान्य होते हैं, यह ध्यातव्य है।

अर्थों के वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्ग्य भेद से तीन प्रकार का होने के कारण अभी जिस आर्थी व्यञ्जना का निरूपण किया गया है वह भी (अपने प्रत्येक भेद में) तीन प्रकार की होती है। उसमें वाच्यार्थ की व्यञ्जना का उदाहरण 'कालो मधुः' इत्यादि पद्य है। लक्ष्यार्थ की व्यञ्जना का उदाहरण 'निःशेषच्युतचन्दनम्' इत्यादि पद्य है। व्यङ्ग्यार्थ की व्यञ्जना का उदाहरण 'पश्च निश्चलनिष्पन्दा' इत्यादि पद्य है। प्रकृति तथा प्रत्यय आदि की भी व्यञ्जकता होती है अतः इसका उदाहरण बाद (रसनिरूपण के प्रसंग) में दिया जायेगा।

शब्दबोध्यो व्यनक्त्यर्थः शब्दोऽप्यर्थान्तराश्रयः।

एकस्य व्यञ्जकत्वे तदन्यस्य सहकारिता।।18।।

यतः शब्दो व्यञ्जकत्वेऽप्यर्थान्तरमपेक्षते, अर्थोऽपि शब्दम्, तदेकस्य व्यञ्जकत्वेऽन्यस्य सहकारितावश्यमङ्गीकर्तव्या।

शब्द द्वारा बोधित हुआ अर्थ अर्थान्तर (व्यङ्ग्यार्थ) को व्यक्त करता है और शब्द भी अर्थान्तर (वाच्य, लक्ष्य अथवा व्यङ्ग्य) का आश्रय लेकर व्यङ्ग्यार्थ को प्रकाशित करता है इसलिए एक की व्यञ्जकता में दूसके की सहकारिता मानी जाती है।

चूँकि शब्द व्यञ्जकता में अर्थान्तर की अपेक्षा करता है और अर्थ भी शब्द की, इसलिए एक (शब्द या अर्थ) की व्यञ्जकता में दूसरे की सहकारिता अवश्य स्वीकार करनी चाहिए।

अभिधादित्रयोपाधिवैशिष्ट्यात् त्रिविधो मतः।

शब्दोऽपि वाचकस्तद्वल्लक्षको व्यञ्जकस्तथा।।19।।

अभिधोपाधिको वाचकः। लक्षणोपाधिको लक्षकः। व्यञ्जनोपाधिको व्यञ्जकः।

अभिधा आदि तीन उपाधि वैशिष्ट्य के कारण शब्द भी वाचक, लक्षक और व्यञ्जक रूप में तीन प्रकार का होता है।

अभिधा है उपाधि जिस शब्द की वह शब्द 'वाचक' कहलाता है, लक्षणा उपाधि वाला शब्द 'लक्षक' कहलाता है, व्यञ्जना उपाधि वाले शब्द को 'व्यञ्जक' कहा जाता है।

किञ्च–

तात्पर्याख्यां वृत्तिमाहुः पदार्थान्वयबोधने।

तात्पर्यार्थं तदर्थं च वाक्यं तद्बोधकं परे।।20।।

अभिधाया एकैकपदार्थबोधनविरामाद् वाक्यार्थरूपस्य पदार्थान्वयस्य बोधिका तात्पर्यं नाम वृत्तिः। तदर्थश्च तात्पर्यार्थः। तद्बोधकं च वाक्यमित्यभिहितान्वयवादिनां मतम्।

इति साहित्यदर्पणे वाक्यस्वरूपनिरूपणो नाम द्वितीयः परिच्छेदः।

पदार्थों के परस्पर (आकांक्षा, योग्यता तथा आसक्ति पूर्वक) अन्वय बोध में तात्पर्यवृत्ति का उपयोग होता है, तात्पर्यवृत्ति से प्राप्त अर्थ को तात्पर्यार्थ भी कहा जाता है, कुछ आचार्य– 'तात्पर्यार्थ का बोधक वाक्य होता है', ऐसा कहते हैं।

एक-एक पद के अर्थ का बोधन कर अभिधा शक्ति के विरत हो जाने पर पदार्थों के पारस्परिक अन्वय बोध की शक्ति तात्पर्या है, तात्पर्यशक्ति से उत्पन्न अर्थ तात्पर्यार्थ कहा जाता है। उस तात्पर्यार्थ का बोधक वाक्य होता है, ऐसा अभिहितान्वयवादियों का मत है।

साहित्यदर्पण में वाक्य के स्वरूप का निरूपण करने वाला द्वितीय परिच्छेद पूर्ण होता है।

7.4 सारांश

प्रस्तुत इकाई के माध्यम से आपने काव्यशास्त्र के अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों का अध्ययन किया। विश्वनाथ 'कविराज' साहित्यदर्पण के द्वितीय-परिच्छेद का प्रारम्भ वाक्यलक्षण के निरूपण से करते हैं। चूँकि विश्वनाथ 'कविराज' ने प्रथमपरिच्छेद में काव्य का लक्षण– 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' किया था अतः उक्त काव्यलक्षण, पाठकों को ठीक से समझाने के लिए विश्वनाथ 'कविराज' द्वारा वाक्य का निरूपण किया जाना आवश्यक था। विश्वनाथ 'कविराज' के मत

में वाक्य का लक्षण– 'वाक्यं स्याद्योग्यताकाङ्क्षासत्तियुक्तः पदोच्चयः' है। अर्थात् आकाङ्क्षा, योग्यता और आसत्ति से युक्त पद के समूह को वाक्य कहा जाता है। वाक्य, वाक्य और महावाक्य के भेद से दो प्रकार का होता है। इसके बाद विश्वनाथ 'कविराज' अर्थ का वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्ग्य नाम से तीन भेद करते हैं इस तीन अर्थों का बोध क्रमशः तीन भिन्न-भिन्न शब्दशक्तियों से होता है ये शक्तियाँ हैं– अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना। इसके पश्चात् विश्वनाथ 'कविराज' ने अभिधा आदि तीनों शब्दशक्तियों का निरूपण किया। जिसमें लक्षणा का प्रसंग अतीव विस्तृत है। विश्वनाथ के मत में लक्षणा के अस्सी भेद हैं। इसके बाद व्यञ्जना का निरूपण किया गया है। इस परिच्छेद के अन्त में तात्पर्यवृत्ति का निरूपण किया गया है जो वाक्यार्थ की बोधिका वृत्ति है।

7.5 कुछ उपयोगी पुस्तकें

- साहित्यदर्पणम्,व्याख्याकार आचार्य शेषराजशर्मा रेग्मी, चौखम्बा कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, 2010
- साहित्यदर्पणः, व्याख्याकारः पं. हरेकान्तमिश्रः, चौखम्भा ओरियन्टालिया, दिल्ली,2017
- साहित्यदर्पणः, व्याख्याकार श्रीशालिग्रामशास्त्रि, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली,1986।
- साहित्यदर्पण , व्याख्याकार मिश्रोऽभिराजराजेन्द्रः, अक्षयवट प्रकाशन प्रयागराज।
- साहित्यदर्पणः, (मंजू–संस्कृतव्याख्या– हिन्द्यनुवादोपेतः) व्याख्याकार लोकमणिदाहालादि– चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, स0 2054
- साहित्यदर्पण–विश्वनाथ, (व्याख्याकार)सत्यव्रतसिंह, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1988

7.6 अभ्यास प्रश्न

1 साहित्यदर्पण के अनुसार वाक्य और महावाक्य को स्पष्ट कीजिए।

2 संकेतग्रह क्या है? स्पष्ट कीजिए।

3 अभिधा शक्ति से आप क्या समझते हैं?

4 ''**मुख्यार्थबाधे तद्युक्तो ययान्योऽर्थः प्रतीयते।**'' कारिका की व्याख्या कीजिए।

5 ''**विरतास्वभिधाद्यासु ययाऽर्थो बोध्यते परः।**'' कारिका की व्याख्या कीजिए।

इकाई 8 रस निरूपण, रसभेद, रसाभास एवं भावाभास

8.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

8.7 अभ्यास प्रश्न

8.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप–

- रस निरूपण के माध्यम से रस के वैशिष्ट्य को जान सकेंगे।
- रस के आस्वादन की प्रक्रिया को समझ सकेंगे।
- रस के भेदों का विस्तारपूर्वक अध्ययन कर सकेंगे।
- रसाभास और भावाभास के स्वरूप को समझ सकेंगे।

8.1 प्रस्तावना

काव्य के आस्वादन की प्रक्रिया में रस ही एकमात्र ऐसा तत्त्व है जो सम्पूर्ण काव्य की आधारशिला है। इसी महत्त्व को देखते हुए रस को काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार किया गया है। रस के बिना काव्य का अस्तित्व नहीं है। रस के इसी वैशिष्ट्य को देखते हुए कविराज विश्वनाथ काव्य के स्वरूप में रस को ही प्रधान मानते हैं। ''रस्यते आस्वाद्यते इति रसः'' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिसका आस्वादन किया जाये वही रस है। यह रस काव्य में विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव के परस्पर मिल जाने से प्राप्त होता है। विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव ही मिलकर रस की अभिव्यक्ति कराते हैं। विभावादि के द्वारा अभिव्यक्त रत्यादि स्थायी भाव रस हुआ करता है।

प्रस्तुत इकाई के माध्यम से आप विस्तारपूर्वक रस के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करेंगे तथा साथ ही साथ रस के आस्वादन की प्रक्रिया को भी समझेंगे।

8.2 रस-निरूपण

साहित्यदर्पण के तृतीय-परिच्छेद के आरम्भ में कविराज विश्वनाथ रस के स्वरूप का वर्णन करते हैं – विभाव, अनुभाव तथा संचारी भावों से रत्यादि स्थायी भाव जब आनन्दस्वरूप होकर रसता को प्राप्त हो जाते हैं, उसकी रस संज्ञा होती है, अर्थात् उसको ''रस'' नाम से अभिहित किया जाता है।

वस्तुतः साहित्यदर्पणकार की यह रस परिभाषा **''विभावानुभाव व्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः''** अर्थात् विभाव, अनुभाव तथा संचारी भाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है, इसी का ही

अनुकरण है परन्तु कविराज के इस लक्षण में ''सचेतसाम्'' यह पद विशिष्ट अर्थ का बोध कराता है। ''रस की प्रतीति सहृदय को ही होगी'' यह इस पद का आशय है।

आचार्य अभिनवगुप्त भी सहृदयहृदय में ही इस की अभिव्यक्ति को मुक्तकण्ठ से अस्वीकार करते हैं।

8.2.1 रत्यादिरूप स्थायीभाव ही 'रस' है

वस्तुतः रत्यादिरूप स्थायीभाव ही रस है। यह रत्यादिरूप स्थायी भाव रसानुभूति का आन्तरिक एवं मुख्य कारण है। यह स्थायी भाव मन में रहने वाला एक संस्कार विशेष है जो अनुकूल विषयों के प्राप्त होने पर सक्रिय हो जाता है। सक्रिय होकर अभिव्यक्त हो जाने पर हृदय में उद्भूत आनन्दातिरेक का संचार कर देता है। यह स्थायी भाव ही रसास्वादजनक होने के नाते रस शब्द से बोधित होता है। इसी भाव को कविराज विश्वनाथ इस प्रकार प्रकट करते हैं–

विभावेनानुभावने व्यक्तः सञ्चारिणा तथा।

रसतामेति रत्यादिः स्थायी भावः सचेतसाम्।।1।।

सहृदय हृदय में रत्यादि स्थायी भाव विभाव, अनुभाव तथा संचारी भाव के द्वारा प्रकट होते हुए रसता को प्राप्त हो जाते हैं तब रस कहलाता है अर्थात् विभाव, अनुभाव तथा संचारी भावों से जब रत्यादि स्थायी भाव मिल जाते हैं तब सहृदय हृदय लोगों को रस की प्रतीति होती है।

रस-प्रक्रिया – विभावादि योजना और स्थायी भाव की रसरूप में अभिव्यक्ति

विभावादयो वक्ष्यन्ते। सात्त्विकाश्चानुभावरूपत्वात् न पृथगुक्ताः, व्यक्तो दध्यादिन्यायेन रूपान्तरपरिणतो व्यक्तीकृत एव रसो न तु दीपेन घट इव पूर्वसिद्धो व्यज्यते।

विभावादियों को आगे बताया जायेगा। सात्त्विक भाव अनुभाव रूप ही है, इसीलिए इनको अलग से नहीं कहा गया है। व्यक्त का अभिप्राय रत्यादि न्याय से एक दूसरे रूप में अर्थात् रस रूप में बदलने से है अर्थात् रस रूप में जो रत्यादिभावों की अभिव्यक्ति है वह दुग्ध की दृष्टि रूप में परिणति जैसी है। रस दीप से घट के प्रकाशित होने के समान पूर्वसिद्ध वस्तु नहीं है। यहाँ दध्यादिन्याय का यह आशय है कि जैसे दूध दही के रूप में बदल जाता है, उसी प्रकार सहृदय के संयोग से रूपान्तर परिणत होकर रस बन जाया करती है अर्थात् रस पहले से सिद्ध वस्तु नहीं है। वह संयोग से रूपान्तर परिणत होती है।

रस घटादिन्याय से सिद्ध वस्तु नहीं हो सकती क्योंकि दीपक से पहले से विद्यमान घट का प्रकाश किया जाता है। घट वहाँ पहले से सिद्ध वस्तु है। रस पहले से सिद्ध वस्तु नहीं है कि विभावादि द्वारा उसको दीपक की भाँति प्रकाशित कर दिया जाये। अतः इससे यह सिद्ध होता है कि रस दध्यादिन्याय से सिद्ध वस्तु है।

तदुक्तं लोचनकारैः— रसाः प्रतीयन्त इतित्वोदनं पचतीतिवद् व्यवहारः इति। अत्र च रत्यादिपदोपादानादेव प्राप्ते स्थायित्वे पुनः स्थायिपदोपादानं रत्यादीनामपिरसान्तरेष्वस्थायित्वप्रतिपादनार्थम्। तश्च हासक्रोधादयः शृंगारवीरादौ व्यभिचारिण एव। तदुक्तम् —

''रसावस्थः परम्भावः स्थायितां प्रतिपद्यते'' इति।

लोचनकार ने कहा है — रस प्रतीत होते हैं, यह तो 'चावल पका रहे हैं' जैसा व्यवहार है। **''रसतामेति रत्यादिः स्थायी भावः सचेतसाम्''** यहाँ पर रत्यादि के विशेषण के रूप में स्थायी भाव का कथन विशिष्ट उद्देश्य का परिचायक है। **'रत्यादिः स्थायीभावः'** कहने का यह प्रयोजन है कि एक रस में यदि रत्यादि चित्रवृत्ति स्थायी है तो दूसरे में वह अस्थायी रहेगी। जैसे हास अथवा क्रोध रत्यादि शृंगार एवं वीर रस में व्यभिचारी के रूप में रहते हैं, इसीलिए कहा गया है—

वही भाव वस्तुतः स्थायी भाव होता है जो कि रस रूप में अभिव्यक्त होता है।

वस्तुतः जैसे पाक क्रिया के सम्बन्ध के द्वारा तण्डुल को ओदन कहा जाता है वैसे ही रसन क्रिया के द्वारा सामाजिक वासना रूपी संस्कार विशेष भी रस कहा जाता है। जैसे पाक क्रिया के पूर्व तण्डुल को ओदन नहीं कहा जाता वैसे ही रसन क्रिया के पूर्व रत्यादि वासना भी रस नहीं कही जा सकती।

रत्यादि स्थायी भाव यदि एक रस में स्थायी के रूप में वर्णित है तो दूसरे में वे ही स्थायी भाव व्यभिचारी भाव के रूप में रहते हैं। इस प्रकार स्थायी भावों की दो प्रकार की गति है। स्थायीभाव के रूप में तथा व्यभिचारी भावों के रूप में। जैसा कि कहा गया है —

शृंगारवीरयोर्हासो वीरे क्रोधस्तथा मनः।

शान्ते जुगुप्सा कथिता व्यभिचारितया पुनः।।

अर्थात् शृंगार रस में हास तथा वीर रस में क्रोध एवं शान्त रस में जुगुप्सा को व्यभिचारी कहा गया है।

8.2.2 रस और रस का आस्वाद

रस के स्वरूप के बाद रस के आस्वादन की प्रक्रिया का वर्णन कविराज विश्वनाथ इस प्रकार करते हैं –

सत्त्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मयः।

वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः।।2।।

लोकोत्तरचमत्कारप्राणः कैश्चित् प्रमातृभिः।

स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः।।3।।

कोई प्रमाता (सहृदय सामाजिक जन अथवा ज्ञाता) सत्त्व के उद्रेक से अर्थात् जब उनके मन में सत्त्व की प्रबलता होती है तब रस का आस्वादन करता है अर्थात् उनको रस की अभिव्यक्ति तब होती है जब उनके हृदय में काव्य तथा नाट्य परिशीलन की महिमा से सत्त्व की प्रबलता हो जाती है अर्थात् उनका मन रज और तम से बिल्कुल अलग हो जाता है तब यह रस अखण्ड है क्योंकि इसमें विभाव इत्यादि का अलग-अलग अनुभव असम्भव है अर्थात् इसमें विभाव इत्यादि के सम्मिलित रूप को ही ग्रहण किया जाता है। यह रस अपने प्रकाश से प्रकाशित है क्योंकि यह किसी अन्य के द्वारा प्रकाशित नहीं हुआ करता, रस रूप अनुभव तो स्वयं प्रकाशित होता है तथा यह रस आनन्द से संवलित ज्ञान रूप है अर्थात् आनन्दमय रत्यादि रूप है। यह रस अन्य किसी ज्ञेय वस्तु के साथ भी जुड़ नहीं सकता अर्थात् यह रस एक ऐसा विषय है जिसके साथ अन्य ज्ञेय वस्तु का स्पर्श नहीं हो सकता, यह उस प्रकार के स्पर्श से सर्वथा रहित है। यह ब्रह्मास्वाद सहोदर भी है क्योंकि ब्रह्म के आस्वादन में जितना अलौकिक आनन्द प्राप्त होता है वैसा ही अलौकिक आनन्द इसमें प्राप्त होता है। यह ब्रह्मसाक्षात्कार जैसा है। यह अलौकिक आन्नदरूपी चमत्कार का मुख्य तत्त्व है, सार है। इस रस का आस्वादन कैसे किया जाता है, अब वह बताते हैं – आत्मसाक्षात्कार के द्वारा इस रस का अस्वादन किया जाता है जिसमें ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का भेद नहीं होता है। आत्मसाक्षात्कार निर्विषय होता है। इसमें ब्रहमानन्द के अनुभव की तरह अर्थात् ब्रह्मसाक्षात्कार की तरह ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का भेद मिट जाता है।

रस और रस के आस्वादन के इस क्रम में सत्त्व के उद्रेक तथा आत्मस्वरूप के साक्षात्कार के ऊपर अत्यधिक जोर दिया गया है। अज्ञान अथवा अविज्ञा रूपी आवरण के हटने के बाद सत्त्व का उद्रेक होता है तब फिर आत्मसाक्षात्कार होता है। इसीलिए सत्त्वोद्रेकात्'' यह सबसे पहले कहा गया है। यह सत्त्वोद्रेक स्वाकारवत् से ही सम्भव है। स्वाकारवत् का अभिप्राय है– जैसे ज्ञान और ज्ञान के विषय में अभेद स्वीकार किया जाता है वैसे ही आस्वाद विषय रस और आस्वाद भी भिन्न नहीं है अपितु एक अभिन्न तत्त्व है।

रस अखण्ड है – विभाव, अनुभाव तथा संचारी भावों से समूहालम्बनात्मक रूप होने के कारण एक है, विषय भेद से अलग-अलग नहीं है, अतः रस अखण्ड है।

रस स्वप्रकाश है – अपने आप से रस प्रकाशित है किसी अन्य ज्ञान से गम्य नहीं है। जैसे ज्ञानान्तर अपने विषय घटादि को प्रकाशित करना है, वैसे ही रस अपने आपको प्रकाशित करता है।

रस आनन्द चिन्मय है – रस आनन्द से युक्त ज्ञान है अर्थात् रस ऐसा ज्ञान हे जो आनन्द से संवलित है।

रस वेद्यान्तरस्पर्शशून्य है – रस अन्य किसी पदार्थ के स्पर्श से सर्वथा शून्य है, अतः रस के आस्वादन के समय रस की ही प्रतीति होती है अन्य किसी ज्ञान की नहीं।

रस ब्रह्मास्वाद सहोदर है – आनन्द से युक्त होने के कारण ब्रह्मसाक्षात्कार के समान है। यहाँ सहोदर शब्द का अर्थ सदृश है। ब्रह्मास्वाद में तो ब्रह्म का ही साक्षात्कार होता है लेकिन रस में विभावादियों का साक्षात्कार होता है। अतः यह ब्रह्मास्वाद से पृथक् होने के कारण ब्रह्मास्वाद सहोदर है।

रस लोकोत्तर चमत्कार प्राण है – अलौकिक आनन्द को उत्पन्न करने वाले चमत्कार का सारभूत है, रस। रस से लोकोत्तरचमत्कार उत्पन्न होता है। जैसे – नायक को नायिका की रति में लौकिक चमत्कार की अनुभूति होती है परन्तु सहृदयों को अलौकिक चमत्कार की अनुभूति होती है।

"रजस्तमोभ्यामस्पृष्टं मनः सत्त्वमिहोच्यते" इत्युक्तप्रकारो बाह्यमेयविमुखतापादकः कश्चनान्तरो धर्मः सत्त्वम्। तस्ययोद्रेको रजस्तमसी अभिभूय आविर्भावः। अत्र च हेतुस्तधाविधालौकिककाव्यार्थपरिशीलनम्।

अखण्ड इत्येक एवायं विभावादिरत्यादिप्रकाशसुखचमत्कारात्मकः। अत्र हेतुं वक्ष्यामः। स्वप्रकाशत्वाद्यपि वक्ष्यमाणरीत्या। चिन्मय इति स्वरूपार्थे मयट्।

चमत्कारश्चित्रविस्ताररूपो विस्मयापरपर्य्यायः। तत्प्राणत्वञ्चस्मद्वृद्धप्रपितामह सहृदयगोष्ठीगरिष्ठकविपण्डितमुखश्रीमन्नारायणपादैरुक्तम्।

तदाह धर्मदत्तः स्वग्रन्थे –

"रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राऽप्यनुभूयते।

तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राऽद्भुतो रसः।

तस्माददद्भुतमेवाह कृती नारायणो रसम्''।।इति।

कैश्चिदिति प्राक्तनपुण्यशालिभिः।

यदुक्तम्– ''पुण्यवन्तः प्रमिण्वन्ति योगिवद्रससन्ततिम्'' ।इति।

रजोगुण तथा तमोगुण से रहित मन को सत्त्व कहा गया है। इस प्रकार से बाह्यमेय पदार्थों के प्रति विमुखता को उत्पन्न करने वाला कोई अन्य धर्म सत्त्व कहा जाता है अर्थात् अन्य समस्त घट-पटादि वस्तुओं के ज्ञान के प्रति विमुखता को उत्पन्न करने वाला धर्म विशेष ही सत्त्व कहलाता है। इस सत्त्व का उद्रेक रजोगुण और तमोगुण को दबाकर होता हैं। यहाँ कारण है उस प्रकार के अलौकिक काव्यार्थ का परिशीलन अर्थात् सत्त्वोद्रेक का हेतु है अलौकिक काव्यार्थ के आनन्द को प्राप्त करना।

कारिका में आये हुए अखण्ड पद का अर्थ बताते हुए कहते है – विभावादि रति इत्यादि के व्यंजक सुख एवं चमत्कार से युक्त अखण्ड कहलाता है। यह अखण्ड एक है, भिन्न नहीं है। इसका कारण आगे कहेंगे। ''स्वप्रकाश'' इसका भी कथन आगे किया जायेगा। चिन्मय इस शब्द में स्वरूप के अर्थ में मयट् प्रत्यय है अर्थात् रस चिन्मय है, चिद्रूप है।

चमत्कार चित्र का विस्तार रूप है और विस्मय का अपर पर्याय है अर्थात् नामान्तर है। यह विस्मय अथवा चमत्कार क्या है? यह हमारे वृद्ध प्रतिमामह, सहृदयों की सभा में वरिष्ठ, कवि, पण्डित, श्रीमान् नारायण ने कहा है। जिसे धर्मदत्त ने अपने ग्रन्थ में लिखा है –

रस में चमत्कार ही सारभूत है और यह सभी जगह अनुभव किया जाता है, उस चमत्कार के सार में सर्वत्र अद्भुत रस अनुभूत किया जाता है इसीलिए नारायण ने रस को अदुभूत कहा है। अर्थात् रस चमत्कार का सार है। कैश्चित् इस पद से पूर्व जन्म में किये गये पुण्यों से युक्त पुरुषों से है। जैसा कि कहा गया है –

योगियों की तरह वे लोग पुण्यवान् हैं जो रससमूह का आनन्द लेते हैं अर्थात् प्राक्तन पुण्यशाली लोग योगियों की तरह श्रृंगारादि रसों का साधुतया अनुभव करते हैं। योगीजन जैसे ब्रह्मसाक्षात्कार का आनन्द लेते हैं वैसे ही पुण्यशाली जन भी रसास्वादन करते हैं।

यद्यपि ''स्वादः काव्यार्थसम्भेदादात्मानन्द्समुद्भवः'' इत्युक्तदिशा रसस्यास्वादानतिरिक्तत्वभुक्तम्, तथापि ''रसः स्वाद्यते'' इति काल्पनिकं भेदमुररीकृत्य कर्मर्त्तरि वा प्रयोग। तदुक्तम्– ''रस्यमानतामात्रसारत्वात् प्रकाशशरीरादनन्म एव हि रसः'' इति। एव मन्यत्राप्येवंविधस्थलेषूपचारेण प्रयोगो ज्ञेयः''।

प्रस्तुत वृत्ति में रस और आस्वाद के बारे में बताया गया है।

यद्यपि स्वाद अर्थात् आस्वाद काव्यार्थ से संवलित सहृदय के आत्मानन्द का आस्वाद है। आस्वाद सर्वदा विभावादियों से युक्त काव्यार्थ से अन्वित होता है, जिसका सहृदय जन आनन्द से साक्षात्कार करते हैं। सहृदय सामाजिक स्वप्रकाशानन्द आत्मतत्तव का साक्षात्कार किया करते हैं। इस कारण से रस आस्वाद के अतिरिक्त और कोई तत्व नहीं है। रस और आस्वाद अनतिरिक्त अर्थात् अभिन्न है। परमार्थतः दोनों में कोई भेद नहीं है फिर भी ''रस का आस्वाद किया जाता है'' इस प्रकार के काल्पनिक भेद को स्वीकार करके कर्म और कर्त्ता के अर्थ में इसका प्रयोग किया जाता है। रस स्वयं ही अपने सारभूत, अपने से अभिन्न आस्वाद का विषय है इसीलिए कहा गया है— रस्यमानता मात्र सार है जिसका ऐसे रस से प्रकाशशरीर से अर्थात् आत्मतत्त्व से अनन्य अर्थात् अभिन्न वस्तु ही रस है। इस प्रकार से अन्य दूसरे स्थलों पर भी उपचार से ही यह प्रयोग जानना चाहिए अर्थात् जहाँ रस और आस्वाद का भेद प्रतीत हो वहाँ उपचार अर्थात् काल्पनिक भेद का आश्रय लेना चाहिए।

यहाँ प्रकाशशरीरान् का तात्पर्य संवित् स्वरूपात् है अर्थात् संवित् अर्थात् ज्ञान स्वरूप, आत्मस्वरूप है।

नन्वेतावता रसस्याज्ञेयत्वमुक्तं भवतीति व्यञ्जनायाश्च ज्ञानविशेषत्वाद् द्वयोरैक्यमापतितम्। ततश्च —

> **स्वज्ञानेनान्यधीहेतुः सिद्धेऽर्थे व्यञ्जको मतः।**
>
> **यथा दीपोऽन्यथाभावे को विशेषोऽस्य कारकात्।।**

इत्युक्तदिशा घटप्रदीपवद्व्यङ्ग्यव्यञ्जकयोः पार्थक्यमेवेति कथं रसस्य व्यङ्ग्यतेति चेत्, सत्यमुक्तम्। अत एवाहुः— 'विलक्षण एवायं कृतिज्ञप्तिभेदेभ्यः स्वादनाख्यः काश्चिदव्यापारः। अत एव हि रसनास्वादनचमत्करणादयो विलक्षणा एव व्यपदेशाः' इति अभिधादिविलक्षणव्यापारमात्रप्रसाधनग्रहिलैरस्माभी रसादीनां व्यङ्ग्यत्वमुक्तं भवतीति।

यहाँ एक प्रश्न है कि अब तक रस और आस्वाद दोनों को अभिन्न अर्थात् एक स्वीकार किया गया है। रस को अज्ञेय कहा गया है अर्थात् स्वभिन्न ज्ञान से अग्राह्य और व्यंजना को ज्ञान विशेष अर्थात् विशिष्ट ज्ञान रूप। दोनों में एक्य सम्बन्ध अर्थात् दोनों में अभिन्न अथवा एक सम्बन्ध आ गया। रस और व्यंजना दोनों एक हो गए। जब रस और व्यंजना एक ही है तब रस को व्यंग्य अर्थात् व्यंजना से बोधित क्यों कहा जाये। रस तो तभी व्यंग्य हो सकता है जब व्यंजना उससे अलग हो, समान होने पर रस व्यंग्य नहीं हो सकता है।

वस्तुतः व्यंग्यव्यंजक भाव तो वस्तुभेद में ही सम्भव होता है। घट और प्रदीप में व्यंग्यात्मक भाव इसीलिए है क्योंकि प्रदीप और घट भिन्न-भिन्न वस्तुएँ हैं इसीलिए अपने आपको प्रकाशित करते हुए अपने से भिन्न किसी पूर्वसिद्ध वस्तु को सिद्ध करने वाला पदार्थ व्यंजक होता है,

जैसे– दीप, दीप अर्थात् प्रदीप इसीलिए व्यंजक कहलाता है क्योंकि वह अपने आपको प्रकाशित करते हुए, अपने से भिन्न घटादियों को भी प्रकाशित करता है।

इस प्रकार घट और प्रदीप की तरह व्यंग्यव्यंजक भाव होने से दोनों में पृथकता है। अतः रस में व्यंग्य क्यों है? यह प्रश्न है– यह सत्य है कि रस व्यंग्य कैसे होगा? इसीलिए कहते हैं– कृति तथा ज्ञप्ति भेदों से विलक्षण यह स्वादन अर्थात् आस्वादन अथवा रस नामक व्यापार अलौकिक एवं अनिर्वचनीय है इसीलिए इसको रसन, आस्वादन, चमत्करण आदि विलक्षण अर्थात् अलौकिक शब्दों द्वारा कहा जाता है।

यहाँ कृति अर्थात् कारक हेतु का व्यापार, ज्ञप्ति अर्थात् ज्ञापक हेतु का व्यापार है। वस्तुतः दो प्रकार के हेतु माने गये हैं– 1. कारक हेतु, 2. ज्ञापक हेतु। कारक हेतु के व्यापार को कृति कहते हैं तथा ज्ञापक हेतु के व्यापार को ज्ञप्ति कहते हैं।

1. कारक हेतु – पूर्व असिद्ध वस्तु को सिद्ध बनाने वाला हेतु 'कारक' हेतु कहलाता है। इसको उत्पादक भी कहते हैं, जैसे– घट इत्यादि को बनाने में चक्र, चीवर आदि कारक हेतु हैं। चक्र, चीवर, दण्ड रत्यादिसे घट का निर्माण होता है।

2. ज्ञापक हेतु – अपने आप को प्रकाशित करते हुए पूर्वसिद्ध वस्तु को प्रकाशित करने वाला हेतु ज्ञापक हेतु कहलाता है, जैसे– घट एवं प्रदीप।

अतः रस न ज्ञापक हेतु है, न ही कारक हेतु है। इन दोनों हेतु से अलग एवं विलक्षण है रस।

इस प्रकार अभिधा, लक्षणा से विलक्षण व्यंजना नामक व्यापार के साधन में प्रयत्नपूर्वक लगे हुए हमारे द्वारा भी रस को व्यंग्य ही कहना चाहिए अर्थात् रस व्यंग्य है इसका यही अर्थ है कि रस विलक्षण रसनात्मक व्यापार का विषय हैं। यह रसनात्मक व्यापार अनिर्वयनीय अथवा विलक्षण व्यंजना व्यापार ही है। रसनात्मक प्रतीति व्यंजना व्यापार से ही होती है। अतः रस व्यंग्य ही है।

ननु तर्हि करुणादीनां रसानां दुःखमयत्वाद्रसत्वं (तदुन्मुखत्वं) न स्यादित्युच्यते –

करुणादावपि रसे जायते यत्परं सुखम्।

सचेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम्।।4।।

आदिशब्दाद् बीभत्सभयानकादयः। तथाऽप्यसहृदयानां मुखमुद्रणाय पक्षान्तरमुच्यते –

किञ्च तेषु यदा दुःखं न कोऽपि स्यात्तदुन्मुखः।

नहि कश्चित् सचेता आत्मनो दुःखाय प्रवर्त्तते। करुणादिषु च सकलस्यापि साभिनिवेशप्रवृत्तिदर्शनान् सुखमयत्वमेव।

यदि रस आनन्दरूप है तो यह प्रश्न है कि करुण इत्यादि रसों में दुःख होने के कारण रसत्व नहीं है जबकि करुण इत्यादि रसों में भी रसत्व तो होता ही है।

इसका समाधान कहते हैं –

करुण इत्यादि रसों में भी अत्यधिक सुख होता है। सहृदयों का अनुभव ही इसमें प्रमाण है अर्थात् सहृदयों के अनुभव के आधार पर करुण इत्यादि रस भी आनन्दस्वरूप ही होते हैं।

आदि श्ब्द से वीभत्स, भयानक आदि का ग्रहण करना चाहिए अर्थात् वीभत्स और भयानक भी रस ही हैं, ये काव्य-नाट्य के आनन्दात्मक चमत्कार ही हैं।

फिर भी असहृदयों के लिए अर्थात् असहृदयों को निरुत्तर करने के लिए दूसरा पक्ष बताते हैं। हो सकता है असहृदय ये बात न मानें कि करुणादि रसों के सुखस्वरूप होने में सहृदयों का अनुभव ही प्रमाण है तो उनके लिए यह कहते हैं – यदि उसमें दुःख है तो कोई उसके प्रति उन्मुख क्यों हुआ करता अर्थात् करुणादि रस में जब दुःख है तो कोई भी उसके लिए लालायित क्यों होता है? भाव यह है कि कोई दुःख की अनुभूति क्यों करना चाहेगा। चाहे वह सहृदय हो अथवा असहृदय। कोई भी समझदार अथवा बुद्धिमान् व्यक्ति अपने आप को दुःख नहीं पहुँचाता है। करुण इत्यादि रसों में सभी की चाहे वह सहृदय हों अथवा असहृदय हों प्रीति देखी जाती है, सभी लोग करुण रस के आनन्द में अपने आप को डूबोना चाहते हैं, इसीलिए करुण इत्यादि रस भी सुःखस्वरूप है, आनन्दरूप है।

वस्तुतः लौकिक करूणता में कोई निमग्न नहीं होना चाहता लेकिन काव्य करूणता में हर कोई तन्मय होना चाहता है, अतः करुणादिरस भी तन्मयता के उद्बोधम आनन्द रूप ही है।

अनुपपत्त्यन्तरमाह –

तथा रामायणादीनां भविता दुःखहेतुता।।5।।

करुणरसस्य दुःखहेतुत्वे करुणरसप्रधानरामायणादिप्रबन्धानामपि दुःखहेतुताप्रसङ्गः स्यात्।

करुणादि रसों की अनुपपत्ति का दूसरा कारण बताते हैं –

यदि करुण इत्यादिरसों को दुःखात्मक स्वीकार कर लें तो रामायण, महाभारत रत्यादिभी दुःख के कारण हो जायेंगे। रामायण महाभारत इत्यादि तो आनन्द को प्रकट करने वाले हैं यदि इनमें भी दुःखहेतुता स्वीकार की जाये तो कौन इनको स्वीकार करेगा? यदि करुण रस को

दुःख का कारण माना जाता है तो करुण रस प्रधान रामायण इत्यादि प्रबन्धों में भी दुःख होने लगेगा अर्थात् सामाजिकों के लिए रामायण इत्यादि प्रबन्ध भी दुःखमय हो जायेंगे।

ननु कथं दुःखकारणेभ्यः सुखोत्पत्तिरित्याह

हेतुत्वं शोकहर्षादेर्गतेभ्यो लोकसंश्रयात्।

शोकहर्षादयो लोके जायन्तां नाम लौकिकाः।।6।।

अलौकिकविभावत्वं प्राप्तेभ्यः काव्यसंश्रयात्।

सुखं सञ्जायते तेभ्यः सर्वेभ्योऽपीति का क्षतिः।।7।।

अब यहाँ प्रश्न है कि करुण इत्यादि रस तो दुःख के कारण हैं, तो इन दुःख के कारणों से सुखोत्पत्ति कैसे हो सकती है, इसका समाधान करते हैं—

लोक अथवा संसार में होने वाले शोक एवं हर्ष रत्यादिशोक एवं हर्ष के ही कारण होते हैं, वे शोक एवं हर्ष को ही उत्पन्न करते हैं, लेकिन जब ये ही लौकिक शोक एवं हर्ष काव्य के आश्रित होकर सामाजिक की शोकादि वासनाओं को प्रदीप्त करने लगते हैं तब उनसे ही सुख अथवा आनन्द की उत्पत्ति होने लगती है। इसमें कोई क्षति भी नहीं है, कोई अनुपपति भी नहीं है।

वास्तव में लोक के जो शोक एवं हर्ष हैं, वे काव्य के शोक एवं हर्ष से सर्वथा पृथक् हैं क्योंकि लोक के शोक से शोक ही प्राप्त होता है। हर्ष से हर्ष की ही अनुभूति होती है जबकि काव्य के शोक एवं हर्ष से आनन्दातिरेक की प्राप्ति होती है।

ये खलु रामवनवासादयो लोके 'दुःखकारणानि' इत्युच्यन्ते त एव हि काव्यनाट्यसमर्पिता अलौकिकविभावनव्यापारवत्तया कारणशब्दवाच्यतां विहाय अलौकिकविभावशब्दवाच्यत्वं भजन्ते। तेभ्यश्च सुरते दन्तघातादिभ्य इव सुखमेव जायते। अतश्च 'लौकिकशोकहर्षादिवारणेभ्यो लौकिकशोकहर्षादयो जायन्ते' इति लोक एव प्रतिनियमः। काव्ये पुनः 'सर्वेभ्योऽपि विभावादिभ्यः सुखमेय जायते इति नियमान्न कश्चिद्दोषः।

लोक में जो राम-वनवास इत्यादि दुःख के कारण कहे जाते हैं वे ही काव्य और नाट्य में अलौकिकविभावनव्यापार से युक्त होने के कारण (कारण शब्द के अर्थ को छोड़कर) अलौकिकविभाव शब्द से कहे जाने लगते हैं अर्थात् राम-वनवास इत्यादि शब्द प्रसंग लोक में दुःख के कारण हैं, सामाजिकों को राम-वनवास की प्रतीति होने पर दुःख का ही अनुभव होता है लेकिन जब यही दुःख का कारण विभावन व्यापार से युक्त होकर काव्य तथा नाट्य में प्रयोग होने लगता है तब यह दुःख का कारण न होकर अलौकिक विभाव शब्द से कहा जाने

लगता है। इन दुःखों के कारणों से सुरत (संभोग) में दन्तधान और नखक्षत की तरह सुख ही उत्पन्न होता है। सुरत में दन्तक्षत और नखक्षत दुःख नहीं देते प्रत्युत सुख ही पहुँचाते हैं इसीलिए लौकिक शोक एवं हर्ष रत्यादिके कारणों से लौकिक शोक एवं हर्ष ही उत्पन्न होते हैं, ठीक वैसे ही काव्य में सभी विभावादियों से सुख ही उत्पन्न होता है, इस नियम में कोई दोष नहीं है।

वस्तुतः लोक एवं काव्य का सिद्धान्त पृथक्-पृथक् हैं। काव्य का यह वैशिष्ट्य है कि वह शोक एवं हर्ष इत्यादि से युक्त सभी पदार्थों को विभाव में परिवर्तित कर आनन्द की प्राप्ति कराता है।

कथं तर्हि हरिश्चन्द्रादिचरितस्य काव्यनाट्ययोरपि दर्शनपश्रवणाभ्यामश्रुपातादयो जायन्ते इत्युच्यते –

अश्रुपातादयस्तद्वद् द्रुतत्वाच्चेतसो मताः।

सभी विभावादियों से सुख ही होता है तो काव्य-नाट्य में हरिश्चन्द्रादि के चरित्र को देखने एवं सुनने से अश्रुपात रत्यादिक्यों होता है? इसका उत्तर देते हैं–

जैसे लोक में करुण रस के दृश्य को देखने एवं सुनने से अश्रुपात इत्यादि हो जाते हैं, वैसे ही काव्य अथवा नाट्य में हरिश्चन्द्र इत्यादि के चरित्र को देखने एवं सुनने से मन के पिघल जाने से, मन के द्रवीभूत हो जाने से, मन के नितान्त निर्मल हो जाने से अश्रुपात रइयादि हो जाते हैं, ये अश्रुपात भी सुख के ही जनक होते हैं न कि दुःख के।

8.2.3 रसास्वाद का अधिकार – समान अथवा विशिष्ट

करुण इत्यादि रसों से भी सुख अथवा आनन्द की ही प्राप्ति होती है। काव्य अथवा नाट्य में हरिश्चन्द्र इत्यादि के चरित को देखने एवं सुनने से अश्रुपात इत्यादि होते हैं। ये अश्रुपात सह्ृदय को ही होते हैं, सभी को इस प्रकार की रसाभिव्यक्ति क्यों नहीं होती? ये कहते हैं–

तर्हि कथं काव्यतः सर्वेषामीदृशी रसाभिव्यक्तिर्न जायत इत्यत आह –

न जायते तदास्वादो विना रत्यादिवासनाम्।।8।।

वासना चेदानीन्तनी प्राक्तनी च रसास्वाद्हेतुः तत्र यधासा त स्यात्रदा श्रोत्रियजरन्मीमांसकादीनामपि स स्यात्। यदि द्वितीया न स्यात्रदा यद्रागिणामपि केसाञ्चिद्रसोद्बोपो न दृश्यने तत्र स्यात्।

उक्तञ्च धर्मदत्तेन –

सवासनानां सभ्यानां रसस्यास्वादनं भवेत्।

निर्वासनास्तु रङ्गान्तः काष्ठकुड्यश्मसन्निभाः।।

काव्य तो रसास्वादजनक होता है, फिर सभी को ऐसी रसाभिव्यक्ति क्यों नहीं होती अर्थात् सभी को रसानन्द क्यों प्राप्त नहीं होता, इसका समाधान करते हैं– बिना रत्यादि वासना के रसास्वादन नहीं होता है। जब तक सामाजिकों में सूक्ष्म-संस्कार रूप वासना नहीं होगी तब तक रसास्वादन नहीं होगा। रसास्वादन के लिए रत्यादि वासना का होना परमावश्यक है।

यह वासना दो प्रकार की है – 1. इदान्तनी वासना 2. प्राक्तनी वासना, अर्थात् इस जन्म की वासना, दूसरी, पूर्व जन्म की वासना। ये दोनों ही वासनाएँ रस के आस्वाद का कारण हैं। यदि पहली इदान्तनी वासना न हो तो श्रोत्रिय (वेदपाठी) तथा वृद्ध मीमांसकों को भी वह होने लगे। इसीलिए श्रोत्रिय तथा मीमांराकों को भी रसास्वाद हो। इसके लिए इदान्तनी वासना के बारे में बताया गया है।

यदि दूसरी न हो तो रागियों को भी रसास्वाद न हो। अर्थात् प्राक्तनी वासना न हो तो कुछ रसिकों को भी रसास्वादन न हो इसीलिए प्राक्तनी वासना का भी होना नितान्त आवश्यक है। प्राक्तनी वासना के अभाव में रसिक सामाजिकों को भी रसास्वाद नहीं होता है।

इसीलिए आचार्य धर्मदत्त कहते हैं–

वासना से युक्त सभ्यों को अर्थात् सहृदयों को ही रस का आस्वादन होता है। वासना से शून्य तो रंगशाला के अन्दर रहने वाले लकड़ी, दीवार, पत्थर तथा खम्भे के समान होते हैं।

वस्तुतः रंगशाला के अन्दर रहने वाले लकड़ी, दीवार, पत्थर तथा खम्भों को कभी भी रस के आनन्द की प्राप्ति नहीं होती है क्योंकि उनमें वासना का अभाव रहता है। अतः रसास्वादन के लिए वासना का होना अत्यन्तावश्यक है।

8.2.4 रसास्वाद की भूमिका – साधारणीकरण

काव्य अथवा नाट्य को देखने एवं सुनने से सहृदय सामाजिक के हृदय में वासना क्यों उत्पन्न हो जाती है? वह संस्कार-विशेष सीतादि नायिकाओं को देखने से क्यों उद्बुद्ध हो जाता है, यह कहते है –

ननु कथ रामादिरत्याद्युद्बोधकारणैः सीतादिभिः सामाजिकरत्याद्युद्बोध इत्युच्यते–

व्यापारोऽस्ति विभावादेर्नाम्ना साधारणीकृतिः।

तत्प्रभावेण यस्यासन् पाथोधिप्लवनादयः।।9।।

प्रमाता तदभेदने स्वात्मानं प्रतिपद्यते।

रामादि रत्यादि के उद्बोध कारणों से सीतादि नायिकाओं के दर्शन एवं श्रवण से सामाजिकों को रति इत्यादि का उद्बोध कैसे होता है? यह कहते हैं–

विभाव, अनुभाव तथा संचारी भावों में साधारणीकरण नामक एक व्यापार होता है। इसके प्रभाव से प्रमाता अर्थात् सहृदय सामाजिक अभेद सम्बन्ध से अपने आप को राम आदि नायकों के समान मानने लग जाता है। इसके प्रभाव से समुद्रलंघन इत्यादि कार्य वह करने लग जाता है। यह साधारणीकरण का ही प्रभाव है कि प्रमाता अपने आप ही राम इत्यादि नायक के समान आचरण करने लगता है।

ननु कथं मनुष्यमात्रस्य समुद्रलङ्घनादावुत्साहोद्बोध इत्युच्यते –

उत्साहादिसमुद्बोधः साधारण्यभिमानतः।।10

नृणामपि समुद्रादिलङ्घनादौ न दुष्यति।

सहृदय सामाजिक जो कि मनुष्य है उनके द्वारा समुद्रलंघन इत्यादि कार्यों में उत्साह का उद्बोध कैसे हो जाता है? अर्थात् उनमें उत्साह कैसे आ जाता है, इस पर यह कहते हैं–

साधारण के अभिमान से अर्थात् साधारणीकरण के प्रभाव से सामान्य मनुष्यों में समुद्रलंघन जैसे कार्यों में उत्साह इत्यादि का उद्बोध हो जाना आश्चर्य की बात नहीं है। वस्तुतः साधारणीकरण एक ऐसा व्यापार है जिसके प्रभाव से समुद्रलंघन, रावण-वध इत्यादि कार्य उत्साह के द्वारा साधारण मनुष्य के द्वारा भी कर लिये जाते हैं। यह साधारणीकरण की ही शक्ति है कि वह साधारण सामाजिक सहृदय को भी असीमित शक्ति से परिपूर्ण कर देता है।

रत्यादयोऽपि साधारण्येनैव प्रतीयन्त इत्याह –

साधारण्येन रत्यादिरपि तद्वत्प्रतीयते।।11।।

रत्यादेरपि स्वात्मगतत्वेन प्रतीतौ सभ्यानां ब्रीडातङ्कादिर्भवेत्। परगतत्वेन त्वरस्यतापातः।

रत्यादि भी साधारणीकरण से सामाजिकों में प्रतीत होने लग जाते हैं अर्थात् जैसे उत्साह इत्यादि के द्वारा समुद्रलंघन जैसे कार्य हो जाते हैं, वैसे ही साधारणीकरण से रत्यादि भी प्रतीत होने लगते हैं। ये रत्यादि भाव सामाजिक सहृदय के अपने वैयक्तिक रत्यादि भाव नहीं होते न ही रामादिगत नायकों के ही वैयक्तिक होते हैं।

रत्यादि भावों को यदि अपने आत्मगत अर्थात् निजी रत्यादि भाव मानने लग जायें तो सामाजिकों को लज्जा तथा आतंकित होना पड़ेगा। काव्य तथा नाट्य में वर्णित रत्यादि भावों को यदि सामाजिक-सहृदय अपना मान ले तो उसे लज्जा तथा आतंक अथवा सशंकित रहना पड़ेगा और यदि सामाजिक सहृदय इन रत्यादि भावों को परगत अर्थात् नायक-नायिकागत मानता है तो रस प्रतीति नहीं होगी अपितु नीरसता एवं उदासीनता ही प्राप्त होगी।

अतः काव्य-नाट्य के जो रत्यादि भाव हैं वे रत्यादि भाव सामाजिकों के हृदय में भी उपस्थित हो जाते हैं जिससे उन्हें रस का आस्वादन होता है।

यदि सामाजिक रत्यादि भावों को आत्मगत अर्थात् स्वगत या अपने मान भी ले तो रसास्वाद में बाधा के साथ-साथ आनन्द के सुरक्षित रहने की भी चिन्ता उन्हें रहेगी कि हमारा यह आनन्द कम ना हो, और यह आनन्द कोई हमसे छीन भी ना ले। यदि परगत (रामादिगत अथवा नायकगत) मान ले तो साामाजिक सहृदय राग-द्वेष-चिन्ता-मोह के वशीभूत होकर रह जायेगा और रसास्वादन नहीं कर सकेगा।

विभावादियों का भी सबसे पहले साधारणीकरण होता है, साधारणीकरण के बाद ही सामाजिकों को रसास्वाद होता है।

विभावादयोऽपि प्रथमतः साधारण्येन प्रतीयन्त इत्याह–

> **परस्य न परस्येति ममेति न ममेति च।**
>
> **तदास्वादे विभावादेः परिच्छेदो न विद्यते।।12।।**

विभाव, अनुभाव तथा सम्चारी भाव भी सबसे पहले साधारणीकरण के द्वारा प्रतीत होते हैं, यह कहते हैं –

रस के आस्वाद के समय यह पर का है, यह पर का नहीं है अर्थात् रामादिगत नायक का है, रामादिगत नायक का नहीं है। मेरा है, मेरा नहीं है अर्थात् समुद्रलंघन इत्यादि व्यापार मेरे हैं, मेरे नहीं हैं। इस प्रकार के बोध होने पर विभावादियों का परिच्छेद नहीं होता है अर्थात् विभावादि भी साधारणीकरण के द्वारा प्रतीत होने लगते हैं। विभावादियों का भी प्रतिबन्ध वहाँ नहीं होता है। विभावादि भी रसास्वाद में साधारणीकरण के द्वारा प्रतीत होने लग जाते हैं अर्थात् विभावादियों के प्रतिबन्धक से युक्त साधारणीकरण व्यापार सामाजिकों के हृदय में ये सीता है, ये राम है, इस प्रकार का साधारण ज्ञान उत्पन्न कर देता है। स्वगत और परगत के भेदभाव से रहित विभावादियों द्वारा रस की प्रतीति सभी को होने लग जाती है।

अतः लोक में होने वाला साधारणीकरण तथा काव्य-नाट्य में विभावादियों का साधारणीकरण, इस प्रकार दो साधारणीकरण हो जाते हैं। इनमें विभावादियों को अलौकिक क्यों कहा जाता है? इस पर विमर्श करते हुए कहते हैं–

ननु तथापि कथमेवमलौकिकत्वमेतेषां विभावादीनामित्युच्यते–

विभावनादिव्यापारमलौकिकमुपेयुषाम्।

अलौकिकत्वमेतेषां भूषणं न तु दूषणाम्।।13।।

आदिशब्दादनुभावसञ्चारणे। तत्र विभावनं रत्यादेर्विशेषणास्वादाङ्कुरणयोग्यतानयनम्। अनुभावनमेवम्भूतस्य रत्यादेः सनन्तरमेव रसादिरूपतयाभावनम्। सञ्चारणं तथाभूतस्यैव तस्य सम्यक् चारणम्।

फिर भी विभावादियों को अलौकिक क्यों कहा गया है? इसका उत्तर देते हैं–

अलौकिकता को प्राप्त होने वाले विभावन, अनुभावन तथा व्यभिचारिण का अलौकिकत्व भूषण ही होता है, दूषण नहीं। अर्थात् लोक में रहने वाले कारण, कार्य तथा सहकारी कारण काव्य-नाट्य में प्रयोग होते ही अलौकिकता को प्राप्त हो जाते हैं, यह अलौकिकता इनका आभूषण ही होती है, दोष नहीं अर्थात् अलौकिकता इनका गुण ही होती है, दोष नहीं।

यहाँ ''विभावनादि'' में आदि शब्द का प्रयोग अनुभावन तथा संचारण व्यापारों के लिए है। विभावन का अर्थ है– रत्यादि को विशिष्ट रूप से रसस्वाद के अंकुर के रूप में समर्थ बनाने वाला व्यापार, अर्थात् जो सामाजिकों को रत्यादि द्वारा विशेष रूप आस्वाद को अंकुरित करने वाला हो। अनुभावन व्यापार है, जो इस रूप में होने वाली रत्यादि वासनाओं को तत्काल रस रूप में बदल देता है। संचारण व्यापार है– जो इस प्रकार के विभावन तथा अनुभावन व्यापार से पुष्ट हुए रत्यादिरूप वासनाओं को अच्छी तरह से संचरित करें अर्थात् उनको और अत्यधिक पुष्ट करें।

वस्तुतः विभावन, अनुभावन तथा संचरण व्यापार रस को आस्वाद के योग्य बनाते हैं। इनमें सबसे पहले विभावन नामक व्यापार सहृदय की रत्यादि वासनाओं को रसास्वाद के रूप में प्रकट करता है अर्थात् उनमें रत्यादि के द्वारा रसास्वाद के बीज बोता है जिससे उनको रसास्वाद के आनन्द का अनुभव हो कि यह आनन्द अलौकिक एवं अर्निवचनीय है। इसके बाद अनुभावन नामक व्यापार उत्पन्न होने वाली रत्यादि वासनाओं को तत्काल रस में परिणत कर देता है। इसके बाद संचरण नामक व्यापार विभावन तथा अनुभावन व्यापार द्वारा होने वाली रत्यादि वासनाओं को अच्छी तरह से पल्लवित, पुष्पित तथा पुष्ट कर देते हैं। यह विभावन इत्यादि व्यापारों को अलौकिक करने की प्रक्रिया में प्रमाण है।

विभाव, अनुभाव तथा संचारी भाव क्रमशः कारण, कार्य तथा संचारी भाव के रूप में रस को उत्पन्न करते हैं, इस सम्बन्ध में अपनी बात इस प्रकार करते हैं –

विभावादीनां यथासङ्ख्यं कारणकार्य्यसहकारित्वे कथं त्रयाणामपि रसोद्बोध कारणत्वमित्युच्यते –

कारण-कार्य-सञ्चारिरूपा अपि हि लोकतः।

रसोद्बोधे विभावाद्याः कारणान्येव ते मताः।।14।।

विभाव, अनुभाव तथा संचारी भाव क्रमशः कारण, कार्य तथा सहकारी कारण के रूप में प्रसिद्ध हैं तो फिर इन्हें रसोद्बोध में अर्थात् रसोत्पत्ति में कारण क्यों कहा गया है? इसका समाधान कहते हैं –

लौकिक दृष्टि से विभाव, अनुभाव तथा संचारी भावों को क्रमशः कारण, कार्य तथा सहकारी कहा जाता है। रसोत्पत्ति में अर्थात् काव्य में तो तीनों सम्मिलत रूप में कारण ही माने गये हैं।

वस्तुतः विभाव, अनुभाव तथा संचारी भाव में तीनों ही कारण हैं तथा रस कार्य है। परस्पर इन तीनों के संयोग से रस रूपी कार्योत्पत्ति होती है।

विभाव, अनुभाव तथा संचारी भावों से मिलकर रस का अनुभव होता है, ये तीनों मिलकर ही रसोत्पत्ति के कारण हुआ करते हैं, तो इनकी अलग-अलग सत्ता रसोत्पत्ति में क्यों नहीं होती है? इस सन्दर्भ में कहते हैं –

ननु तर्हि कथं रसास्वादे तेषामेकः प्रतिभास इत्युच्येत –

प्रतीयमानः प्रथमं प्रत्येकं हेतुरुच्यते।

ततः संवलितः सर्वो विभावादिः सचेतसाम्।।15।।

प्रपाणकरसन्यायाच्चवर्य्यमाणो रसो भवेत्।

यथा खण्डमरिचादीनां सम्मेलनाद्पूर्व्व इव कश्चिदास्वादः प्रपाणकरसे सञ्जायते विभावादिसम्मेलनादिहापि तथेत्यर्थः।

रसास्वाद में इन तीनों का प्रतिभास अर्थात् अनुभव क्यों होता है? तीनों विभाव, अनुभाव तथा संचारी भाव का पृथक्-पृथक् अनुभव क्यों नहीं होता? इसका समाधान करते हैं–

पहले तो सामाजिक-सहृदय प्रत्येक का विभाव, अनुभाव और संचारी भाव का हेतु अर्थात् कारण प्रतीत करते हैं अर्थात् इन तीनों का पृथक्-पृथक् स्वरूप क्या है, ये प्रतीत करते हैं फिर ये तीनों जब संवलित रूप में अर्थात् एक रूप में प्रतीत होने लगते हैं फिर प्रपाणक रस की तरह चलाये जाने पर अर्थात् प्रपाणक रस की तरह अपूर्व आस्वाद से युक्त रस बन जाते हैं अर्थात् सामाजिकों को रसादि की प्रतीति के पहले सभी विभावादि कारण के रूप में ही पृथक्-पृथक् रूप में होते हैं, फिर सम्मिलित होकर, एक होकर प्रपाणकरस की तरह मिलकर रस के रूप में अलौकिक आनन्द को उत्पन्न करते हैं।

जैसे शक्कर, काली मिर्च रत्यादिसे युक्त प्रपाणक रस में एक अपूर्व आस्वाद प्राप्त होता है वैसे ही विभावादियों के परस्पर मिलने से भी रस की प्राप्ति होती है, रस का अपूर्व आस्वाद होता है। जैसे शक्कर, काली मिर्च अलग-अलग रहे तो अपूर्व रसानन्द की प्राप्ति कराने में समर्थ नहीं होंगे वैसे ही विभाव-अनुभाव-संचारी भाव भी पृथक्-पृथक् रसास्वाद कराने में समर्थ नहीं होते प्रत्युत सम्मिलित रूप में होते हैं।

यदि तीनों ही सम्मिलित रूप में रस का उद्बोध कराते हैं तो कहीं पर एक या दो की अनुपस्थिति में भी रस का बोध हो जाता है, इस सन्दर्भ में कहते हैं।

ननु यदि विभावानुभावव्यभिचारिभिर्मिलितैरेव रसस्तत् कथं तेषामेकस्य द्वयोर्वा सद्भावेऽपि स स्यादित्युच्यते –

सद्भावश्चेद्विभावादेर्द्वयोरेकस्य वा भवेत्।।16।।

झटित्यन्यसमाक्षेपे तदा दोषो न विद्यते,

अन्य समाक्षेपश्च प्रकरणादिवशात्। यथा –

दीर्घाक्षां शरदिन्दुकान्तिवदनं बाहू नतावंसयोः

सङ्क्षिप्तं निबिडोन्नतस्तनमुरः पार्श्वे प्रमृष्टे इव।

मध्यः पाणिमितो नितम्बि जघनं पादावुद्ग्राङ्गुली

छन्दो नर्त्तयितुर्यथैव मनसः सृष्टं तथास्या वपुः।।

अत्र मालविकामभिलषतोऽग्निमित्रस्य मालविकारूपविभावमात्रवर्णनेऽपि सञ्चारिणामौत्सुक्यादीनामनुभावनाश्च नयनविस्फारादीनामौचित्यादेवाक्षेपः। एवमन्याक्षेपेऽप्यूह्यम्।

यदि विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव से मिलकर ही रस है तो फिर किसी एक के अथवा किसी दो के होने पर यह रस क्यों उत्पन्न हो जाता है? इसका समाधान करते हैं–

विभावादियों में से किसी एक की अथवा किन्हीं दो की उपस्थिति में रस की उत्पत्ति हो रही है तो वहाँ अन्य समाक्षेप अर्थात् प्रकरण के अनुसार अथवा व्यञ्जना शक्ति के द्वारा रस की उत्पत्ति हो जाती है। यह शक्ति अविलम्ब उत्पन्न होती है इस सिद्धान्त में भी कोई दोष नहीं होता है।

अन्यसमाक्षेप का आशय है प्रकरण रत्यादिक अनुसार अर्थात् प्रकरण की विशिष्टता अथवा व्यञ्जना शक्ति के द्वारा एक अथवा दो के होने पर भी रसास्वाद में कोई बाधा नहीं होती है, जैसे – '**दीर्घाक्षां शरदिन्दुकान्तिवदनं बाहू नतावंसयोः**' श्लोक में ।

महाकवि कालिदास विरचित ''मालविकाग्निमित्रम्'' नामक नाटक में नृत्यारम्भ के समय अग्निमित्र द्वारा मालविका का नख-शिख वर्णन इस प्रकार है –

नृत्याचार्य के मन के अनुसार ईश्वर ने इस मालविका के शरीर को बनाया है। इसकी आँखे बड़ी-बड़ी, मुख शरद् ऋतु के समान चमकदार, दोनों बाँहें तथा दोनों कन्धे झुके हुए, दोनों स्तन एक दूसरे से सटे हुए तथा उभरे हुए, वक्षस्थल न छोटा न बड़ा अर्थात् मध्यम, दोनों बगलं चिकनी, मध्यभाग अर्थात् कमर बिल्कुल पतली (हाथ की मुट्ठी में आने वाली) नितम्ब और जघन सुडौल, दोनों पैर ऐसे जिनकी अंगुलियाँ दोनों ओर उठी हों (जिनकी अंगुलियाँ आगे की तरफ निकली हो।) ऐसी है इसकी शरीर की संरचना।

इस श्लोक में मालविका को चाहने वाले अग्निमित्र के द्वारा मालविका के सुन्दर शरीर मात्र रूपी विभाव का वर्णन किया गया है, इस विभाव मात्र के वर्णन होने पर भी अग्निमित्र के औत्सुक्य अर्थात् अग्निमित्र की उत्सुकता रूपी संचारी भाव तथा नयन-विस्फारण आदि अनुभाव भी इसमें वर्णित होने के कारण यह श्रृंगार रस का उदाहरण है। इस प्रकार के और भी आक्षेप ढूंढे जा सकते हैं।

इस प्रकार प्रबन्धगत वैशिष्ट्य अथवा प्रकरणगत वैशिष्ट्य के कारण विभाव, अनुभाव तथा संचारी भावों में से किसी एक के अथवा किसी दो के होने पर भी रसोत्पत्ति हो जाती है। यह इस उदाहरण के माध्यम से आपने जाना।

अब यह कहते हैं – रस अनुकार्यगत है।

'अनुकार्य्यगतो रसः' इति वदतः प्रत्याह –

पारिमित्याल्लौकिकत्वात्सान्तरायतथा तथा।।17

अनुकार्य्यस्य रत्यादेरुद्बोधो न रसो भवेत्।

सीतादिदर्शनादिजो रामादिरत्याद्युद्बोधो हि परिमितो लौकिको नाट्यकाव्यदर्शनादेः सान्तरायश्च, तस्मात् कथं रसरूपतामियात्। रसस्यैतद्धर्म्मत्रितयविलक्षणधर्म्मकत्वात्।

रस अनुकार्यगत है अर्थात् अनुकार्य रामादि नायक निष्ठ रस है, सहृदय सामाजिकगत रस नहीं है, ये कहने वालों से इस प्रकार कहते हैं –

पारिमित्यात् – अनुकार्य अर्थात् रामादिगत यह रत्यादि का उद्बोध पारिमित् है अर्थात् सीमित है। अनुकार्यगत राम आदि का सीतादिविषयक रत्यादि उद्बोध सीमित है।

लौकिकत्वान् – अनुकार्यगत रामादि का यह रसोद्बोध लौकिक है। इसीलिए यह रस नहीं हो सकता क्योंकि रस तो अलौकिक है। यह तो लौकिक होने के कारण राग-द्वेष से युक्त है जबकि रस सदैव इनसे परे है।

सान्तरायतया – अनुकार्यगत रामादि का रत्यादिभावोद्बोध काव्य तथा नाट्य के दर्शन एवं श्रवण के प्रतिकूल है जबकि रस काव्य तथा नाट्य के दर्शन एवं श्रवण के नितान्त अनुकूल है। इसीलिए अनुकार्यगत रस नहीं है।

रस अनुकार्यगत नहीं है, इस विषय में तीन प्रमाण अधोलिखित हैं –

1. अनुकार्यगत रत्यादि भावोद्बोध सर्वथा लौकिक है जबकि रत्यादिगत रस अलौकिक है।

2. अनुकार्यगत रत्यादि भावोद्बोध परिमित अर्थात् वैयक्तिक है जबकि रत्यादिगत रस असीमित है।

3. अनुकार्यगत रत्यादि भावोद्बोध काव्य-नाट्य के दर्शन एवं श्रवण के प्रतिकूल है जबकि रत्यादिगत रस अनुकूल है।

सीता इत्यादि नायिका के दर्शन से उत्पन्न रामादि रत्यादि उद्बोध परिमित, लौकिक तथा नाट्य एवं काव्य में दर्शन एवं श्रवण के प्रतिकूल है इसीलिए ये कैसे रसरूपता को प्राप्त करेंगे? अर्थात् नहीं करेंगे। रस तो इन तीन धर्मों से विलक्षण धर्म से युक्त है अर्थात् रस अपरिमित, अलौकिक एवं निर्विघ्न है।

रस अनुकर्तृगत भी नहीं है, इसके बारे में कहते हैं–

अनुकर्तृगतत्वञ्चास्य निरस्यति –

शिक्षाभ्यासादिमात्रेण राघवादेः स्वरूपताम्।।18।।

दर्शयन्नर्तको नैव रसस्यास्वादको भवेत्।

किञ्च –

काव्यार्थभावनेनायमपि सभ्यपदास्पदम्।।19।।

यदि पुनर्नटोऽपि काव्यार्थभावनया रामादिस्वरूपतामात्मनो दर्शयेत् तदा सोऽपि सभ्यमध्य एव गण्यते।

रस अनुकर्त्तृगत भी नहीं है, अर्थात् अनुकर्ता (अभिनयकर्ता) नटादि का ही अनुभव है, सामाजिकों का नहीं, इसका खण्डन करते हैं –

जो नट अर्थात् अभिनेता केवल शिक्षा एवं अभ्यास के बल पर रंगमंच पर रामादि के स्वरूप को प्रदर्शित करता है, उसे रस का आस्वादक नहीं कहा जा सकता अर्थात् उस नट को रस की प्रतीति नहीं होती है क्योंकि वह तो केवल अभिनय के अभ्यास एवं शिक्षा से ही दर्शकों को रंजित करता है, अतः रस अनुकर्ता में भी नहीं होता है और भी एक बात यह है कि यदि यह नट अर्थात् अभिनेता काव्यार्थ-भावना से युक्त हो जायें अर्थात् रसना व्यापार से समन्वित हो जाये तो वह भी सभ्य पद को अर्थात् सामाजिक की पदवी को प्राप्त कर लेता है, वह भी सामाजिक बन जाता है।

वस्तुतः नट तो रामादि के आचरण का अनुकरण करता है। यदि रामादि की तरह वास्तव में ही नट को भी शोक, क्रोध रत्यादिहो जाये तो वह अनुकरण नहीं कहलायेगा और जहाँ अनुकरण नहीं है वहाँ रस नहीं है।

यदि पुनः नट भी काव्यार्थ की भावना से रामादि स्वरूप का प्रदर्शन करता है तो वह भी सामाजिक ही गिना जाता है।

रस को अनुकृर्त्तगत नहीं कहने के बाद अब रस ज्ञाप्य भी नहीं है, यह कहते हैं –

नायं ज्ञाप्यः स्वसत्तायां प्रतीत्यव्यभिचारतः।

यो हि ज्ञाप्यो घटादिः सन्नपि कदाचिदज्ञातो भवति, न ह्ययं तथा प्रतीतिमन्तरेणाभावात्।

रस ज्ञाप्य भी नहीं है, ज्ञाप्य वस्तु का अर्थ है जो प्रतीति के बिना अपनी प्रतीति के अभाव काल में भी रहता हो। अर्थात् अपनी सत्ता में होते हुए भी कभी वह अज्ञात भी रह सके, वह ज्ञाप्य है। रस इसीलिए ज्ञाप्य नहीं हो सकता कि रस का अस्तित्व तो हो लेकिन उसकी प्रतीति न हो क्योंकि यदि रस होगा तो रस की प्रतीति भी होगी अतः रस ज्ञाप्य नहीं है।

ज्ञाप्य का अर्थ है ज्ञान के द्वारा ग्राह्य। अतः जो घट पट इत्यादि ज्ञाप्य है तो कभी-कभी प्रतीति के बावजूद भी अज्ञात रहते हैं अर्थात् घट-पट इत्यादि के रहने पर भी कदाचित् उसका ज्ञान नहीं होता है। रस ऐसा नहीं है क्योंकि रस की प्रतीति के बाद उसका अभाव नहीं हो सकता, इसकी यदि प्रतीति हो गई तो फिर उसका आस्वाद ही होगा, अभाव नहीं।

वस्तुतः लोक में पाये जाने वाली अनित्य वस्तुएँ दो प्रकार की होती है 1. ज्ञाप्य 2. कार्य।

घट पट इत्यादि पदार्थ ज्ञान के विषय हैं इसीलिए घट-पट इत्यादि अनित्य वस्तुएँ ज्ञाप्य कहलाती हैं, जैसे दीपक के प्रकाश से घट का ज्ञान होता है इसीलिए दीपक के द्वारा घट ज्ञाप्य है। पूर्वसिद्ध पदार्थ का जब किसी साधन के द्वारा ज्ञान होता है तो वह पदार्थ ज्ञाप्य कहलाता है।

रस ज्ञाप्य नहीं है क्योंकि ज्ञाप्य पदार्थ ज्ञान होने के पूर्व भी विद्यमान रहता है और बाद में भी विद्यमान रहता है परन्तु रस की सत्ता न अनुभव से पूर्वकाल में रहती है और न अनुभव के बाद। जब तक रस की अनुभूति होती है तब तक ही उसकी सत्ता रहती है।

अब कहते हैं रस कार्य भी नहीं है –

यस्मादेष विभावादिसमूहालम्बनात्मकः।।20।।

तस्मान्न कार्यः –

यदि रसः कार्यः स्यात्तदा विभावादिज्ञानकारणक एव स्यात्। ततश्च रसप्रतीतिरकाले विभावादयो न प्रतीयेरन्, कारणज्ञानकार्यज्ञानयोर्युगपददर्शनात्। नहि चन्दनस्पर्शज्ञानं तज्जन्यसुखज्ञानञ्चैकदा सम्भवति। रसस्य च विभावादिसमूहालम्बनात्मकतयैव प्रतीतेर्न विभावादिज्ञानकारणत्वमित्यभिप्रायः।

रस कार्य भी नहीं है क्योंकि यह तो विभावादिसमूहालम्बनात्मक है, विभावादिज्ञान जन्य नहीं है। विभावादियों के समूह के आलम्बन से ही रस की प्रतीति होती है, विभावादियों के ज्ञान-कारण से नहीं।

वस्तुतः कारण से कार्य की उत्पत्ति होती है, जो पदार्थ पूर्वसिद्ध नहीं है, कारण के व्यापार के बाद उसकी उत्पत्ति होती है वह कार्य कहलाता है। कार्य पदार्थ अपने निमित्त का अर्थात् अपने कारण का नाश हो जाने पर भी बना रहता है जैसे कुम्हार का बनाया हुआ घड़ा कुम्हार के मर जाने के बाद भी बना रहता है वैसे ही रस को यदि कार्य माना जाये तो उसके कारण होंगे विभावादि, इसीलिए विभावादियों के नाश हो जाने के बाद भी उसकी प्रतीति होनी चाहिए परन्तु विभावादियों के नाश के बाद रस की प्रतीति नहीं होती है इसीलिए रस को कार्य नहीं माना जा सकता है।

विभावादियों के ज्ञान रूपी कारण से रस की उत्पत्ति नहीं होती प्रत्युत विभावादियों के समूहालम्बनात्मक से रस उत्पन्न होता है अतः रस कार्य नहीं है।

यदि रस कार्य है तो विभावादि ज्ञान ही उसका कारण होंगे। तब तो रस की प्रतीति के समय विभावादि प्रतीत नहीं होंगे क्योंकि कारण ज्ञान और कार्य-ज्ञान कभी भी एक साथ नहीं होते क्योंकि कारण के अनन्तर ही कार्य होता है इसीलिए कारण पहले तथा कार्य बाद में होता है। चन्दन के स्पर्श का ज्ञान तथा उससे उत्पन्न सुख का ज्ञान एक साथ कभी भी नहीं हो सकता। रस की तो प्रतीति विभावादि समूहालम्बात्मिका होती है। अतः विभावादि ज्ञान रस का कारण नहीं हो सकते अर्थात् रस की प्रतीति विभावादि ज्ञान रूपी कारण से नहीं होती है अतः रस कार्य नहीं है।

रस कार्य भी नहीं है इसका खण्डन करते हुए अब रस नित्य भी नहीं है, यह कहते हैं–

नो नित्यः पूर्वसंवेदनोज्झितः।

असंवेदनकाले हि न भावोऽप्यस्य विद्यते।।

रस नित्य भी नहीं है क्योंकि रस विभावादि के पहले प्रतीत नहीं होता है। पूर्वसंवेदनोज्झितः का अभिप्राय है कि रस संवेदना अर्थात् प्रतीति के पूर्व प्रतीत नहीं होता है। विभावादियों की प्रतीति के बाद ही रस की अभिव्यक्ति होती है। असंवेदन के समय अर्थात् प्रतीति के पहले रस का भाव ही नहीं है अर्थात् अस्तित्व ही नहीं है। विभावादियों के ज्ञान के पश्चात् ही रस की अभिव्यक्ति होती है।

नित्य वस्तु असंवेदनकाल में अर्थात् प्रतीति के पहले तो रहे और प्रतीति के बाद न रहे, ऐसा नहीं होता है। नित्य वस्तु हमेशा विद्यमान रहती है, प्रतीति के पहले भी तथा प्रतीति के बाद भी। अतः रस नित्य नहीं है।

रस नित्य नहीं है इसके बाद यह कहते है कि रस एक अनिर्वयनीय तत्त्व है –

नापि भविष्यन् साक्षादानन्दमयस्वप्रकाशरूपत्वात्।

कार्यज्ञाप्यविलक्षणभावान्नो वर्त्तमानोऽपि।।22।।

विभावादिपरामर्शविषयत्वात् सचेतसाम्।

परानन्दमयत्वेन संवेद्यत्वादपि स्फुटम्।।23।।

न निर्विकल्पकं ज्ञानं तस्य ग्राहकमिष्यते।

तथाऽभिलापसंसर्गयोग्यत्वविरहान्न च।।24।।

सविकल्पकसंवेद्यः –

सविकल्पकज्ञानसंवेद्यानां हि वचनप्रयोगयोग्यता, न तु रसस्य तथा।

रस भावी वस्तु (भविष्य में होने वाली) नहीं है क्योंकि रस आनन्दमय तथा स्वप्रकाश रूप है अर्थात् साक्षात् एवं निरन्तर प्रकाशमान् है। यह वर्तमान वस्तु भी नहीं है क्योंकि यह कार्य एवं ज्ञाप्य के विलक्षण भाव से युक्त नहीं है अर्थात् रस कार्य भी नहीं है एवं ज्ञाप्य भी नहीं है। रस तो कार्य एवं ज्ञाप्य से सर्वथा पृथक् तथा नितान्त विलक्षण है।

परानन्दमय अर्थात् विभावादि का परामर्श का विषय, स्पष्ट रूप से संवेद्य होने के कारण अर्थात् चमत्कार का विषय होने के कारण यह निर्विकल्पक ज्ञान का ग्राहक भी नहीं है अर्थात् यह निर्विकल्पक ज्ञान का विषय भी नहीं है।

संसर्ग योग्यता के अभाव के विरह में यह सविकल्पक ज्ञान भी नहीं है क्योंकि इसके लिए कोई वाचक पद भी नहीं है।

सविकल्पकज्ञान से संवेद्य अर्थात् प्रकाशित अथवा ज्ञान वस्तुएँ वचन के प्रयोग की योग्यता रखती है अर्थात् ये किसी न वाचक शब्द द्वारा बोधित होती है जबकि रस ऐसा है जिसके बारे में कोई भी वाचक शब्द का प्रयोग नहीं होता है।

वस्तुतः रस सविकल्पक ज्ञान एवं निर्विकल्पक ज्ञान, इन दोनों से बोधित नहीं हो सकता है।

सविकल्पक ज्ञान उसको कहते हैं जिसमें पदार्थ के स्वरूप के अतिरिक्त उसके नाम तथा उसकी जाति का भी ज्ञान होता है इसीलिए कहते हैं – 'नामजात्यादियोजनारहितं ज्ञानं सविकल्पकम्' जैसे घट-पट आदि पदार्थों के ज्ञान में उनके स्वरूप के साथ वस्तु के नाम तथा जाति आदि का भी ज्ञान होता रहता है इसीलिए घट, पट आदि के ज्ञान को सविकल्पक ज्ञान कहते है, यह शब्द व्यवहार का विषय होता है, परन्तु रस को संसर्ग योग्यता से रहित होता है अर्थात् शब्द-व्यवहार का विषय नहीं होता है इसीलिए रस सविकल्पक संवेद्य नहीं है।

रस निर्विकल्पक भी नहीं है क्योंकि नाम, जाति, विशेषण-विशेष्य भाव से रहित केवल वस्तु मात्र का ज्ञान कराने वाला निर्विकल्पक ज्ञान कहलाता है। ''नामजात्यादियोजनारहितं ज्ञानं निर्विकल्पकम्'' रस की प्रतीति तो परानन्दमय अर्थात् विभावादियों के कारण होती है। इसीलिए समूहालम्बनात्मक ज्ञान से उत्पन्न होने के कारण रस सविकल्पक एवं निर्विकल्पक दोनों ही नहीं है। रस इनसे विलक्षण अनिर्वचनीय है।

रस को अनिर्वचनीय सिद्ध करने के बाद कहते हैं कि रस परोक्ष भी नहीं है, रस प्रत्यक्ष भी नहीं है –

साक्षात्कारतया न च।

परोक्षस्तत्प्रकाशो नापरोक्षः शब्दसंभवात्।।25।।

साक्षात्कारतया न परोक्षः अर्थात् रस का साक्षात्कार होने के कारण यह परोक्ष भी नहीं है क्योंकि यह अनुभवजन्य है। यह प्रत्यक्ष भी नहीं है क्योंकि शब्द के द्वारा अर्थात् अलौकिक विभावादि शब्द द्वारा निष्पन्न है।

वस्तुतः रस परोक्ष एवं प्रत्यक्ष दोनों ही नहीं है, परोक्ष वह है जो अनुभवजन्य न हो, रस तो अनुभव के द्वारा सिद्ध होता है, रस प्रत्यक्ष भी नहीं है क्योंकि यह विभावादियों के द्वारा निष्पन्न है।

रस कार्य भी नहीं है, रस ज्ञाप्य भी नहीं है, रस सविकल्पकज्ञान से संवेद्य भी नहीं है, रस निर्विकल्पक ज्ञान से भी संवेद्य नहीं है, रस परोक्ष भी नहीं है, रस प्रत्यक्ष भी नहीं है, तो रस अनिर्वचनीय है। लेकिन इस अनिर्वचनीय रस का क्या स्वरूप है? यह कहते हैं –

तत्कथय कीदृगस्य तत्त्वमश्रुतादृष्टपूर्वनिरूपणप्रकारस्येत्याह–

तस्मादलौकिकः सत्यं वेद्यः सहृदयैरयम्।

तो कहाँ, इस अश्रुतपूर्व एवं अदृष्टपूर्व अर्थात् जो कभी पहले सुना नहीं और जो कभी पहले देखा नहीं, इसका क्या तत्त्व है, तो कहते हैं –

रस अलौकिक है और यह निश्चित रूप से सहृदय सामाजिकों के द्वारा ही अनुभूत किया जाता है।

फिर कहते हैं कि इसमें प्रमाण क्या है? कि रस अनिर्वयनीय है, तो बताते हैं –

तत्किं पुनः प्रमाणं तस्य सद्भााव इत्याह –

प्रमाणं चर्वणैवात्र स्वाभिन्ने विदुषां मतम्।।26।।

रस के अनिर्वचनीय होने में प्रमाण क्या है? इसका निर्देश करते हैं –

रस के अनिर्वचनीय होने में चर्वणा ही प्रमाण है। सहृदय-सामाजिकों को होने वाली चर्वणा ही इस रस के होने में प्रमाण है।

चर्वणा आस्वादनम्। तच्च 'स्वादः काव्यार्थसंभेदादात्मानन्दसमुद्भवः' इत्युक्तप्रकारम्।

चर्वणा का अर्थ है, आस्वादन और यह आस्वादन है – विभावादियों से समन्वित, स्थायी भावों से भावित सहृदय का आत्मानन्द। काव्यार्थ के संभेद से उत्पन्न आत्मानन्द ही स्वाद है अर्थात् आस्वादन है। विभावादि संवलित रत्यादिरूप काव्यार्थ की महिमा से उत्पन्न सामाजिकों का आत्मानन्द ही आस्वादन है, चर्वणा है। यही चर्वणा रस के अनिर्वचनीय होने में प्रमाण है।

अब यह कहते हैं – यदि रस कार्य नहीं है तो विभावादियों के द्वारा इसकी निष्पत्ति क्यों होती है?

ननु यदि रसो न कार्यस्तत्कथं महर्षिणा 'विभावानुभावव्यभिचारि संयोगद्रसनिष्पत्तिः' इति लक्षणं कृतमित्युच्यते –

निष्पत्त्या चर्वणास्यास्य निष्पत्तिरुपचारतः।

यद्यपि रसाभिन्नतया चर्वणस्यापि न कार्यत्न तथापि तस्य कादाचित्कतया उपचरितेन कार्यत्वेन कार्यत्वमुपचर्यते।

यदि रस कार्य नहीं है तो महर्षि भरत ने 'विभाव, अनुभाव तथा संचारी भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है' यह क्यों कहा? कहते हैं –

विभावादियों से जिसकी निष्पत्ति होती है वह चर्वणा है, आस्वादन है, उपचार से रस की निष्पत्ति होती है, यह कहा जाता है। वस्तुतः उपचार (अभेद) से रस और चर्वणा एक ही है लेकिन चर्वणा की निष्पत्ति होने के कारण मत यह दिया जाता है कि रस की निष्पत्ति हो रही है।

यद्यपि रस से अभिन्न होने के कारण चर्वणा अर्थात् आस्वादन भी कार्य रूप नहीं है क्योंकि जब रस कार्य नहीं है, तो चर्वणा भी कार्य नहीं है फिर भी कभी-कभी उपचरित कार्य से अर्थात् अभेद ग्रहण होने से चर्वणा को कार्य कह दिया जाता है। चर्वणा सदैव नहीं रहती है, जब-जब रस होगा तब-तब चर्वणा होगी अतः रस की निष्पत्ति होती है, यह उपचार से कहा जा सकता है।

वस्तुतः रस निष्पत्ति का अर्थ रस की उत्पत्ति नही अपितु चर्वणा की ही उत्पत्ति है। चर्वणा के बिना रसोत्पत्ति सम्भव नहीं है।

अब कहते हैं कि रस व्यंग्य तत्त्व है, यह अभिधा तथा लक्षणादि व्यापारों से अगोचर है। व्यंजना व्यापार के द्वारा ही यह रस तत्त्व संवेद्य है, साधारणीकरण, विभावादियों का समुचित वर्णन व्यञ्जना व्यापार के द्वारा ही ज्ञेय है –

अवाच्यत्वादिकं तस्य वक्ष्ये व्यञ्जरूपेण।।27।।

तस्य रसस्य। आदिशब्दादलक्ष्यत्वादि।

रस अवाच्यत्व आदि नहीं है अर्थात् रस अभिधा व्यापार का विषय नहीं है। यह व्यंजना के रूपण प्रसंग में आगे कहा जायेगा। आदि शब्द से अलक्ष्यत्व इत्यादि का ग्रहण किया जाता है, अर्थात् रस लक्षणा एवं तात्पर्यवृत्ति से भी बोध्य नहीं है। रसना वृत्ति का ही दूसरा नाम व्यंजना वृत्ति है इसीलिए कविराज विश्वनाथ कहते हैं –

रसव्यक्तौ पुनर्वृत्तिं रसनाख्यां परे विदुः।

अर्थात् रसाभिव्यक्ति में रसना नाम की वृत्ति है जिसे व्यंजना वृत्ति के नाम से जाना जाता है –

सा चेयं व्यञजना नाम वृत्तिरित्युच्चयते बुधैः।

रस रूप आनन्दातिरेक को उत्पन्न करने में अभिधा, लक्षणा तथा तात्पर्यवृत्ति का कोई योगदान नहीं है क्योंकि विभावादि का साधारणीकरण अभिधा, लक्षणा तथा तात्पर्यवृत्ति के सामर्थ्य से परे है। व्यंजना व्यापार के द्वारा ही साधारणीकरण की प्रक्रिया के माध्यम से विभावादियों के ज्ञान के आधार पर रस की प्रतीति होती है।

अब कहते है – रस स्वप्रकाश एवं अखण्ड क्यों है –

ननु यदि मिलिता रत्यादयो रसास्तत्कथमस्य स्वप्रकाशत्वं कथं वाऽखण्डत्वमित्याह –

रत्यादिज्ञानतादात्म्यादेव यस्मााद्रसो भवेत्।

अतोऽस्य स्वप्रकाशत्वमखण्डत्वं च सिध्यति।।28।।

यदि रत्यादिकं प्रकाशशरीरादतिरिक्तं स्यात्तदैवास्य स्वप्रकाशत्वं न सिध्येत्, न च तथा, तादात्म्यङ्गीकारात्। युदक्तम् – 'यद्यपि रसानन्यतया चर्वणापि न कार्या तथापि कादाचित्कतया कार्यत्वमुपकल्प्य तद्देकात्मन्यनादिवासनापरिणतिरूपे रत्यादिभावेऽपि व्यवहार इति भावः' इति। सुखादितादात्म्याङ्गीकारे चास्माकीं सिद्धान्तशय्यामधिशय्य दिव्यं वर्षसहस्त्रं प्रमोदनिद्रामुपेयाः' इति च। 'अभिन्नोऽपि स प्रमाता वासनोपनीतरत्यादितादात्म्येन गोचरीकृतः' इति च। ज्ञानस्य स्वप्रकाशत्वमनङ्गीकुर्वतामुपरि वेदान्तिभिरेव पातनीयो दण्डः। तादात्म्यादेवास्याखण्डत्वम्।

रत्यादयो हि प्रथममेकैकशः प्रतीयमानाः सर्वेऽप्येकीभूताः स्फुरन्त एव रसतामापद्यन्ते।

तदुक्तम् – 'विभावा अनुभावाश्च सात्त्विका व्याभिचारिणः।

प्रतीयमानाः प्रथमं खण्डशो यान्त्यखण्डताम्'।।इति।

'परमार्थतस्त्वखण्ड एवायं वेदान्तप्रसिद्धब्रह्मतत्त्ववेदितव्यः' इति च।

विभाव, अनुभाव तथा संचारी भाव यदि मिलकर रस हैं तो इस रस का स्वप्रकाशत्व तथा अखण्डत्व कैसे है? अर्थात् यह रस स्वप्रकाश एवं अखण्ड कैसे है? इसका समाधान करते हैं –

रत्यादिज्ञान के तादात्म्य से अर्थात् विभावादि के समूहालम्बनात्मक ज्ञान से रस उत्पन्न होता है, इसीलिए यह रस स्वप्रकाश एवं अखण्ड है। रस स्वप्रकाश इसीलिए है कि रस के ज्ञान की सिद्धि रस के अलावा किसी और से नहीं हो सकती। यदि विभावादि से जन्य रत्यादि आत्मानन्द के अतिरिक्त और कुछ हो तो इसका स्वप्रकाशत्व सिद्ध नहीं हो सकता लेकिन ऐसा नहीं है। विभावादि जन्य रत्यादि में तथा प्रकाशशरीर ज्ञान में अर्थात् आत्मानन्द में तादात्म्य सम्बन्ध है अर्थात् दोनों में कोई भेद नहीं है।

जैसा कि कहा गया है – यद्यपि रसों के अतिरिक्त चर्वणा नहीं है अर्थात् दोनों में कोई भेद नहीं है फिर भी कभी-कभी कार्यत्व की उपकल्पना करके अनादि वासना के परिणामरूप में रत्यादि भाव का व्यवहार होता है अर्थात् चर्वणा के आविर्भाव-तिरोभाव के दर्शन से उपचार द्वारा उत्पत्ति की कल्पना की जाती है वैसे ही रत्यादि में भी उत्पत्ति की कल्पना की जा सकती हैं। अनादि वासना का अर्थ है – सामाजिकों में रहने वाली प्राक्तनी भावना जो रसादिरूप में परिणत हो जाती है।

रस आनन्द स्वरूप है, इस बात को स्वीकार करने में हमारे सिद्धान्त के अनुसार चलने वाले लोगों के लिए यह बात हजारों वर्ष तक सुखपूर्वक सोने जैसी है। अर्थात् रस को अखण्ड अर्थात् सुखादिमय स्वीकार करने में उनको कोई आपत्ति नहीं है, उनके लिए जो यह अत्यन्त आनन्द की बात है।

रस अभिन्न होने हुए भी अर्थात् अखण्ड होते हुए भी प्रमाता के द्वारा (सामाजिक के द्वारा) वासना से युक्त रत्यादि के तादात्म्य से इसका आनन्द स्वीकार किया जाता है। सामाजिक सहृदय इसे रत्यादि की वासना से युक्त स्वीकार करता है।

ज्ञान को स्वप्रकाश नहीं मानने वालों को सुधारना जो वेदान्ताचार्यों का कार्य है। साहित्य की दृष्टि तो रस रूपी ज्ञान को स्वप्रकाश मानती ही है। जो इसको स्वप्रकाश के रूप में स्वीकार नहीं करते उनको वेदान्ती ठीक तरह से समझा सकते हैं।

ज्ञान में अर्थात् (विभावादिसमूहालम्बनात्मक ज्ञान) और रस में कोई अन्तर नहीं है, इसीलिए रस अखण्ड है।

सबसे पहले रत्यादि पृथक्-पृथक् प्रतीत होते हैं अर्थात् विभाव, अनुभाव तथा संचारी भाव पृथक्-पृथक् प्रतीत होते हैं। फिर सभी एक साथ मिलकर रसता को उत्पन्न करते हैं। जब ये रसता को उत्पन्न करते हैं तब ये रस कहलाते हैं। जैसा कि कहा गया है–

विभाव, अनुभाव, सात्त्विक भाव तथा व्याभिचारि भाव सबसे पहले पृथक्-पृथक् प्रतीत होते हैं फिर सभी एक साथ मिलकर अखण्डता को प्राप्त हो जाते" अर्थात् रस रूप में उत्पन्न हो जाते हैं।

वास्तविक रूप में अखण्ड यह रस तत्त्व वेदान्त-दर्शन के प्रसिद्ध ब्रह्मतत्त्व के समान जानना चाहिए। जैसे वेदात्त में ब्रह्मतत्त्व वस्तुतः एक अखण्ड सच्चिानन्द रूप है वैसे ही काव्यशास्त्र में विभावादि रूप से खण्डशः प्रतीयमान रस भी वास्तव में अखण्ड ही है।

रस को अखण्ड एवं स्वप्रकाश सिद्ध करने के बाद विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव के स्वरूप पर प्रकाश डालते हैं।

अथ के ते विभावानुभावव्यभिचारिण इत्येपेक्षयां विभावमाह –

''रत्याद्युद्बोधका लोके विभावाः काव्यनाट्ययोः।

ये हि लोके रामादिगतरतिहासादीनामुद्बोधकारणानि सीतादयस्त एव काव्ये नाट्ये च निवेशिताः सन्तः'' विभाव्यन्ते आस्वादाङ्कुरप्रादुर्भावयोग्याः क्रियन्ते सामाजिकरत्यादिभावा एभिः' इति विभावा उच्यन्ते।

तदुक्तं भर्तृहरिणा –

शब्दोपहितरूपांस्तान् बुद्धेर्विषयतां गतान्।

प्रत्यक्षानिव कंसादीन् साधनत्वेन मन्यते।।

इसके बाद विभाव, अनुभाव तथा व्याभिचारी भाव क्या है? अर्थात् इनका स्वरूप क्या है, अतः विभाव का लक्षण करते हैं – लोक में जो पदार्थ रत्यादि भावों के उद्बोधक होते हैं वे ही काव्य तथा नाट्य में वर्णित होने पर विभाव कहलाते हैं। रत्यादि भावों को उत्पन्न करने वाले पदार्थ विभाव नाम से जाने जाते हैं।

लोक में जो रामादि पुरुषों के हृदय में रहने वाले रति, हास भावों के कारण सीतादि होते हैं, वही काव्य तथा नाट्य में प्रयोग होने पर अर्थात् विभावित किए जाते हैं, आस्वाद के अंकुर के प्रादुर्भाव के योग्य किए जाते हैं, सामाजिकों के रत्यादि भाव जिनके द्वारा, वे विभाव कहलाते हैं। **'विभाव्यन्ते एभिः विभावाः विशिष्टा भावाः विभावाः'** इन दो प्रकार की व्युत्पत्ति से

यही अर्थ निकलता है कि सामाजिकों के हृदय में रहने वाले रत्यादि विशिष्ट भाव ही विभाव कहलाते हैं2।

सामाजिकों के हृदय में आस्वाद के अंकुर के प्रादुर्भाव के योग्य होने वाले रति, शोक तथा हास आदि भाव ही विभाव कहलाते हैं।

जैसा कि भर्तृहरि ने कहा है –

शब्द के रूप में प्रयोग किये जाने वाले, बुद्धि के विषय के रूप में गये हुए, कंस-कृष्ण इत्यादि परोक्ष पदार्थ भी प्रत्यक्ष की तरह साधन के रूप में माने जाते है अर्थात् कंस, कृष्ण इत्यादि परोक्ष शब्द भी (रौद्र एवं क्रोध रस के अलाम्वबनभूत होने के कारण) शब्दों के रूप में वर्णन किये जाने पर भी अर्थात् काव्य में वर्णित किये जाने पर सामाजिकों को प्रत्यक्ष की तरह ही दिखाई देते हैं।

वस्तुतः लोक में रहने वाले पदार्थ अपने निश्चित स्वभाव में रहते हैं, ये ही पदार्थ जब काव्य एवं नाट्य के क्षेत्र में प्रयोग होते हैं तो इनका निश्चित स्वभाव लुप्त हो जाया करता है, तब ये सामान्य स्वभाव में आ जाते हैं और सामाजिकों की भावना इन्हें वास्तविक एवं प्रत्यक्ष बना देती है। अतः रस की उत्पत्ति इन पदार्थों से ही सम्भव है, लौकिक पदार्थों से नहीं।

आचार्य भर्तृहरि भी इसके आधार पर विभाव की ही सत्ता को प्रमाणित करते हैं।

विभाव के स्वरूप के कथन के बाद अब इसके भेदों को कहते है –

तद्भेदादाह – आलम्बनोद्दीपनाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ।

स्पष्टम्। तत्र –

आलम्बनं नायकादिस्तमालम्ब्य रसोद्गमात्।

आदिशब्दान्नायिकाप्रतिनायिकादयः। अथ यस्य रसस्य यो विभावः स तत्स्वरूपवर्णने वक्ष्यते।

विभाव के भेदों को कहते है – आलम्बन और उद्दीपन नामक इसके दो भेद माने गये हैं।

आलम्बन विभाव का तात्पर्य है कि नायकादि के द्वारा ही रस के उद्गम होने से अर्थात् रस की उत्पत्ति नायक एवं नायिका आदि के द्वारा ही सम्भव होती है अतः नायक एवं नायिका इत्यादि ही आलम्बन विभाव माने गये हैं।

आदि शब्द (नायकादि) से नायिका, प्रतिनायिका एवं उपनायिका का भी ग्रहण कर लेना चाहिए। जिस रस का जो विभाव है, उसका वर्णन उसमें (सम्बन्धित रस में) ही करेंगे।

काव्य तथा नाट्य में जिसको आलम्बन मानकर अर्थात् जिस पर आश्रित होकर इसकी उत्पत्ति होती है वही आलम्बन विभाव है, जैसे नायक के रस में नायिका, नायिका की रसोत्पत्ति में नायक अर्थात् दोनों एक-दूसरे के आलम्बन विभाव हैं।

वस्तुतः आलम्बन का अर्थ है – किसी वस्तु पर आश्रित रहना। नाटक अथवा काव्य में नायिका एवं ंनायिक परस्पर एक-दूसरे पर आश्रित रहते हैं इसीलिए इसको आलम्बन विभाव कहा जाता है।

सार रूप में इस विषय को यूँ समझ जा सकता है– विभाव, अनुभाव तथा संचारी भाव से अभिव्यक्त होने वाली रत्यादि से युक्त रसना ही रस कहलाती है, इस रस की अभिव्यक्ति सहृदयों को ही होती है। इस रस का आस्वादन आत्मानन्द से युक्त होकर किया जाता है। सहृदयों को ही आत्मानन्द हुआ करता है।

यह रस अखण्ड है, स्वप्रकाश है, आनन्दमय है, चिन्मय है, किसी अन्य आनन्द के स्पर्श से भी रहित है अर्थात् रस जैसा कोई आनन्द नहीं है, ब्रह्मास्वादसहोदर है। रस अलौकिक आनन्द के चमत्कार का मूल है। करुण आदि रसों में भी अलौकिक आनन्द की प्राप्ति होती है, इसमें सामाजिकों का अनुभव ही प्रमाण है। विभावादियों के साधारणीकरण व्यापार द्वारा सामाजिक इस रस का अनुभव करते हैं। लोक में जो कारण, कार्य तथा सहकारी कारण है वे ही काव्य अथवा नाट्य में विभाव, अनुभाव तथा संचारी भाव कहे जाते हैं। प्रपाणक रस की भाँति विभावादियों से संवलित होकर रस की चर्वणा की जाती है। यह चर्वणा ही आस्वादन का अपर पर्याय है।

रस अनुकार्यगत एवं अनुकर्तृगत भी नहीं है, रस ज्ञाप्य एवं कार्य भी नहीं है। रस नित्य भी नहीं है, रस एक अनिर्वचनीय पदार्थ है जो साक्षात् आनन्दस्वरूप है, स्वप्रकाश है। यह साविकल्पक ज्ञान एवं निर्विकल्पक ज्ञान भी नहीं है। रस परोक्ष एवं प्रत्यक्ष भी नहीं है। रस एक अलौकिक वस्तु है। इसमें सहृदयों के चित्त में रहने वाली चर्वणा ही प्रमाण है। रस व्यंग्य तत्त्व है।

विभाव, अनुभाव तथा संचारी भावों से रस की निष्पत्ति होती है, इसी क्रम में विभावों की चर्चा की गई तथा विभाव के दो भेद बताये गए– 1. आलम्बन विभाव 2. उद्दीपन विभाव। आलम्बन विभाव के अन्तर्गत नायक एवं नायिका आदि आते हैं जिनका अध्ययन आप इकाई 9 में करेंगे। यहाँ उद्दीपन विभाव के स्वरूप को कहते हैं–

अथोद्दीपनविभावाः

उद्दीपनविभावास्ते रसमुद्दीपन्ति ये।।131।।

ते च –

आलम्बनस्य चेष्टाद्या देशकालादयस्तथा ।।

चेष्टाद्या इत्याद्यशब्दाद्रूपभाषणादयः। कालादीत्यादिशब्दाच्चन्द्रचनन्दनकोकिलालापभ्रमरसझंकारादयः।

तत्र चन्द्रोदयो यथा मम –

'करमुदयमहीधरस्तनाग्रे गलिततमः पटलांशुके निवेश्य।

विकसितकुमुदेक्षणं विचुम्बत्ययममरेशदिशो मुखं सुधांशुः' ।।

यो यस्य रसस्योद्दीपनविभावः स तटस्वरूपवर्णने वक्ष्यते।

उद्दीपन विभाव उसे कहते हैं– जो रस की प्रक्रिया को अर्थात् रस को उद्दीप्त करते हैं वे उद्दीपन विभाव कहलाते हैं। नायक-नायिका की विविध चेष्टाएँ, देश, काल इत्यादि उद्दीपन विभाव में आते हैं।

''चेष्टाद्या'' यहाँ आदि शब्द से रूप, आभूषण रत्यादिका ग्रहण करना चाहिए। काल रत्यादिशब्द से चन्द्रमा, चन्दन, कोकिलालाप, इत्यादि का ग्रहण करना चाहिए।

चन्द्रोदय का उदाहरण जैसे मेरा ही –

'करमुदयमहीधरस्तनाग्रे' इस उदाहरण में वस्तुतः चन्द्रमा नायक ही उद्दीपन विभाव है, फिर भी चन्द्रमा तथा पूर्व दिशा के नायक-नायिका के रूप में वर्णन होने के कारण शृंगार रस का उद्दीपन विभाव चन्द्रमा ही है।

जो जिस रस का उद्दीपन विभाव है, उसका लक्षण सम्बन्धित रस के प्रसंग में कहेंगे।

अनुभाव निरूपण –

अथानुभावाः –

उद्बुद्धं कारणैः स्वैः स्वैर्बहिर्भावं प्रकाशयन्।

लोके यः कार्यरूपः सोऽनुभावः काव्यनाट्ययोः।।

यः खलु लोके सीतादिचन्द्रादिभिः स्वैः स्वैरालम्बनोद्दीपनकारणैः रामादेरन्तरुद्बुधं रत्यादिकं बहिः प्रकाशयन् कार्यमित्युच्यते, स काव्यनाट्ययोः पुनरनुभावः।

आलम्बन विभाव एवं उद्दीपन विभाव रत्यादि कारणों से हृदय में उद्बुद्ध रत्यादि भावों को बाहर प्रकाशित करने वाले शरीर के अंगों के द्वारा होने वाला व्यापार अनुभाव कहलाता है। लोक में यही अनुभाव कार्य रूप कहा जाता है। इसी को काव्य-नाट्य में अनुभाव कहा जाता है। जो लोक में राम आदि के हृदय में सीता आदि आलम्बन विभाव एवं चन्द्रोदय इत्यादि उद्दीपन विभावों से राम इत्यादि के हृदय में विद्यमान रत्यादि को बाहर प्रकाशित करते हुए कार्य कहा जाता है, वही काव्य-नाट्य में वर्णित होने पर अनुभाव नाम से कहा जाता है।

अनुभाव के विषय कौन-कौन से हैं, इस सन्दर्भ में कहते हैं –

कः पुनरसावित्याह –

उक्ताः स्त्रीणामलङ्काराः अङ्गजाश्च स्वभावजाः।।133।।

तद्रूपाः सात्त्विका भावास्तथा चेष्टाः परा अपि।

तद्रूपा अनुभावस्वरूपाः। तत्र यो यस्य रसस्यानुभावः स तत्स्वरूपवर्णने वक्ष्यते।

अनुभाव कौन-कौन है, यह कहते हैं –

स्त्रियों के अर्थात् नायिकाओं के अंगज अलंकार, स्वाभाविक अलंकार, अनुभाव रूपी सात्त्विक भाव तथा रत्यादि भावों से प्रभावित और अन्यान्य चेष्टाएँ।

कारिका में आये हुए तद्रूपा का अर्थ है अनुभाव स्वरूप, जो जिस रस का अनुभाव है, वह उस रस के स्वरूप के वर्णन में कहा जायेगा।

सात्त्विक भाव –

तत्र सात्त्विकाः –

विकाराः सत्त्वसंभूताः सात्त्विकाः परिकीर्तिताः।।134।।

सत्त्वं नाम स्वात्मविश्रामप्रकाशकारी कश्चान्तरो धर्मः।

सत्वमात्रोद्भवत्वात्त भिन्ना अप्यनुभावतः।

'गोबलीवर्दन्यायेन' इति शेषः।

सत्त्व से उत्पन्न अर्थात् मन से उत्पन्न है जो विकार हैं, वे सात्त्विक-भाव कहलाते हैं। सत्त्व का अभिप्राय है – अपने अन्तःकरण में रहने वाला एक प्रकाशकारी धर्म जिसके कारण

सामाजिक सहृदय रत्यादि भावों का रसोद्बोध करते हैं। सत्त्व मात्र से उत्पन्न होने के कारण सात्त्विक भाव अनुभाव से भिन्न हैं।

गोबलीवर्दन्याय का अभिप्राय है कि ''गाय जानी है, इससे बैल भी जाना'' है इसका ग्रहण हो जाता है परन्तु गौओं से विशेषता प्रकट करने के लिए बलीवर्द (बैल) का पृथक् ग्रहण किया जाया करता है वैसे ही अनुभावों में सात्त्विक भावों के होने पर भी अनुभावों से विशेष बताने के लिए सात्त्विक भावों का अलग से ग्रहण किया जाता है।

के त इत्याह –

स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमाञ्चः स्वरभङ्गोऽथ वेपथुः।।135।।

वैवर्ण्यमश्रु प्रलय इत्यष्टौ सात्त्विकाः स्मृताः।

सात्त्विक भाव कितने है, यह कहते हैं –

सात्त्विक भाव कुल आठ है – 1. स्तम्भ 2. स्वेद 3. रोमाञ्च 4. स्वरभंग 5. वेपथु 6. वैवर्ण्य 7. अश्रु 8. प्रलय।

तत्र

स्तम्भश्चेष्टाप्रतीघातोः भयहर्षामयादिभिः।।136।।

वपुर्जलोद्गमः वेदो रतिघर्मश्रमादिभिः।

हर्षाद्भुतभयादिभ्यो रोमाञ्चो रोमविक्रिया।।137।।

मदसंमदपीडाद्यैर्वैस्वर्यं गद्गदं विदुः।

रागद्वेषश्रमादिभ्यः कम्पो गात्रस्य वेपथुः।।138।।

विषादमदरोषाद्यैर्वर्णान्यत्वं विवर्णता।

अश्रु नैत्रोद्भवं वारि क्रोधदुःखप्रहर्षजम्।।139।।

प्रलयः सुखदुःखाभ्यां चेष्टाज्ञाननिराकृतिः।

1. **स्तम्भ** – भय, हर्ष तथा रोग इत्यादि से शरीर के व्यापारों का रुक जाना स्तम्भ कहलाता है।

2. **स्वेद** – रति, आतप, परिश्रम इत्यादि से शरीर से निकलने वाले जल को स्वेद कहते हैं।

3. **रोमांच** – हर्ष, अद्भुत तथा भय रत्यादिसे शरीर के रोओं का खड़ा हो जाना ही रोमांच कहलाता है।

4. **स्वरभंग** – मद्यपान, अनुराग तथा पीड़ा रत्यादिके द्वारा गद्गद हो जाना अथवा गले का रुक जाना स्वरभंग कहलाता है।

5. **वेपथु** – राग, द्वेष तथा परिश्रम आदि से शरीर में कम्पन होना वेपथु कहलाता है।

6. **वैवर्ण्य** – दुःख, अहंकार, रोष रत्यादिके कारण उत्पन्न वर्णविकार का नाम वैवर्ण्य है।

7. **अश्रु** – क्रोध, दुःख तथा प्रसन्नता के कारण नेत्रों से टपकने वाले जलकणों को अश्रु कहते हैं।

8. **प्रलय** – सुख और दुःख के द्वारा चेष्टा की शून्यता ही प्रलय है।

यथा च –

तनुस्पर्शादस्या दरमुकुलिते हन्त! नयने

उदञ्चद्रोमाञ्चं व्रजति जडतामङ्गमखिलम्।

कपोलौ धर्मार्द्रौ ध्रुवमुपरताशेषविषयं

मन सान्द्रानन्दं स्पृशति झटिति ब्रह्म परमम्।।

एवमन्यत्।

मेरे शरीर के स्पर्श से इस सुन्दरी के नयनकमल अधखिले दिखाई दे रहे हैं, शरीर पूर्ण रूप से रोमाञ्चित है, शरीर के सम्पूर्ण अंग जड़ता को प्राप्त हो गए हैं, दोनों गाल आतप के कारण अथवा पसीने के कारण गीले हो गये है, निश्चित रूप से ऐसा प्रतीत होता है कि यह सुन्दरी अन्य समस्त विषयों से विरक्त हो चुकी है तथा इसका मन ब्रह्मानन्द रूप सघन आनन्द में लीन हो रहा है अर्थात् यह ब्रह्मानन्द को प्राप्त कर चुकी है।

इस पद्य में रोमांच, स्वेद तथा प्रलय रूपी सात्त्विक भावों का मनोहारी वर्णन किया गया है।

इस प्रकार और भी उदाहरण जानने चाहिए।

व्यभिचारी भाव –

अथ व्यभिचारिणः,

विशेषादाभिमुख्येन चरणाद्वयभिचारिणः।

स्थायिन्युन्मग्ननिर्मग्नास्त्रयस्त्रिंशच्च तद्भिदाः।।140।।

स्थिरतया वर्तमाने हि रत्यादौ निर्वेदादयः प्रादुर्भावतिरोभावाभ्यामाभिमुख्येन चरणाद् व्यभिचारिणः कथ्यन्ते।

विशेष रूप से रत्यादि स्थायी भावों को रसास्वाद में परिणत करने वाले, स्थायी भाव के समुद्र में जो डूबते एवं निकलते रहते हैं, वे 33 प्रकार के व्यभिचारी भाव कहलाते हैं। विभाव तथा अनुभाव की अपेक्षा अनुकूलता से सामाजिकों के हृदय में विद्यमान रत्यादि स्थायी भावों को जो रसास्वाद में बदल देते हैं तथा जो बुलबुले की तरह सहृदय-हृदय में डूबने, निकलते रहते हैं, वे व्यभिचारी भाव कहलाते हैं।

स्थिर रूप में रत्यादि स्थायी भावों के ही उत्पन्न होने से तथा तिरोहित होने के कारण निर्वेद इत्यादि भावों से युक्त होने से व्यभिचारी भाव कहा जाता है। सहृदय–हृदय में स्थिर रूप से रहने वाले रत्यादि स्थायी भाव ही उत्पन्न एवं तिरोहित होने के कारण निर्वेद इत्यादि व्यभिचारी भाव कहे जाते हैं।

के त इत्याह –

"निर्वेदावेगदैन्यश्रमदजडता औग्रय्मोहौ विबोधः–

स्वप्नापस्मारगर्वा मरणमलसतामर्षनिद्रावहित्थाः।

औत्सुक्योन्मादशङ्का स्मृतिमतिसहिता व्याधिसत्रासलज्ज

हर्षासूयाविषादाः सधृतिचपलता ग्लानिचिन्तावितर्काः।।141।।

व्यभिचारी भाव कितने हैं? यह कहते हैं –

1. निर्वेद 2. आवेग 3. दैन्य (दीनता) 4. श्रम 5. मद 6. जडता 7. औग्रय (उग्रता) 8. मोह 9. विबोध 10. स्वप्न 11. अपस्मार 12. गर्व 13. मरण 14. अलसता (आलस्य) 15. अमर्ष 16. निद्रा 17. अविहत्था 18. औत्सुक्य (उत्सुकता) 19. उन्माद 20. शंका 21. स्मृति 22. मति 23. व्याधि 24. त्रास 25. लज्जा 26. हर्ष 27. असूया 28. विषाद 29. धृति 30. चपलता 31. ग्लानि 32. चिन्ता 33. वितर्क।

तैंतीस प्रकार के व्यभिचारी भावों का विस्तृत अध्ययन आप मूल पुस्तक से कर सकते हैं।

अथ स्थायिभावः

अविरुद्धा विरुद्धा वा यं तिरोधातुमक्षमाः।

आस्वादाङ्कुरकन्दोऽसौ भावः स्थायीति संमतः।।174।।

यदुक्तम्–

'स्रक्सूत्रवृत्तया भावनामन्येषामनुगामकः।

न तिरोधीयते स्थायी तैरसो पुष्यते परम्'।। इति।

जिसको अविरुद्ध एवं विरुद्ध भाव दबा न सके अर्थात् तिरोहित न कर सकें, यह तो रस का अंकुरण है तथा जो अन्त तक विद्यमान रहे उसको स्थायी भाव कहते हैं। जैसे माला के फूल अथवा मोती गुम्फन सूत्र को प्रकाशित एवं परिपुष्ट करते हैं, वैसे ही जिसे अन्य भाव प्रकाशित एवं परिपुष्ट करते हैं, वह स्थायी भाव कहलाता है।

तद्भेदानाह – रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा।

जुगुप्सा विस्मयश्चेत्थमष्टौ प्रोक्ताः शमोऽपि च।।175।।

स्थायी भाव नौ प्रकार के हैं, जैसे – रति, हास, शोक, उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय, शम।

रतिर्मनोऽनुकूलेऽर्थे मनसः प्रवणायितम्।

वागादिवैकृतैश्चेतोविकासो हास इष्यते।।176।।

इष्टनाशादिभिश्चेतोवैक्लव्यं शोकशब्दभाक्।

प्रतिकूलेषु तैक्ष्ण्यस्यावबोधः क्रोध इष्यते।177।।

कार्यारम्भेषु संरम्भः स्थेयानुत्साह उच्यते।

रौद्रशक्त्या तु जनितं चित्तवैक्लव्यं भयम्।।178।।

दोषेक्षणादिभिर्गर्हा जुगुप्सा विस्मयोद्भवा।

विविधेषु पदार्थेषु लोकसीमातिवर्तिषु।।179।।

विस्फारश्चेतसो यस्तु स विस्मय उदाहृतः।

शमो निरीहावस्थायां स्वात्मविश्रामजं सुखम्।।180।।

यथा – मालतीमाधते रतिः। लटकमेलके हासः। रामायणे शोकः। महाभारते शमः। एवमन्यत्रापि। एते ह्येतेष्वन्तरा उत्पद्यमानैस्तैस्तैर्विरुद्धैश्च भावैरनुच्छिनाः प्रत्युत परिपुष्टा एव सहृदयानुभवसिद्धाः।

स्थायी भावों की क्रमशः परिभाषा –

1. **रति** – प्रिय वस्तु के प्रति मन का अत्यधिक अनुराग रति स्थायी भाव है।

2. **हास** – वाणी, वेशभूषा, शरीर इत्यादि की विकृतियों के दर्शन एवं चिन्तन से उत्पन्न मन की विकास स्थिति को हास कहते हैं।

3. **शोक** – प्रिय वस्तु के नाश से उत्पन्न मन की परेशानी अथवा दुःख को शोक कहते हैं।

4. **क्रोध** – विरोधियों के प्रति हृदय में उत्पन्न प्रतिशोध की भावना को क्रोध कहते हैं।

5. **उत्साह** – किसी भी कार्य के प्रारम्भ में मन की स्थिरता को उत्साह कहते हैं।

6. **भय** – किसी भंयकर वस्तु की भीषण शक्ति से उत्पन्न मन की विकलता को भय कहते हैं।

7. **जुगुप्सा** – किसी घृणास्पद वस्तु के दोष-दर्शन से उत्पन्न विस्मय को जुगुप्सा कहते है।

8. **विस्मय** – अलौकिक पदार्थ के दर्शन से उत्पन्न मन के विस्तार को विस्मय कहते हैं।

9. **शम** – निस्पृहदशा से उत्पन्न अन्तःकरण के विश्राम से जनित सुख को शम कहते हैं।

उदाहरण जैसे – मालतीमाधव नामक नाटक में रति, लटकमेलक में हास, रामायण में शोक, महाभारत में शम। इस प्रकार अन्य जगह भी उदाहरण जान लेने चाहिए। इन ग्रन्थों में इन भावों के स्थायी भाव होने का यही तात्पर्य है कि अनेकों अनुकूल अथवा प्रतिकूल भावों के द्वारा जो कि इनके बीच-बीच में उत्पन्न हुआ करते हैं, इनके भावों की प्रगति सहृदयों के हृदय में रुकती नहीं प्रत्युत परिपुष्ट हुआ करती है। यही सामाजिकों का अनुभव है।

भावों का सामान्य–लक्षण –

किञ्च

नानाभिनयसम्बन्धान् भावयन्ति रसान् यतः।

तस्माद्भावा अमी प्रोक्ताः स्थायिसंचारिसात्त्विकाः।।181।।

स्थायी, सम्चारी तथा सात्त्विक भावों को इसलिए भाव कहा जाता है कि मैं अनेक प्रकार के अभिनय से मुक्त होने वाले रस को भावित करते है अर्थात् प्रकट करते है।

यदुक्तम् – ''सुखदुःखादिभिर्भावैर्भावस्तद्भावभावनम्'' अर्थात् सुख, दुःख इत्यादि भावों से सहृदय-हृदय को भावित करने वाले पदार्थ भाव कहे जाते हैं।

8.3 रस भेद

भावों का सामान्य लक्षण करने के बाद अब रस के भेद बताते हैं–

अथ रसस्य भेदानाह–

श्रृंगारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः।

बीभत्सोऽद्भुत् इत्यष्टौ रसाः शान्तस्तथा मतः।।182।।

रस के 9 भेद है, वें क्रमशः इस प्रकार है – 1. श्रृंगार, 2.हास्य, 3. करुण, 4. रौद्र, 5.वीर, 6. भयानक, 7. बीभत्स, 8. अद्भुत, 9. शान्त।

8.3.1 श्रृंगार रस

तत्र श्रृङ्गारः –

श्रृङ्ग हि मन्मथोद्भेदस्तदागमनहेतुकः।

उत्तमप्रकृतिप्रायो रसः श्रृङ्गार इष्यते।।183।।

परोढां वर्जयित्वा तु वेश्यां चाननुरागिणीम्।

आलम्बनं नायिकाः स्युर्दक्षिणाद्याश्च नायकाः।।184।।

चन्द्रचन्दनरोलम्बरुताद्युद्दीपनं मतम्।

भ्रूविक्षेपकटाक्षादिरनुभावः प्रकीर्तितः।।185।।

त्यक्त्वौग्रय्मरणालस्यजुगुप्साव्याभिचारिणः।

स्थायिभावो रतिः श्यामवर्णोऽयं विष्णुदैवतः।।186।।

यथा – ''शून्यं वासगृहम्'' – इत्यादि। अत्रोक्तस्वरूपः पतिः, उक्तस्वरूपा च बाला आलम्बनविभावौ। शून्यं वासगृहमुद्दीपनविभावः। चुम्बनमनुभावः। लज्जाहासौ व्यभिचारिणौ। एतैरभिव्यक्तः सहृदयविषयो रतिभावः शृंगाररसरूपतां भजते।

श्रृंगार शब्द का तात्पर्य है कामदेव से उत्पन्न होने वाला रस अर्थात् स्त्री और पुरुष के परस्पर अनुराग से उत्पन्न होने वाला रस। ''शृङ्गं ऋच्छति'' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो शृंग अर्थात् कामुक-युगल के उत्पीडक को प्राप्त हो जाये अर्थात् कामावस्था से उत्पन्न, वह श्रृंगार कहलाता है। कामुकों को अपनी चरम-अवस्था से जो मारता है, वह श्रृंग कहलाता है और उस अवस्था से युक्त श्रृंगार कहलाता है।

यह श्रृंगार रस उत्तम प्रकृति से युक्त नायक और नायिका अथवा पुरुष एवं स्त्री में होता है। इसके आलम्बनादि विभाव क्रमशः इस प्रकार हैं–

आलम्बन विभाव – परोढा अर्थात् अन्य किसी से विवादित, प्रेम से युक्त स्त्री एवं अनुराग शून्य वेश्या को छोड़कर अन्य सभी प्रकार की नायिकाएँ, दक्षिण इत्यादि प्रकार के नायक इसके आलम्बन विभाव हैं।

उद्दीपन विभाव – चन्द्रमा अर्थात् चाँदनी, चन्दन एवं भ्रमर इत्यादि की शंका इसके उद्दीपन विभाव हैं।

अनुभाव – भौंहों को चढ़ाना तथा कटाक्षादि इसके अनुभाव हैं।

व्यभिचारी भाव – उग्रता, मरण, आलस्य तथा जुगुप्सा को छोड़कर सभी इसके व्यभिचारी भाव होते हैं।

स्थायी भाव – इसका स्थायी भाव रति है।

वर्ण – इसका वर्ण श्याम है।

देवता – इसके देवता विष्णु हैं।

'शून्यं वासगृहं' इस पद्य में पति (नायक) एवं स्त्री, पत्नी (नायिका) आलम्बन विभाव है। सूना कमरा उद्दीपन विभाव है, चुम्बन अनुभाव है, लज्जा तथा हास व्यभिचारी भाव है, इन सभी से व्यक्त होने वाला, सहृदयों का जो विषय है, वह रतिभाव शृंगार रस को व्यक्त करता है।

तद्भेदानाह –

विप्रलम्भोऽथ संभोग इत्येष द्विविधो मतः।।186।।

शृंगार के भेदों का निरूपण किया जा रहा है– विप्रलम्भ शृंगार और सम्भोग शृंगार इसके दो भेद हैं।

विप्रलम्भ शृंगार –

तत्र –

यत्र तु रतिः प्रकृष्टा नाभीष्टमुपैति विप्रलम्भोऽसौ।

अभीष्टं नायके नायिकां वा।

स च पूर्वरागमानप्रवासकरुणात्मकश्चतुर्धा स्यात्।।187।।

जहाँ नायक-नायिका का परस्पर प्रेम बहुत प्रगाढ होता है लेकिन दोनों का मिलन नहीं हो पाता वहाँ विप्रलम्भ शृंगार होता है। यह चार प्रकार का होता है– पूर्वराग, मान, प्रवास, करुण।

1. पूर्वराग – श्रवणाद्दर्शनाद्वापि मिथः संरूढरागयोः।

दशाविशेषो योऽप्राप्तौ पूर्वरागः स उच्यते।।188।।

श्रवणं तु भवेत्तत्र दूतवन्दीसखीमुखात्।

इन्द्रजाले च चित्रे च साक्षात्स्वप्ने च दर्शनम्।।189।।

अभिलाषश्चिन्तास्मृतिगुणकथनोद्वेगसंप्रलापाश्च।

उन्मादोऽथ व्याधिर्जडता मृतिरिति दशात्र कामदशाः।।190।।

अभिलाषः स्पृहा चिन्ता प्राप्त्युपायादिचिन्तनम्।

उन्मादश्चापरिच्छेदश्चेतनाचेतनेष्वपि।।191।।

अलक्ष्यवाक्प्रलापः स्याच्चेतसो भ्रमणाद् भ्रशम्।

व्याधिस्तु दीर्घनिःश्वासपाण्डुताकृशतादयः।।192।।

जडता हीनचेष्टत्वमङ्गनां मनसस्तथा।

रूप-सौन्दर्य इत्यादि के श्रवण अथवा दर्शन से परस्पर एक दूसरे पर अनुरक्त नायक-नायिका की वह दशा, जो उनके समागम के पहले की हुआ करती है, पूर्वराग कहलाता है।

इसमें सौन्दर्य इत्यादि का श्रवण तो दूत, बन्दी तथा सखी आदि के मुख से सम्भव है और दर्शन इन्द्रजाल में, चित्र में, स्वप्न में अथवा साक्षात् सम्भव है।

विप्रलम्भ को प्रदर्शित करने वाली दस कामदशायें हैं– 1. अभिलाष 2. चिन्ता 3. स्मृति 4. गुणाकथन 5. उद्वेग 6. संप्रलाप 7. उन्माद 8. व्याधि 9. जडता 10. मृनि (मरण)।

1. **अभिलाष** – नायक तथा नायिका की परस्पर स्पृहा अर्थात् इच्छा।

2. **चिन्ता** – परस्पर मिलन के उपायों का चिन्तन।

3. **स्मृति** – एक दूसरे का स्मरण करना।

4. **गुणकथन** – परस्पर एक-दूसरे के गुणों को बताना।

5. **उद्वेग** – एक-दूसरे के विचारों का आदान-प्रदान।

6. **संप्रलाप** – अटपटी बातचीत करना।

7. **उन्माद** – सही-गलत में विवेक न कर पाना।

8. **व्याधि** – दीर्घ निःश्वास, पाण्डुता तथा कृशता आदि।

9. **जडता** – अंगों और मन की अस्थिरता।

10. **मृति** – मरणावस्था

विप्रलम्भ-श्रृंगार में वर्जित कामदशायें –

रसविच्छेदहेतुत्वान्मरणं नैन वर्ण्यते।।193।।

जातप्रायं तु तद्वाच्यं चेतसाकाङ्क्षितं तथा।

वर्ण्यतेऽपि यदि प्रत्युज्जीवनं स्याददूरतः।।194।।

रसविच्छेद के कारण से विप्रलम्भ-शृंगार में मरण का वर्णन निषिद्ध है क्योंकि इससे रस विच्छिन्न हो जाता है। यदि इसका वर्णन किया भी जाये तो केवल दो प्रकारों से ही किया जा सकता है – 1. मरणासन्न दशा के रूप में 2. मरण की हार्दिक अभिलाषा के रूप में। वैसे इस ढंग से कि मर कर भी शीघ्र पुनर्जीवन मिल जाये, यहाँ मरण का वर्णन किया जा सकता है।

कुछ आचार्य काम की अधोलिखित दशायें स्वीकार करते है –

1.	नयन-प्रीति	6.	विषय-निवृत्ति
2.	मन की आसक्ति	7.	त्रपानाश (लज्जा का नाश)
3.	संकल्प (मिलन की इच्छा)	8.	उन्माद
4.	निद्राच्छेद	9.	मूर्च्छा
5.	तनुता	10.	मरण

तत्र च –

आदौ वाच्यः स्त्रिया रागः पुंसः पश्चात्तदिङ्गितैः।

इङ्गितान्युक्तानि। यथा रत्नावल्यां सागरिकावत्सराजयोः। आदौ पुरुषानुरागे सम्भवत्यप्येवमधिकं हृदयङ्गमं भवति।

पूर्वराग के विषय में यह एक बात ध्यातव्य है कि पहले स्त्री का अनुराग का वर्णन हो तथा बाद में पुरुष का अनुराग। जैसे – रत्नावली नाटिका में वत्सराज उदयन तथा सागरिका का पूर्वराग। यदि नायिका का अनुराग नायक पर पहले हो जाये तो पूर्वराग की अभिव्यञ्जना बहुत ही रमणीय एवं हृदयस्पर्शी हो जाती है।

नीली कुसुम्भं मञ्जिष्ठा पूर्वरोगोऽपि च त्रिधा।।

तत्र–

न चातिशोभते यन्नापैति प्रेम मनोगतम्।

तन्नीलीरागमाख्यातं यथा श्रीरामसीतयोः।।196।।

कुसुम्भरागं तत्प्राहुर्यदपैति च शोभते।

मञ्जिष्ठारागमाहुस्तद् यन्नापैत्यतिशोभते।।197।।

पूर्वराग तीन प्रकार का होता है– नीलीराग, कुसुम्भ-राग, मञ्जिष्ठा-राग

1. **नीली-राग** – बाहरी दिखावें को छोड़कर ह्रदय में कूट-कूटकर भरा रहने वाला राग नीली-राग कहलाता है, जैसे – राम और सीता का अनुराग।

2. **कुसुम्भ-राग** – जो बाहरी आभा तो रखता हो लेकिन मन से जो न हो वह कुसुम्भ राग कहलाता है।

3. **मञ्जिष्ठा-राग** – जो मन में भी हो तथा बाहरे दिखावे में भी दिख जाये उसे मञ्जिष्ठा राग कहते हैं।

2. मान विप्रलम्भ शृंगार –

अथ मानः – मानः कोपः स तु द्वेधा प्रणयेर्ष्यासमुद्‌भवः।

द्वयोः प्रणयमानः स्यात् प्रमोदे सुमहत्यापि।।198।।

प्रेम्णः कुटिलगामित्वात् कोपो यः कारणं विना।।

मान का अर्थ है प्रेम में कोप अर्थात् गुस्सा करना (रूठ जाना)। यह दो प्रकार का है – 1. प्रेम से उत्पन्न मान 2. ईर्ष्या से उत्पन्न मान।

1. प्रेम से उत्पन्न मान (प्रणय-मान) – नायिका तथा नायक दोनों के एक-दूसरे से अत्यधिक प्रेम होने पर भी अकारण कोप जहाँ सम्भव हो वहाँ यह मान होता है क्योंकि प्रेम की चाल टेढ़ी होती है।

अनुनयपर्यन्तासहत्वे त्वस्य न विप्रलम्भभेदता, किन्तु संयोगसाश्चर्याख्यभावत्वम्।

यदि प्रणय-मान दोनों में से किसी से भी समाप्त हो जाये तो इसे विप्रलम्भ शृंगार में नहीं माना जा सकता, अनुनय-विनय से समाप्त होने वाला प्रणयमान सम्भोग शृंगार का परिपोषक है।

2. ईर्ष्या से उत्पन्न मान (ईर्ष्यामान)

पत्युरन्यप्रियासङ्गे दृष्टेऽथानुमिते श्रुते।।199।।

ईर्ष्यामानो भवेत्स्त्रीणां तत्र त्वनुमतिस्त्रिधा।

उत्स्वप्नायितभोगाङ्कगोत्रस्खलनसम्भवा।।200।।

पति के किसी दूसरी प्रेमिका पर आसक्ति के देखने, सुनने अथवा अनुभव करने से नायिका के प्रेम कोप का जहाँ वर्णन होता है, वह ईर्ष्यामान कहलाता है। यह तीन प्रकार का है –

1. उत्स्वप्नायित जन्य 2. भोगांक जन्य 3. गोत्र-स्खलन जन्य

3. प्रवास-विप्रलम्भ शृंगार –

प्रवासो भिन्नदेशित्वं कार्याच्छापाच्च संभ्रमात्।

तत्राङ्गचेलमालिन्यमेकवेणीधरं शिरः।।204।।

निःश्वासोच्छ्वासरुदितभूमिपातादि जायते।

कार्यवश, शापवश तथा संभ्रमवश नायक के किसी अन्य देश अर्थात् किसी अन्य स्थान में गमन को विप्रलम्भ (प्रवास) कहते हैं। इसमें नायिका की ये चेष्टाएँ हुआ करती हैं –

1. अंगों की मलिनता 2. वस्त्रों की मलिनता 3. एक चोटी बनाना 4. निःश्वास-उच्छ्वास 5. रुदन 6. भूमिपतन इत्यादि।

दस कामदशाएँ –

अङ्गेष्वसौष्ठवं तापः पाण्डुता कृशताऽरुचिः।।205।।

अवृतिः स्यादनालम्बस्तन्मयोन्मादमूर्च्छनाः।

मृतिश्चेति क्रमाज्ज्ञेया दश स्मरदशा इह।।206।।

असौष्ठवं मलापत्तिस्तापस्तु विरहज्वरः।

अरुचिर्वस्तुवैराग्यं सर्वत्रारागिता धृतिः।।206।।

अनालम्बनता चापि शून्यता मनसः स्मृता।

तन्मयं तत्प्रकाशो हि बाह्याभ्यन्तरतस्तथा।।

दस कामदशाएँ इस प्रकार हैं – 1. अंगों का सौष्ठव, 2. सन्ताप, 3. पाण्डुता, 4. दुर्बलता, 5. अरुचि, 6. अधीरता, 7. अनालम्बनता, 8. तन्मयता, 9. उन्माद, 10. मूर्च्छा।

भावी भवन्भूत इति त्रिधा स्यात्तत्र कार्यजः।।208।।

कार्यस्य बुद्धिपूर्वकात्वात्त्रैविध्यम्।

कार्यज-प्रवास के तीन भेद हैं– 1. भावी 2. वर्तमान 3. भूत।

कार्य का विचार बुद्धिपूर्वक तीनों कालों में सम्भव है अतः यह कहा गया है।

संभ्रम-प्रवास

संभ्रमो दिव्यमानुषनिर्घातोत्पातादिजः।

संभ्रम अर्थात् दिव्य, मानुष, निर्घात तथा उत्पात इत्यादि से उत्पन्न होने वाला प्रवास संभ्रम प्रवास कहलाता है।

यथा – विक्रमोर्वश्यामुर्वशीपुरुरवसोः अर्थात् विक्रमोर्वशीयम् में उर्वशी और पुरुरवा का जो विप्रयोग है, वह संभ्रम प्रवास है।

अत्र पूर्वरागोक्तानामभिलाषादीनामत्रोक्तानां चाङ्गासौष्ठवादीनामपि दशानामुभयेषामप्युभयत्र सम्भवेऽपि चिरन्तनप्रसिद्धया विविच्य प्रतिपादनम्।

जैसे पूर्वराग विप्रलम्भ की अभिलाषादि दस कामदशायें प्रवास विप्रलम्भ में सम्भव हैं वैसे ही प्रवास विप्रलम्भ की अंग-असौष्ठवादि दस कामदशायें पूर्वराग-विप्रलम्भ में भी सम्भव है, किन्तु यहाँ इनकी पृथक्-पृथक् स्थिति इसलिये निर्दिष्ट की गयी क्योंकि प्राचीन परम्परा इसी के पक्ष में है।

4. करुणविप्रलम्भ –

यूनोरेकतरस्मिन्गतवति लोकान्तरं पुनरलभ्ये।

विमनायते यदैकस्ततो भवेत् करुणविप्रलम्भाख्यः।।209।।

यथा– कादम्बर्यां पुण्डरीकमहाश्वेनावृत्तान्ते। पुनरलभ्ये शरीरान्तरेण वा लभ्ये तु करुणाख्य एव रसः। किञ्चात्राकाशसरस्वतीभाषानन्तरमेव श्रृङ्गारः, संगमप्रत्याशया रतेरुद्भवात्। प्रथमं तु करुण एव, इत्यभियुक्ता मन्यन्ते।

युवक और युवती अर्थात् प्रेमी और प्रेमिका में से किसी एक के मर जाने पर, किन्तु पुनरुज्जीवित हो सकने की दशा में, जीवित बचे दूसरे का हृदय जब शोक अथवा दुःख से युक्त हो जाये तो वहाँ करुण-विप्रलम्भ होता है।

उदाहरण जैसे – कादम्बरी के पुण्डरीक-महाश्वेता की कथा में, पुनरुज्जीवित होने वाले पुण्डरीक की मृत्यु पर महाश्वेता के द्वारा शोक का प्रदर्शन।

प्रेमी और प्रेमिका में से किसी एक की मृत्यु से मिलन की अत्यन्त निराशा एवं परलोक में मिलन की आशा की दशा में जो रस प्रकट होगा, वह करुण रस ही होगा क्योंकि मिलन की आशा के ना होने पर रति सम्भव नहीं है। वहाँ तो शोक ही होगा। इस दशा में करुण-विप्रलम्भ शृंगार नहीं हो सकता।

कादम्बरी के महाश्वेता-पुण्डरीक के प्रसंग में सर्वप्रथम प्रकट होने वाला रस करुण ही है। यह तो आकाशवाणी के द्वारा महाश्वेता के हृदय में पुण्डरीक के पुनर्मिलन की आशा के जग उठने के बाद की बात है कि महाश्वेता का रतिभाव उद्बोधन होता है और सहृदय करुण विप्रलम्भ शृंगार का रस ले सकता है।

किन्तु कुछ विद्वानों का यहाँ यह तर्क है कि आकाशवाणी के द्वारा महाश्वेता के हृदय में पुण्डरीक के मिलन की आशा के जग जाने के बाद भी यहाँ करुण विप्रलम्भ नहीं अपितु प्रवास विप्रलम्भ शृंगार ही है क्योंकि पुण्डरीक और महाश्वेता भिन्न देश के ही नहीं प्रत्युत भिन्न लोक के निवासी हैं और महाश्वेता के हृदय में पुण्डरीक के प्रति प्रेम उत्पन्न हो गया है।

यश्चात्र 'संगमप्रत्याशानन्तरमपि भवतो विप्रलम्भशृङ्गारस्य प्रवासाख्यो भेद एव' इति केचिदाहुः, तदन्ये 'मरणरूपविशेषसम्भावत्तद्भिन्नमेव' इति मन्यन्ते।

इसी प्रसंग में तीसरा यह मत है कि आकाशवाणी के द्वारा महाश्वेता के हृदय में पुण्डरीक के मिलन की आशा के उद्बोधन में न तो करुण विप्रलम्भ की सम्भावना है और न ही प्रवास विप्रलम्भ की ही। वस्तुतः यहाँ जो रस है वह करुण विप्रलम्भ तथा प्रवास विप्रलम्भ से भिन्न एक अलग प्रकार का ही रस है क्योंकि यहाँ मरण दशा के प्रतिपादन का वैशिष्ट्य एक और विप्रलम्भ शृंगार की सम्भावना कर रहा है।

शृंगार रस का द्वितीय भेद – सम्भोग शृंगार

> दर्शनस्पर्शनाद्दीनि निषेवेते विलासिनौ।
>
> यत्रानुरक्तावन्योन्यं सम्भोगोऽयमुदाहृतः।।210।।

जहाँ विलासी अर्थात् प्रेमी और प्रेमिका (नायक, नायिका) के परस्पर दर्शन एवं स्पर्श के साथ-साथ, एक दूसरे में अनुरक्तता हो, वहाँ सम्भोग श्रृंगार होता है।

आदिशब्दादन्योन्याधरपानचुम्बनादयः। यथा – ''शून्यं वासगृहम्'' इत्यादि।

आदि शब्द से तात्पर्य यहाँ परस्पर अधर-पान, चुम्बन तथा आलिंगन इत्यादि है। उदाहरण जैसे – ''शून्यं वासगृहम्'' यह पद्य।

संख्यातुमशक्यतया चुम्बनपरिरम्भणादिबहुभेदात्।

अयमेक एव धीरैः कथितः सम्भोगश्रृंगारः।।211।।

तत्र स्यादृतुषट्कं चन्द्रादित्यौ तथोदयास्तमयः।

जलकेलिवनविहारप्रभातमधुपानयामिनीप्रभृतिः।।212।।

अनुलेपनभूषाद्या वाच्यं शुचि मेध्यमन्यच्च।

तथा च भरतः – यत्किञ्चिल्लोके शुचि मेध्यमुज्ज्वलं दर्शनीयं वा तत्सर्वं श्रृंगारेणोपमीयते (उपयुज्यते च) इति।

चुम्बन, आलिंगन इत्यादि सुख भोगों की गणना न हो सकने के कारण (संख्या में अत्यधिक होने से) सम्भोगश्रृंगार एक ही प्रकार का है, इसमें ही सभी सम्मिलित हैं। सभी छह ऋतुएँ, चन्द्रोदय, चन्द्रास्त, सूर्योदय, सूर्यास्त, जलकेलि, वन विहार, प्रातःकाल, मधुपान, रात्रि, चन्दन-अनुलेपन, अलंकार धारण, स्वच्छ, सुन्दर तथा सुमधुर पदार्थ उद्दीपन विभाव हैं। इस सन्दर्भ में भरतमुनि कहते हैं – इस संसार में जो कुछ पवित्र, उज्ज्वल, स्वच्छ तथा दर्शनीय है वे सभी पदार्थ श्रृंगार में ही आते हैं।

किञ्च –

कथितश्चतुर्विधोऽसावानन्तर्यात्तु पूर्वरागादेः।।213।।

यदुक्तम् – न विना विप्रलम्भेन संभोगः पुष्टिमश्नुते।

कषायिते हि वस्त्रादौ भूयान् रागो विवर्धते।।इति।

सम्भोग – श्रृंगार के चार प्रकार हैं – 1. पूर्वरागानन्तर संभोग 2. मानानन्तर संभोग 3. प्रवासानन्तर संभोग 4. करुणनिप्रलम्भानन्तर संभोग

बिना विप्रलम्भ के संभोग का आनन्द नहीं मिला करता है क्योंकि वस्त्रादि के हल्के रंगे होने पर ही रंग चढ़ा करता है।

उदाहरण जैसे – 'कुमारसम्भव' में शिव-पार्वती के परस्पर अनुराग वर्णन में पूर्वरागानन्तर संभोग श्रृंगार है।

8.3.2 हास्य रस

अथ हास्यः –

विकृताकारवाग्वेषचेष्टादेः कुहकाद्भवेत्।

हास्यो हासस्थायिभावः श्वेतः प्रमथदैवतः।।214।।

विकृताकारवाक्चेष्टं यमालोक्य हसेज्जनः।

तमत्रालम्बनं प्राहुस्तच्चेष्टोद्दीपनं मतम्।।215।।

विकृति, वाक्-विकृति, वेष विकृति तथा चेष्टा विकृति इत्यादि अथवा अन्यान्य प्रकार की विकृतियों के वर्णन से हास्य रस उत्पन्न होता है। इसका स्थायी भाव हास है। इसका वर्ण श्वेत है। इसके देवता प्रमथगण हैं। इसका आलम्बन वह व्यक्ति है जिसमें आकार, वाणी, वेष तथा चेष्टा की विकृतियाँ दिखायी देती हैं। जिसे देख-देखकर लोग हँसते हों उस व्यक्ति की चेष्टायें ही यहाँ उद्दीपन विभाव हैं।

अनुभावोऽक्षिसंकोचवदनस्मेरतादयः।

निद्रालस्यावहित्थद्या अत्र स्युर्व्यभिचारिणः।।216।।

ज्येष्ठानां स्मितहसिते मध्यानां विहसितावहसिते च।

नीचानामपहसितं तथातिहसितं तदेष षडभेदः।।217।।

ईषाद्विकासिनयनं स्मितं स्याद् स्पन्दिताधरम्।

किञ्चिल्लक्ष्यद्विजं तत्र हसितं कथितं बुधैः।।218।।

मधुरस्वरं विहसितं सांसशिरः कम्पमवहसितम्।

अपहसितं सास्त्राक्षं विक्षिप्ताङ्गं च भवत्यतिहसितम्।।219।।

नेत्र निमीलन, मुख-विकास इत्यादि अनुभाव हैं। निद्रा, आलस्य तथा अवहित्था इत्यादि व्यभिचारी भाव हैं।

हास्य रस के छह भेद हैं – 1. उत्तम प्रकृतिगत स्मित हास्य, 2.उत्तम प्रकृतिगत हसित हास्य, 3. मध्यम प्रकृतिगत विहसित हास्य, 4. मध्यम प्रकृतिगत अवहसित हास्य, 5. अधम प्रकृतिगत अपहसित हास्य, 6. अधम प्रकृतिगत अतिहसित हास्य।

1. **स्मित हास्य (मुस्कुराहट)** – नेत्रों का थोड़ा सा विकास और होंठों के कुछ-कुछ फड़क उठने को स्मित हास्य कहते है।

2. **हसित हास्य** – जिसमें दाँत कुछ-कुछ दिखायी पड़ जायें वह हसित हास्य कहलाता है।

3. **विहसित हास्य** – जिसमें हास्य के साथ-साथ मधुर शब्द भी निकले वह विहसित हास्य कहलाता है।

4. **अवहसित हास्य** – जिसमें कन्धे और सिर भी काँपने लगें वह अवहसित हास्य कहलाता है।

5. **अपहसित हास्य** – ऐसी हँसी जिसमें आँखों में आँसू तक आ जाये वह अपहसित हास्य कहलाता है।

6. **अतिहसित हास्य** – जिसमें हाथ-पैर भी उठा के पटके जायें वह अतिहसित हास्य कहलाता है।

उदाहरण–

'गुरोर्गिरः पञ्चदिनान्यधीत्य वेदान्तशास्त्रीणि दिनत्रयं च।

अमी समाघ्राय च तर्कवादान्समागताः कुक्कुटमिश्रपादाः'।।

हट जाओ, देखो श्री कुक्कुट मिश्र जी पधार रहे हैं। आप ही वे महामहोपाध्याय हैं जो पाँच दिन में ही प्रभाकर गुरू के मीमांसा शास्त्र को पढ़ गये, तीन दिन में ही वेदान्त दर्शन को पी गये, तर्कशास्त्र को सूंघ लेना तो आपके चुटकियों का काम है।

''लटकमेलकम्'' नामक प्रहसन में हास्य-रस देखा जा सकता है। विभावादियों के सामर्थ्य से ही हास्य रस का अभिव्यंजन होता है। विभावादियों का साधारणीकरण ही हास्य रस का प्राण है।

8.3.3 करुण रस–

अथ करुणः

इष्टनाशादनिष्टाप्तेः करुणाख्यो रसो भवेत्।

धीरेः कपोतवर्णोऽयं कथितो यमदैवतः।।222।।

शोकोऽत्र स्थायिभावः स्याच्छोच्यमालम्बनं मतम्।

तस्य दाहादिकावस्था भवेदुद्दीपनं पुनः।।223।।

अनुभावा दैवनिन्दाभूपातक्रन्दितादयः।

वैवर्ण्योच्छ्वासनिःश्वासस्तम्भप्रलपनानि च।।224।।

निर्वेदमोहापस्मारव्याधिग्लानिस्मृतिश्रमाः।

विषादजडतोन्मादचिन्ताद्या व्यभिचारिणः।।225।।

अभीष्ट वस्तु का नाश तथा अनिष्ट वस्तु की प्राप्ति जहाँ हो, वहाँ करुण रस होता है। इसका स्थायी भाव शोक है। इसका वर्ण कपोत के रंग (आसमानी) जैसा होता है। इसके देवता यम हैं। विनष्ट व्यक्ति इसका आलम्बन विभाव है। दाह (जलाना, पीड़ित करना) इत्यादि इसके उद्दीपन विभाव हैं। भाग्य की निन्दा (कोसना), भूमिपतन, रोना, विवर्णता, उच्छ्वास, विश्वास, स्तम्भ, प्रलपन इत्यादि इसके अनुभाव हैं। निर्वेद, मोह, अपस्मार, व्याधि, ग्लानि, स्मृति, श्रम, विषाद, जडता, उन्माद और भिन्नता इसके व्याभिचारी भाव हैं।

उदाहरण जैसे मेरे राघवविलास में –

''विपिने क्व जटानिबन्धनं तव नेदं क्व मनोहरं वपुः।

अनयोर्घटना विधेः स्फुटं ननु खड्गेन शिरीषकर्त्तनम्''।।

अत्र हि रामवनवासजतिशोकार्त्तस्य दशरथस्य दैवनिन्दा। एवं बन्धुवियोगविभवनाशादावप्युदाहार्यम्। परिपोषस्तु महाभारते स्त्रीपर्वणि द्रष्टव्यः।

कहाँ तो तुम्हारा यह सुन्दर एवं कोमल शरीर और कहाँ यह इस जंगल में जटाओं का कठोर-बन्धन। इन दोनों का मेल तो भाग्य की विडम्बना है। यह तो ऐसा है जैसे तलवार से शिरीष के पुष्प को काटना।

इस श्लोक में राम के वनवास से उत्पन्न शोक से पीड़ित राजा दशरथ के द्वारा भाग्य की निन्दा वर्णित है। इसी तरह बन्धु-वियोग, वित्त नाश इत्यादि से उत्पन्न करुण रस के उदाहरण और भी देख जा सकते हैं। करुण रस का अत्यधिक परिपोष महाभारत के स्त्री-पर्व में देखना चाहिए।

(करुण और करुणविप्रलम्भ में भेद)

शोकस्थायितया भिन्नो विप्रलम्भादयं रसः।

विप्रलम्भे रतिः स्थायी पुनःसंभोगहेतुकः।।226।।

करुण और करुण-विप्रलम्भ दोनों परस्पर भिन्न-भिन्न हैं क्योंकि करुण रस का स्थायी भाव शोक करुण-विप्रलम्भ शृंगार के स्थायी भाव रति से सर्वथा भिन्न है। करुण-विप्रलम्भ में पुनर्मिलन की सम्भावना रहती है जबकि करुण में नहीं।

8.3.4 रौद्र रस –

अथ रौद्रः

रौद्रः क्रोधस्थायिभावो रक्तो रुद्राधिदैवतः।

आलम्बनमरिस्तस्य तच्चेष्टोद्दीपनं मतम्।।227।।

मुष्टिप्रहारपातनविकृतच्छेदावदारणैश्चैव।

संग्रामसंभ्रमाद्यैरस्योद्दीप्तिर्भवेत् प्रौढा।।228।।

भ्रूविभंगौष्ठनिर्देशबाहुस्फोटनतर्जनाः।

आत्मावदानकथनमायुधोत्क्षेपणानि च।।229।।

अनुभावास्तथाक्षेपक्रूरसंदर्शनादयः।

उग्रतावेगरोमाञ्चस्वेदवेपथवो मदः।।।230।।

मोहामर्षादस्यत्र भावाः स्युर्व्यभिचारिणः।

इसका स्थायी भाव क्रोध है। इसका वर्ण रक्त है। शत्रु इसमें आलम्बन-विभाव है। शत्रु की चेष्टायें, मुष्टिप्रहार, भूमि पर गिराना, भयंकर काटमार, शरीर को फाड़ देता, संग्राम और क्रोध

से उत्पन्न अन्य चेष्टायें, ये सब उद्दीपन-विभाव हैं। भ्रूभंग, ओष्ठनिर्देशन, ताल ठोंकना, तर्जना करना, अपने द्वारा किये गये वीर कर्म का वर्णन करना, शस्त्रोत्क्षेपण, आक्षेप करना इत्यादि इसके अनुभाव हैं। उग्रता, वेग, रोमांच, स्नेह, मद, मोह, अमर्ष इत्यादि व्यभिचारी भाव हैं।

उदाहरण जैसे – ''कृतमनुमतं दृष्टं वा यैरिदं गुरुपातकं

मनुजपशुभिर्निर्मयादैर्भवद्भिरुदायुधैः।

नरकरिपुणा सार्धं तेषां सभीमकिरीटिना–

मयमहमसृङ्मेदोमांसैः करोमि दिशां बलिम्''।।

वेणीसंहार नाटक में अश्वत्थामा के क्रोध का वर्णन है – मनुष्य के रूप में पशु, निर्मर्याद, शस्त्रधारी आप लोगों में से जिसने भी मेरे पिता गुरू द्रोण के वध रूपी महापाप को किया है, उसमें सहमति दी है, अथवा उसको देखा है। उन श्रीकृष्णा के साथ भीम और अर्जुन तथा उन सभी पाण्डवों के माँस तथा चर्बी से मैं दिशाओं में बलि देता हूँ।

यहाँ अर्जुन आदि आलम्बन विभाव है, पिता की हत्या से उत्पन्न भाव उद्दीपन है, गर्जना अनुभाव है, क्रोध स्थायी भाव है।

(रौद्र रस और युद्धवीर में भेद–विवेचन)

रक्तास्यनेत्रता चात्र भेदिनी युद्धवीरतः।।231।।

रौद्र रस में मुख लाल हो जाता है तथा आँखें जलती है (क्रोध के कारण) युद्धवीर में ये सब नहीं होता है।

8.3.5 वीर रस –

अथ वीरः उत्तमप्रकृतिर्वीर उत्साहस्थायिभावकः।

महेन्द्रदैवतो हेमवर्णोऽयं समुदाहृतः।।232।।

आलम्बनविभावास्तु विजेतव्यादयो मताः।

विजेतव्यादिचेष्टाद्यास्तस्योद्दीपनरूपिणः।

अनुभावास्तु तत्र स्युः सहायान्वेषणादयः।।233।।

सञ्चारिणस्तु धृतिमतिगर्वस्मृतितर्करोमाञ्चाः।

स च दानधर्मयुद्धैर्दयया च समन्वितश्चतुर्धा स्यात्।।234।।

इसका स्थायी भाव उत्साह है तथा इसके आश्रय उत्तम प्रकृति के व्यक्ति है। इसका वर्ण स्वर्ण है। इसके देवता महेन्द्र हैं। विजेतव्य शत्रु आदि इसके आलम्बन-विभाव हैं। इसके उद्दीपन-विभाव विजेतव्य शत्रु की चेष्टायें इत्यादि हैं। युद्धादि की सामग्री और अन्यान्य सहायक साधनों के अन्वेषण इसके अनुभाव हैं। धृति, मति, गर्व, स्मृति, तर्क, रोमाञ्च इत्यादि इसके व्यभिचारी भाव हैं।

स च वीरो दानवीरो धर्मवीरो युद्धवीरो दयावीरश्चेति चतुर्विधः।

यह वीर रस दानवीर, धर्मवीर, युद्धवीर, दयावीर के भेद से चार प्रकार का होता है।

दानवीर का उदाहरण – परशुराम के त्याग (दान विषयक असार) के बारे में यह उदाहरण है।

''त्यागः सप्तसमुद्रमुद्रिततमहीनिर्व्याजदानावधिः''। इति।

अत्र परशुरामस्य त्यागे उत्साहः स्थायिभावः, सम्प्रदानभूतब्राह्मणैरालम्बनविभावैः सत्त्वाध्यवसायादिभिश्चोद्दीपनविभावैर्विभावितः, सर्वस्वत्यागादिभिरनुभावैरनुभावितो, हर्षधृत्यादिभिः संचारिभिः पुष्टिं नीतो दानवीरतां भजते।

परशुराम के त्याग की क्या सीमा! सप्त समुद्रपर्यन्त पृथिवी के निष्कारण दानी उस महादानवीर के त्याग का क्या कहना?

यहाँ परशुराम के हृदय का त्याग विषयक उत्साह स्थायी भाव है। यह स्थायी भाव आलम्बन रूप दान के पात्र ब्राह्मणों अथवा उद्दीपन रूप सत्त्वोद्रेकादि गुणों से युक्त हो रहा है। सर्वस्व समर्पण आदि अनुभाव इसे अनुभावित कर रहे हैं। हर्ष, धृति इत्यादि व्यभिचारी भाव इसके परिपोषक बन रहे हैं इसीलिए यह त्यागोत्साह ''दानवीर'' का आस्वाद बन कर सहृदय को आनन्दित कर रहा है।

धर्मवीर का उदारण –

यथा युधिष्ठिरः –

''राज्यं च वसु देहश्च भार्या भ्रातृसुताश्च ये।

यच्च लोके ममायत्तं तद् धर्माय सदोद्यतम्''।।

यह राज्य, यह वैभव, यह शरीर, यह धर्मपत्नी, ये भाई, ये पुत्र-पौत्र और संसार की सभी चीजें बस, एकमात्र धर्म के लिए समर्पित हैं।

युद्धवीर का उदाहरण –

यथा श्रीरामचन्द्रः –

भो लङ्केश्वरः ! दीयतां जनकजा रामः स्वयं याचते
कोऽयं ते मतिविभ्रमः स्मर नयं नाद्यापि किञ्चिद्गतम्।
नैनं चेत् खरदूषणत्रिशिरसां कण्ठासृजा पङ्किलः
पत्रो नैष सहिष्यते मम धनुर्ज्याबन्धबन्धूकृतः।।

बालरामायण के इस पद्य में राम के युद्धोत्साह का वर्णन है। लंकापति रावण! मेरी सीता को मुझे दे दे, राम तुमसे याचना कर हरा है, मति भ्रम को छोड़ दे, अभी भी कुछ नहीं बिगड़ा है, यदि तूने मेरी बात पर ध्यान नहीं दिया तो याद रख, खर, दूषण और त्रिशिरा के खून से सना, धनुर्ज्या पर चढ़ा यह बाण तुझे जिन्दा नहीं छोड़ेगा।

दयावीर का उदाहरण –

दयावीरो यथा जीमूतवाहनः –

शिरामुखैः स्यन्दत एव रक्तमद्यापि देहे मम मांसमस्ति।
तृप्तिं न पश्यामि तवापि तावत् किं भक्षणात्त्वं विरतो गरुत्मन्!।।

एष्वपि विभावादयः पूर्वोदाहरणवदूह्याः।

हे गरुड़देव! अभी भी मेरी नाड़ियों से खून बह रहा है और अभी भी मेरी देह से मांस बचा है। मुझे लगता है तुम इतने से सन्तुष्ट नहीं। क्या बात है? तुमने खाना क्यों छोड़ दिया। प्रस्तुत पद्य में नागानन्द नाटक में जीमूतवाहन के हृदय में दयाविषयक उत्साह को प्रदर्शित किया गया है।

8.3.6 भयानक रस

अथ भयानकः –

भयानकौ भयस्थायिभावो भूतधिदैवतः।

स्त्रीनीचप्रकृतिः कृष्णो मतस्तत्त्वविशारदैः।।235।।

यस्मादुत्पद्यते भीतिस्तदत्रालम्बनं मतम्।

चेष्टा घोरतरास्तस्य भवेदुद्दीपनं पुनः।।236।।

अनुभावोऽत्र वैवर्ण्यगद्गदस्वरभाषणम्।

प्रलयस्वेदरोमाञ्चकम्पदिक्प्रेक्षणादयः।।237।।

जुगुप्सावेगसंमोहसंत्रासम्लानिदीनताः।

शंकापस्मारसम्भ्रान्तिमृत्यवाद्या व्यभिचारिणः।।238।।

इसका स्थायी भाव भय है। इसका वर्ण कृष्ण है। इसके देवता भूत अथवा काल हैं। स्त्री तथा नीच-प्रकृति के लोगों को इसका आश्रय माना है। इसका आलम्बन भयोत्पादक पदार्थ हैं। भयोत्पादक पदार्थों की भीषण चेष्टायें इसके उद्दीपन विभाव का काम करती हैं। विवर्णता, गद्गदभाषण, प्रलय, स्नेह, रोमांच, कांपना, इधर-उधर देखना आदि इसके अनुभाव हैं। जुगुप्सा, आवेग, संमोह, संत्रास, ग्लानि, दीनता, शंका, अपस्मार, संभ्रम, मरण इत्यादि इसके व्यभिचारी भाव हैं।

उदाहरण–

नष्टं वर्षवरैर्मनुष्यगणनाभावादपास्यत्रपा

मन्तः कञ्चुकिकञ्चुकस्य विशति त्रासादयं वामनः।

पर्यन्ताश्रयिभिर्निजस्य सदृशं नाम्नः किरातैः कृतं

कुब्जा नीचतयैव यान्ति शनकैरत्मिक्षणाशकिंनः।।

रत्नावली नाटिका के इस पद्य में बन्दर के वेश में आये हुए विदूषक को देखकर अन्तःपुर के नपुंसक, कुबड़े इत्यादि लोग भाग गये हैं। यह वर्णन इसमें है।

ये देखो, ये नपुंसक, जो कि पुरुषों में नहीं गिने जाते है, निर्लज्ज होकर खिसक पड़े, ये रहे बौने, जो कि डर के मारे कंचुकियों के अंगरखों के भीतर घुस पड़े, ये रहे किरात, जो कि इधर-उधर कोने-कूचों में घुसे अपने नाम को सार्थक कर रहे हैं और ये कुबड़े। ये तो लोगों की आँख बचाने के लिए चुपके से दुबकते कहीं और निकल पड़े।

8.3.7 बीभत्स रस

अथ बीभत्सः –

जुगुप्सास्थायिभावस्तु बीभत्सः कथ्यते रसः।

नीलवर्णो महाकालदैवतोऽयमुदाहृतः।।239।।

दुर्गन्धमांसरुधिरमेदांस्यालम्बनं मतम्।

तत्रैव कृमिपाताद्यमुद्दीपनमुदाहृतम।।240।।

निष्ठीवनास्यवलननेत्रसङ्कोचनादयः।

अनुभावास्तत्र मतास्तथा स्युर्व्यभिचारिणः।।241।।

मोहोऽपस्मार आवेगो व्याधिश्च मरणादयः।

इसका स्थायी भाव जुगुप्सा है। इसका वर्ण नील है। इसके देवता महाकाल हैं। दुर्गन्धमय मांस, रक्त, चर्बी इत्यादि दुर्गन्धमय वस्तु इसके आलम्बन हैं। दुर्गन्धमय मांसादि में कीड़े पड़ने आदि को इसका उद्दीपन-विभाव माना जाता है। थूकना, मुँह फेरना, नेत्रसंकोचन अर्थात् आँखे मींचना इत्यादि इसके अनुभाव हैं। मोह, अपस्मार, आवेग, व्याधि तथा मरण इत्यादि इसके व्यभिचारी-भाव हैं।

उदाहरण जैसे – मालतीमाधव नाटक में माधव के इस कथन में जुगुप्सा का आविर्भाव है –

''उत्कृत्योत्कृत्य कृत्ति प्रथममथ पृथूच्छोथभूयांसि मांसा–

न्यंसस्फिक्पृष्ठपिण्डाद्यवयवसुलभान्युग्रपूतीनि जग्ध्वा।

आर्तः पर्यस्तनेत्रः प्रकटितदशनः प्रेतरङ्क करङ्क–

दङ्कस्थादस्थिसंस्थं स्थपुटगतमपि क्रव्यमव्यग्रमत्ति''।।

यहाँ मुर्दा आलम्बन विभाव है, उसको फाड़कर माँस प्राप्त करना उद्दीपन विभाव है, उसको देखकर पूछना इत्यादि अनुभाव हैं, उद्वेग, ग्लानि इत्यादि व्यभिचारी भाव हैं, जुगुप्सा स्थायी भाव है, इस प्रकार यहाँ बीभत्स रस की प्रतीति हो रही है।

8.3.8 अद्भुत रस

अथाद्भुतः–

अद्भुतो विस्मयस्थायिभावो गन्धर्वदैवतः।।142।।

पीतवर्णो वस्तु लोकातिगमालम्बनं मतम्।

गुणानां तस्य महिमा भवेदुद्दीन पुनः।।143।।

स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमाञ्चगद्गदस्वरसंभ्रमाः।

तथा नेत्रविकासाद्या अनुभावाः प्रकीर्तिताः।।144।।

वितर्कावेगसंभ्रान्तिहर्षाद्या व्यभिचारिणः।

इसका स्थायी भाव विस्मय है। इसका वर्ण पीला है। इसके देवता गन्धर्व हैं। इसका आलम्बन-विभाव अलौकिक वस्तु है। अलौकिक वस्तु का गुण-कीर्तन इसके उद्दीपन-विभाव हैं। स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, गद्गदस्वर, संभ्रम तथा नेत्र विकास इत्यादि इसके अनुभाव हैं। वितर्क, आवेग, संभ्रम, हर्ष इत्यादि इसके व्यभिचारी भाव हैं।

उदाहरण जैसे – दोर्दण्डाञ्चितचन्द्रशेखरधनुर्दण्डावभङ्गोद्यत–

ष्टंकारध्वनिरार्यबालचरितप्रस्तावनाडिण्डिमः।

यहाँ धनुष-शंकर आलम्बन-विभाव हं, इसकी विशालता उद्दीपन-विभाव है, इसका इस प्रकार का वर्णन अनुभाव है, हर्ष इत्यादि व्यभिचारी भाव हैं, लक्ष्मण का विस्मय स्थायी भाव है, अतः यहाँ अद्भुत रस है।

8.3.9 शान्त रस

अथ शान्तः –

शान्तः शमस्थायिभाव उत्तमप्रकृतिर्मतः।।245।।

कुन्देन्दुसुन्दरच्छायः श्रीनारायणदैवतः।

अनित्यत्वादिनाऽशेषवस्तुनिःसारता तु या।।246।।

परमात्मस्वरूपं वा तस्यालम्बनमिष्यते।

पुण्याश्रमहरिक्षेत्रतीर्थरम्यवनादयः।।247।।

महापुरुष सङ्गाद्यास्तस्योद्दीपनरूपिणः।

रोमाञ्चाद्यानुभावास्तथा स्युर्व्यभिचारिणः।।248।।

निर्वेदहर्षस्मरणमतिभूतदयादयः।

इसका स्थायी भाव शम है, इसके आश्रय उत्तम-प्रकृति के व्यक्ति हैं। इसका वर्ण कुन्द-श्वेत है। इसके देवता श्रीभगवान्-नारायण हैं। अनित्यता अर्थात् दुःखमयता आदि के कारण सम्पूर्ण सांसारिक विषयों की निःसारता का ज्ञान अथवा परमात्मस्वरूप का ज्ञान ही इसका आलम्बन-विभाव है। पवित्र आश्रम, भगवान् की भूमि, तीर्थ, बगीचा, पुण्यक्षेत्र, साधु–सन्तों का संग, महापुरुषों का साथ इत्यादि इसके उद्दीपन-विभाव हैं। रोमाञ्च आदि इसके अनुभाव हैं। निर्वेद, हर्ष, स्मृति, मति तथा प्राणिमात्र पर दया आदि इसके व्यभिचारी-भाव हैं।

उदाहरण जैसे –

रथ्यान्तश्चरतस्तथा धृतजरत्कन्थालवस्याध्वगैः,

सत्रासं च सकौतुकं च सदयं दृष्टस्य तैर्नागरैः।

यहाँ समस्त सुख के हेतु की उपेक्षा के कारण समस्त सांसारिक वस्तु की निःसारता आलम्बन–विभाव है। नागरिकों द्वारा इस प्रकार से देखे जाने पर उद्दीपन-विभाव है। भिक्षा इत्यादि से उत्पन्न रोमांच और हर्ष अनुभाव हैं। शम स्थायी भाव है। अतः यह सम्पूर्ण प्रकार शान्त रस का द्योतक है।

8.4 रसाभास एवं भावाभास

नौ प्रकार के रसों का विवेचन करने के बाद रसाभास एवं भावाभास का वर्णन करते हैं।

अथ रसाभासभावाभासौ–

अनौचित्यप्रवृत्तत्व आभासो रसभावयोः।।262।।

अनौचित्यं चात्र रसानां भरतादिप्रणीतलक्षणानां सामाग्रीरहितत्वे एकदेशयोगित्वोपलक्षणपरं बोध्यम्।

रस और भाव यदि किसी अनौचित्य के साथ वर्णित हों तो उसे रसाभास एवं भावाभास कहते हैं। अनुचित अर्थात् लोक एवं शास्त्र के विरुद्ध विभावादियों का जहाँ वर्णन हो वहाँ रसाभास होता है। अनुचित विषयों का जहाँ वर्णन हो वहाँ भावाभास होता है। यहाँ अनौचित्य का अर्थ है – भरतमुनि इत्यादि आचार्यों ने प्रमाणिक रूप से विभाव, अनुभाव तथा सञ्चारी से उत्पन्न रस का वर्णन किया है। अतः वहाँ अनौचित्य नहीं है। परन्तु जहाँ इन सामग्री अर्थात् विभावादियों का अभाव हो वहाँ रसाभास एवं भावाभास होता है।

यह अनौचित्य कैसा होता है और कहाँ होना है? यह विस्तारपूर्वक बता रहे हैं –

उपनायकसंस्थायां मुनिगुरुपत्नीगतायां च।

बहुनायकविषयाणां रतौ तथानुभयनिष्ठायाम्।।263।।

प्रतिनायकनिष्ठत्वे तद्वदधमपात्रतिर्यगादिगते।

श्रृंगारेऽनौचित्यं रौद्रे गुर्वादिगतकोपे।।264।।

शान्ते च हीननिष्ठे गुर्वाद्यालम्बने हास्ये।

ब्रह्मवधाद्युत्साहेऽधमपात्रगते तथा वीरे।।265।।

उत्तमपात्रगतत्वे भयानके ज्ञेयमेवमन्यत्र।

1. **श्रृंगार रस में अनौचित्य (श्रृंगाराभास)** – 1. नायक के बजाय उपनायक के रति-भाव का वर्णन करना, 2. मुनि-पत्नी और गुरु-पत्नी की रति का वर्णन करना, 3. बहुत सारे नायकों की रति का वर्णन करना, 4. केवल नायक की रति का तथा केवल नायिका की रति का वर्णन करना, 5. प्रतिनायक के द्वारा की गई नायिका में रति का वर्णन करना (प्रतिनायक और नायिका का रति-भाव), 6 अधम-प्रकृतिविषयक रति-भाव का वर्णन, 7. पशु-पक्षिनिष्ठ रति-भाव का वर्णन।

2. **रौद्र रस में अनौचित्य (रौद्रसाभास)** – 1. गुरु पर क्रोध का वर्णन, 2. पिता पर क्रोध का वर्णन।

3. **शान्त रस में अनौचित्य (शान्तर-साभास)** – किसी नीच (अधम) के शम-भाव का वर्णन।

4. **हास्य रस में अनौचित्य (हास्य-रसभास)** – गुरु आदि के आलम्बन से हास्य–रस का वर्णन।

5. **वीर रस में अनौचित्य (वीर-रसाभास)** – 1. ब्राह्मण इत्यादि के वध से उत्पन्न उत्साह का वर्णन, 2. अधम पात्र के द्वारा उत्साह का वर्णन।

6. **भयानक रस में अनौचित्य (भयानक-रसाभास)** – उत्तम प्रकृति गत नायकादि में भय का वर्णन।

अन्य रसों में भी अनौचित्य इस प्रकार जानना चाहिए।

भावाभास – भावाभासो लज्जादिके तु वेश्यादिविषये स्यात्।।266।।

वैश्यादि नायिकाओं के लज्जा इत्यादि भावों का वर्णन जहाँ हो वहाँ भावाभास होता है।

भावशान्ति, भावोदय, भावसन्धि तथा भावशबलता –

भावस्य शान्तावुदये सन्धिमिश्रितयोः क्रमात्।

भावस्य शान्तिरुदयः सन्धिः शबलता मता।।267।।

किसी भाव की शान्ति, उदय, सन्धि और मिश्रण के वर्णन से क्रमशः भावशान्ति, भावोदय, भावसन्धि और भावशबलता होती है।

8.5 सारांश

प्रस्तुत इकाई में आपने रसोत्पत्ति के विस्तृत स्वरूप के साथ-साथ रस के महत्त्व एवं रस की अलौकिकता के विषय में पढ़ा तथा समझा। इसी क्रम में रस और रस के आस्वादन की प्रक्रिया को, साधारणीकरण, व्यंजनावृत्ति द्वारा रस की व्यंग्य के रूप में स्थापना, करुण इत्यादि रसों में आनन्दरूपता तथा दुःख के कारणों से सुखोत्पत्ति कैसे प्राप्त की जाती है? इस विषय में आपने गम्भीरतापूर्वक अध्ययन किया। आपने यह भी जाना कि रत्यादि वासना की भूमिका के विषय में, काव्य तथा नाट्य के नायक का साधारणीकरण तथा सामाजिक का भी साधारणीकरण कैसे होता है?

विभावादियों की कारणता, रस का अनुकार्य के रूप में खण्डन, रस का अनुकर्ता के रूप में खण्डन, रस का ज्ञाप्य वस्तु, कार्य वस्तु, नित्य पदार्थ के रूप में खण्डन कर रस को अनिर्वचनीय रूप में प्रतिष्ठापित करने की प्रक्रिया को आपने विस्तारपूर्वक एवं गम्भीरता से जाना। रस के अनिर्वचनीय स्वरूप में चर्वणा को प्रमाण मानते हुए, रसनिष्पत्ति के रहस्य को समझते हुए, रस की व्यंग्य के रूप में स्थापना को आपने विस्तार से जाना। अध्ययन के इस कंम में आपने श्रृंगार आदि नौ रसों को सोदाहरण, सभेद सविमर्श जाना। रसाभास, भावाभास, भावशान्ति, भावोदय, भावसन्धि, भाव-शबलता इत्यादि को भी आपने समझा।

8.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. साहित्यदर्पण – व्याख्याकार – डॉ. सत्यव्रत सिंह, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, दशम संस्करण – 1997।

2. साहित्यदर्पण – लक्ष्मी टीका से युक्त, आचार्य कृष्णमोहन शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, चतुर्थ संस्करण, 1985।

3. काव्यप्रकाश – आचार्य विश्वेश्वर, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, संशोधित संस्करण, 2005।

4. हिन्दी नाट्य शास्त्र – बाबूलाल शुक्ल शास्त्री, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 1983।

8.7 अभ्यास–प्रश्न

1 रस के स्वरूप को विस्तार से प्रतिपादित कीजिए?

2 श्रृंगार रस सोदाहरण को परिभाषित कीजिए?

3 रस अनिर्वचनीय है, इस कथन को सिद्ध कीजिए?

4 साधारणीकरण की प्रक्रिया को विस्तार से लिखिए?

इकाई–9 नायक एवं नायिका भेद

9.0 उद्देश्य

9.1 प्रस्तावना

9.2 नायक एवं नायक भेद

9.2.1 धीरोदात्त

9.2.2 धीरोद्धत

9.2.3 धीरललित

9.2.4 धीरप्रशान्त

9.2.5 श्रृंगार-प्रबन्ध के नायक-प्रकार

9.2.6 नायक के सहायक

9.2.7 नायक के सात्त्विक गुण

9.2.8 प्रतिनायक

9.3 नायिका एवं नायिका भेद

9.3.1 स्वीया नायिका एवं उसके भेद

9.3.2 परकीया नायिका एवं उसके भेद

9.3.3 सामान्या नायिका अथवा साधारण स्त्री

9.3.4 अवस्था भेद से नायिका भेद

9.4 नायिकायों के यौवनालंकार

9.5 सारांश

9.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

9.7 अभ्यास प्रश्न

9.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप–

- नायक के भेद एवं स्वरूप के माध्यम से नाटकीय संरचना का विस्तृत रूप से ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।
- नायक के सहायक, विदूषक इत्यादि की महत्ता को स्पष्ट रूप से समझ सकेंगे।
- प्रतिनायक के वर्णन के द्वारा इसके स्वरूप एवं नाटक में इसके प्रयोजन की रूपरेखा को समझ सकेंगे।
- नायिका–निरुपण के माध्यम से भेदोपभेद सहित, नाटक में इनके वैशिष्ट्य के विषय में ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।

9.1 प्रस्तावना

पिछली इकाई में आपने रसोत्पत्ति की प्रक्रिया के विषय में विस्तृत रूप से पढ़ा। इसी क्रम में विभाव, अनुभाव तथा सञ्चारी भाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। लोक में जो कारण, कार्य तथा सहकारी कारण होते हैं वही काव्य अथवा नाट्य में विभाव, अनुभाव तथा सञ्चारी भाव होते हैं। प्रमाता अर्थात् सहृदय-सामाजिक साधारणीकरण के द्वारा उत्साहादि गुणों से युक्त होकर रस का आस्वादन करते हैं। यह रस अनुकार्य, अनुकर्तृगत, ज्ञाप्य, कार्य, नित्य, परोक्ष तथा प्रत्यक्ष नहीं है। यह तो अनिर्वचनीय, अखण्ड तथा स्वप्रकाश है। यह सब आपने विस्तृत रूप से पढ़ा।

तदनु श्रृंगारादि नौ रसों के लक्षण, उदाहरण तथा भेदों को सविमर्श आपने जाना। रसाभास एवं भावाभास के स्वरूप तथा अनौचित्य के विविध नियमों अथवा प्रकारों को भी आपने सविमर्श, सोदाहरण तथा सरल रीति से समझा। प्रस्तुत इकाई के माध्यम से आप विभाव के आलम्बन विभाव रूपी भेद के अन्तर्गत आने वाले नायक तथा नायिका के स्वरूप एवं इनके उदाहरणों को गम्भीरता पूर्वक पढ़ेंगे। इसी के तहत नायक के भेद, नायक के सहायक, नायक के अर्थ सहायक, नायक के अन्तःपुर के सहायक, नायक के दण्ड सहायक, नायक के धर्म सहायक, नायक के दूत, नायक के सात्त्विक गुण, नायिका का स्वरूप, नायिका के भेद, नायिकाओं के यौवनालंकार, इत्यादि विषयों का अध्ययन आप करेंगे।

वस्तुतः नायक एवं नायिकाओं के इतने भेदों की चर्चा प्रायः किसी अन्य भाषा के साहित्य में नहीं है। आचार्य भरतमुनि की यह साकार संकल्पना कविराज विश्वनाथ ने सादर अंगीकार की है।

9.2 नायक एवं नायक-भेद

आलम्बन-विभाव के अन्तर्गत नायक की चर्चा हुई है, इसी सन्दर्भ में नायक का लक्षण करते हैं–

तत्र नायकः –

त्यागी कृती कुलीनः सुश्रीको रूपयौवनोत्साही।

दक्षोऽनुरक्तलोकस्तेजोवैदग्ध्यशीलवान्नेता।।30।।

दक्षः क्षिप्रकारी। शीलं सद्वृत्तम्। एवमादिगुणसम्पन्नो नेता नायको भवति।

नायक वह है जो त्यागी (त्याग करने वाला) हो, कृती अर्थात् महान् कार्यों का कर्त्ता हो, कुलीन (अच्छे वंश में उत्पन्न हो, बुद्धि तथा विवेक से युक्त हो, रूपयौवनोत्साही अर्थात्

सुन्दरता एवं यौवन से परिपूर्ण हो, दक्ष अर्थात् कुशल हो, अनुरक्तलोक अर्थात् जनता का स्नेहभाजन हो (जनता उससे प्रेम करे, जनता उसे बहुत पसन्द करे) तेज अर्थात् तेजस्वी हो, वैदग्ध्य अर्थात् विद्वान् अथवा चतुर हो, अच्छे चरित्र से युक्त हो।

इस प्रकार के गुणों से युक्त व्यक्ति नायक अथवा नेता कहलाता है।

यहाँ कारिका में दक्ष पद का प्रयोग क्षिप्रकारी (जल्दी कार्य करने वाला, सोच-समझकर कार्य करने वाला अर्थात् कार्य-सम्पादन में सतत जागरूक है। शीलं शब्द का अर्थ सद्वृत्त अर्थात् सदाचार से है। इस प्रकार के गुणों से सम्पन्न व्यक्ति नेता अथवा नायक होता है।

नायक के भेद –

तद्भेदानाह–

धीरोदात्तो धीरोद्धतस्तथा धीरललितश्च।

धीरप्रशान्त इत्ययमुक्तः प्रथमश्चतुर्भेदः।।31।।

नायक धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित, धीरप्रशान्त के भेद से चार प्रकार होते हैं।

9.2.1 धीरोदात्त

तत्र धीरोदात्तः

अविकत्थनः क्षमावानतिगम्भीरो महासत्त्वः।

स्थेयान्निगूढमानो धीरोदात्तो द्रढव्रतः कथितः।।32।।

अविकत्थनोऽनात्मश्लाघाकरः। महासत्त्वो हर्षशोकाद्यनभिभूतस्वभावः। निगूढमानो विनयच्छन्नगर्वः। दृढव्रतोऽङ्गीकृतनिर्वाहकः। यथा–रामयुधिष्ठिरादिः।

अविकत्थन अर्थात् आत्मप्रशंसा से रहित, क्षमावान् अर्थात् क्षमा करने वाला, अतिगम्भीर, महासत्त्व अर्थात् सुख तथा दुःख में समान रहने वाला स्थेयान् अर्थात् स्थिर प्रकृति वाला, निगूढमान अर्थात् स्वाभिमानी, दृढव्रत अर्थात् सत्यप्रतिज्ञ नायक धीरोदात्त कहलाता है।

अविकत्थन का तात्पर्य आत्मलाघा अर्थात् आत्मप्रशंसा से रहित है। महासत्त्व का अर्थ है–हर्ष तथा दुःख से परेशान नहीं होने वाला (दोनों परिस्थितियों में एक जैसा रहने वाला) निगूढमान का अभिप्राय विनम्रता से अहंकार को जीतने वाला, दृढव्रत का आशय है– सभी कार्यों को श्रद्धा से करने वाला। उदाहरण जैसे – राम तथा युधिष्ठिर आदि।

9.2.2 धीरोद्धत

अथ धीरोद्धतः –

मायापरः प्रचण्डश्चपलोऽहङ्कारदर्पभूयिष्ठः।

आत्मश्लाघानिरतो धीरैर्धीरोद्धतः कथितः।।33।।

यथा – भीमसेनादिः।

मायापर अर्थात् माया में पटु (अर्थात् दूसरों को ठगने में कुशल, प्रचण्ड अर्थात् उग्र-स्वभाव से युक्त, चपल अर्थात् चञ्चल स्वभाव वाला, अहंकारदर्पभूयिष्ठ अर्थात् अहंकार और अत्यधिक दर्प से युक्त (मैं सबसे महान् हूँ, इस भाव से तथा शूरता एवं वीरता आदि का अभिमान दर्प) आत्मश्लाघा निरत अर्थात् अपनी प्रशंसा करने वाला नामक विद्वानों के द्वारा धीरोद्धत कहा गया है। उदाहरण जैसे – भीमसेन इत्यादि।

9.2.3 धीरललित

अथ धीरललितः –

निश्चिन्तो मृदुरनिशं कलापरो धीरललितः स्यात्।

कला नृत्यादिका। यथा—रत्नावल्यादौ वत्सराजादिः।

निश्चिन्त अर्थात् सर्वदा चिन्ता-मुक्त रहने वाला, मृदु अर्थात् कोमल-स्वभाव वाला तथा अनिशं कलापरः अर्थात् दिन-रात नृत्य एवं गीत आदि में तत्पर रहने वाला (कलाव्यसनी) नायक धीरललित होता है।

कला का अर्थ है—नृत्य इत्यादि। उदाहरण जैसे—रत्नावली नाटिका में वत्सराज उदयन।

9.2.4 धीरप्रशान्त

अथ धीरप्रशान्तः –

सामान्यगुणैर्भूयान् द्विजादिको धीरप्रशान्तः स्यात्।।34।।

यथा— मालतीमाधवादौ माधवादिः।

जिसमें नायक के त्याग आदि सामान्य गुण अत्यधिक मात्रा में हो तथा जो ब्राह्मण आदि वर्ग का हो, वह धीरप्रशान्त नायक कहलाता है। उदाहरण जैसे— मालती—माधव में माधव आदि।

श्रृंगार रस में उक्त चतुर्विध नायकों के अन्य प्रकार –

एषां च श्रृङ्गारादिरूपत्वे भेदानाह –

एभिर्दक्षिण धृष्टानुकूलशठरूपिभिस्तु षोडशधा।

तत्र तेषां धीरोदात्तादीनां प्रत्येकं दक्षिणधृष्टानुकूलशठत्वेन षोऽशप्रकारो नायकः।

चार प्रकार के नायकों को भेदों को श्रृंगार रस इत्यादि के प्रसंग के अनुकूल कहते हैं— ये चारों प्रकार दक्षिण, धृष्ट, अनुकूल तथा शठ इन चार रूपों में विभाजित होकर 16 भेदों में दिखाई देते हैं अर्थात् प्रत्येक के चार-चार भेद मिलकर कुल सोलह भेद हो जाते हैं।

धीरोदात्त इत्यादि नायकों में प्रत्येक के चार-चार भेद होकर नायक सोलह प्रकार के हो जाते हैं।

1. दक्षिण, 2. धृष्ट, 3. अनुकूल, 4. शठ नायक के सोलह भेद।

धीरोदात्त – 1. धीरोदात्त दक्षिण नायक, 2. धीरोदात्त धृष्ट नायक, 3. धीरोदात्त अनुकूल नायक, 4. धीरोदात्त शठ नायक।

धीरोद्धत – 1. धीरोद्धत दक्षिण नायक, 2. धीरोद्धत धृष्ट नायक, 3. धीरोद्धत अनुकूल नायक, 4. धीरोद्धत शठ नायक।

धीरललित – 1. धीरललित दक्षिण नायक, 2. धीरललित धृष्ट नायक, 3. धीरललित अनुकूल नायक, 4. धीरललित शठ नायक।

धीरप्रशान्त – 1. धीरप्रशान्त दक्षिण नायक, 2. धीरप्रशान्त धृष्ट नायक, 3. धीरप्रशान्त अनुकूल नायक, 4. धीरप्रशान्त शठ नायक।

9.2.5 श्रृंगार-प्रबन्ध के नायक-प्रकार

1 दक्षिण नायक –

एषु त्वनेकमहिलासु समरागो दक्षिणः कथितः।।35।।

द्वयोस्त्रिचतुःप्रभृतिषु नायिकासु तुल्यानुरागो दक्षिणनायकः।

यथा – स्नाता तिष्ठति कुन्तलेश्वरसुता, वारोऽङ्गराजस्वसु,

द्यूतै रात्रिरियं जिता कमलया, देवी प्रसाद्याद्य च।

इत्यन्तःपुरसुन्दरीः प्रति मया विज्ञाय विज्ञापिते

देवेनाप्रतिपत्तिमूढमनसा द्वित्राः स्थितं नाडिकाः।।

एक से अधिक अर्थात् दो या तीन या चार अथवा इससे भी अधिक नायिकाओं के साथ समान राग अर्थात् समान प्रेम करने वाले को दक्षिण नायक कहते हैं अर्थात् दो, तीन अथवा चार अथवा इससे अधिक नायिकाओं में तुल्य प्रेम करने वाले को दक्षिण नायक कहते हैं।

प्रतीहारी किसी राजा के बारे में किसी से कह रही है– मैंने अन्तःपुर की सुन्दरियों (रानियों) का समाचार पाकर राजा से निवेदन किया–राजन्! कुन्तल देश की राजकुमारी तो स्नान से निवृत्त होकर आपकी प्रतीक्षा कर रही है, आज का दिन आपने अंगराज की बहिन से मिलने का भी रखा है, कमला से आप द्यूत-क्रीड़ा में आज की रात हार चुके हैं अर्थात् आज रात में वह आपके साथ होगी, देवी (महारानी) को भी आज आपको मनाना है, तो महाराज निश्चय न कर सके कि क्या करें? इस प्रकार वह दो-तीन घड़ी चुपचाप खड़े रहे।

प्रस्तुत श्लोक में चारों नायिकाओं से समान प्रेम करने वाले किंकर्तव्यविमूढ़ राजा का वर्णन है। इससे राजा दक्षिण नायक है।

2. धृष्ट नायक

कृतागा अपि निःशंकस्तर्जितोऽपि न लज्जितः।

दृष्टदोषोऽपि मिथ्यावाक्कथितो धृष्टनायकः।।36।।

यथा मम–

शोणं वीक्ष्य मुखं विचुम्बितुमहं यातः समीपं ततः

पादेन प्रहृतं तया, सपदि तं धृत्वा सहासे मयि।

किञ्चित्तत्र विधातुमक्षमतया बाष्पं सृजन्त्याः सखे!

ध्यातश्चेतसि कौतुकं वितनुते कोपोऽपि वामभ्रुवः।।

प्रेम में अपराधी होने पर भी, बेहिचक प्रेमिका के डाँटने पर भी जिसे लाज-शर्म नहीं आती, अपने दोषों के प्रकट हो जाने पर भी जो उनको छिपाने का प्रयास झूठ बोलकर करता है, वह धृष्ट नायक कहलाता है। उदाहरण जैसे मेरा ही–

कोई प्रेमी अपनी प्रेमिका से लज्जित एवं तर्जित होने की बात अपने प्रिय मित्र से कह रहा है– मित्र! मैं जब उस सुन्दरी का क्रोध से मुँह जिसका लाल हो रहा था, उसे चुम्बन करने, उसके पास गया तो उसने मुझे लात मार दी। जैसे ही उसने लात मारी, मैंने उसकी लात पकड़ ली और मैं हँस गया। जब वह इसका कोई बदला न ले सकी तब वह रोने लगी। उस सुन्दरी के उस गुस्से की स्मृति मेरे मन में एक विशेष आश्चर्य पैदा करती है।

यहाँ प्रेमी को धृष्ट नायक के रूप में चित्रित किया गया है।

3. अनुकूल नायक –

अनुकूल एकनिरतः–

एकस्यामेव नायिकायामासक्तोऽनुकूलनायकः।

यथा –

अस्माकं सखि! वाससी न रुचिरे, ग्रैवेयकं नोज्ज्वलं

नो वक्रा गतिरुद्धतं न हसितं, नैवास्ति कश्चिन्मदः।

किन्त्वन्येऽपि जना वदन्ति सुभगोऽप्यस्याः प्रियो नान्यतो

दृष्टिं निक्षिपतीति विश्वमियता मन्यामहे दुःस्थितम्।।

किसी एक नायिका में ही प्रेम रखने वाले को अनुकूल नायक कहते हैं। एक प्रेमिका में ही आसक्ति रखने वाले को अनुकूल नायक कहते हैं।

उदाहरण जैसे– अरी सखी! मेरे कपड़े भी सुन्दर नहीं हैं, गले का हार भी चमकदार नहीं है, चाल भी अच्छी नहीं है, हँसी भी विचित्र नहीं है, कोई मद भी नहीं है, किन्तु जब लोग यह कहते हैं कि सुन्दर मेरा प्रेमी मुझको छोड़कर अन्य किसी पर आँख नहीं डालता अर्थात् देखता तक नहीं, तब तो मुझे ऐसा लगता है कि मुझे छोड़ सारा संसार ही दुःख में डूबा हुआ है।

इस उदाहरण में नायक एक ही नायिका में अनुरक्त है।

4. शठ नायक –

–शठोऽयमेकत्र बद्धभावो यः।

दर्शितबहिरनुरागो विप्रियमन्यत्र गूढ़माचरति।।37।।

यः पुनरेकस्यामेव नायिकायां बद्धभावो द्वयोरपि नायिकयोर्बहिर्दशितानुरागोऽन्यस्यां नायिकायां गूढं विप्रियमाचरति स शठः।

शठान्यस्याः काञ्चीमणिरणितमाकर्ण्य सहसा

यदाश्लिष्यन्नेव प्रशिथिलभुजग्रन्थिरभवः।

तदेतत्क्वाचक्षे घृतमधुमयत्वद्बहुवचो

विपेगाघूर्णन्ती किमपि न सखी मे गणयति।।

जो किसी अन्य नायिका से प्रेम करे और अपनी पहली प्रेमिका से बाहरी प्रेम जताकर, छिपे-छिपे उसका अनिष्ट करे, वह शठ नायक होता है। जो किसी एक नायिका में असली प्रेम सम्बन्ध को तथा किसी दूसरी नायिका में बाहरी प्रेम प्रदर्शित करता है तथा उसका गुपचुप अनिष्ट करता रहता है, वह शठ नायक कहलाता है।

उदाहरण जैसे– नायिका की सहेली नायक हो कह रही है– अरे शठ! तेरी क्या बात करना, तुम तो मेरी सखी का आलिंगन करते हुए भी, अपनी प्रेमिका की करधनी की झंकार सुनते ही, अचानक अपने हाथों को ढीला कर लेते हो और मेरी सखी इतनी भोली है कि तुम्हारी चिकनी चुपड़ी (घृतमधुमय) बातों में किन्तु अन्दर से विष भरी, बातों में आकर प्रसन्नता से नाचती हुई उन्हें कुछ समझती ही नहीं।

इस उदाहरण में शठ नायक के स्वरूप को भलीभाँति चित्रित किया गया है।

एषां च त्रैविध्यादुत्तममध्यमाधमत्वेन।

उक्ता नायकभेदाश्चत्वारिंशत्तथाऽष्टौ च।।38।।

इन नायकों के उत्तम, मध्यम और अधम रूप होने से सब मिलाकर 48 भेद हो जाते हैं। सोलह प्रकार के नायकों में प्रत्येक के उत्तम, मध्यम तथा अधम ये तीन भेद मिलकर कुल 48 भेद हो जाते हैं। (16×3=48) इस प्रकार नायक के 48 भेद हो जाते हैं।

9.2.6 नायक के सहायक

नायक के विभिन्न प्रकार के सहायक होते हैं जो नायक की प्रत्येक परिस्थिति में सहायता करते हैं। संस्कृत-नाटकों की यह अपनी विशेषता है कि नायक के साथ-साथ इसके सहायकों की भी यहाँ गणना होती है।

अथ प्रसङ्गदेतेषां सहायानाह–

दूरानुवर्तिनि स्यात्तस्य प्रासङ्गिकेतिवृत्ते तु।

किञ्चित्तद्गुणहीनः सहाय एवास्य पीठमर्दाख्यः।।39।।

तस्य नायकस्य बहुव्यापिनि प्रसङ्गसङ्गते इतिवृत्तेऽनन्तरोक्तैर्नायकसामान्यगुणैः किञ्चिदूनः पीठमर्दनामा सहायो भवति। यथा– रामचन्द्रादीनां सुग्रीवादयः।

नायक का इतिहास जहाँ दूर तक चला जाता है, वहाँ उसका एक सहायक भी चित्रित किया जाता है, यह सहायक नायक की अपेक्षा कम गुण वाला होता है, इसे पीठमर्द कहा जाता है। कार्य-विशेष की अधिकता के कारण जो सम्पूर्ण कार्यों को अपनी पीठ पर ले लेता है अर्थात् उन-उन कार्यों को जो सम्पूर्ण रूप से भलीभाँति कर लेता है, उसे पीठमर्द कहते हैं। प्रासंगिक इतिवृत्त के बड़ा होने पर नायक के साथ एक सहायक भी हुआ करता है जो नायक से कम गुणों वाला होता है अर्थात् हर परिस्थिति में वह नायक की सहायता करता है अतः उसे पीठमर्द (Comrade) नामक सहायक कहते हैं। उदाहरण जैसे–रामचन्द्र जी के सुग्रीव इत्यादि।

श्रृंगारी नायक के सहायक –

अथ शृङ्गारसहायाः

शृङ्गारेऽस्य सहाया विटचेटविदूषकाद्याः स्युः।

भक्ता नर्मसु निपुणाः कुपितवधूमानभञ्जनाः शुद्धाः।।40।।

आदिशब्दान्मालाकाररजकताम्बूलिकगान्धिकादयः।

श्रृंगारी नायक के सहायक है, विट, चेट तथा विदूषक आदि। ये सहायक भक्त अर्थात् स्वाभिमान हुआ करते हैं, ये नर्म निपुण होते हैं, ये मानिनी नायिका को मनाने में बहुत चतुर होते हैं, ये सच्चरित्र भी हुआ करते हैं।

आदि शब्द से माली, धोबी, तमोली, (पान बनाने वाला) तथा गन्धी को भी सहायक के रूप में जाना जाता है।

1. विट

तत्र विटः –

संभोगहीनसंपद्विटस्तु धूर्तः कलैकदेशज्ञः।

वेशोपचारकुशलो वाग्मी मधुरोऽथ बहुमतो गोष्ठ्याम्।।41।।

संभोगहीन अर्थात् जो सुख एवं भोग में अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति लुटा चुका हो, धूर्त हो, जो किसी कला में निपुण हो, वेशोपचारकुशल अर्थात् वेश और उपचार में कुशल हो (अर्थात् वेश्याओं के व्यवहार को जानने वाला हो), वाग्मी अर्थात् बातचीत में कुशल हो, मधुर हो, समाज में जिसका बहुत मान-सम्मान हो, गोष्ठ में जिसका सम्मान हो, ऐसा सहायक विट कहलाता है।

2. चेट – ''चेटः प्रसिद्ध एव'' अर्थात् चेट तो प्रसिद्ध है, प्रायः सभी इसे जानते हैं।

3. विदूषक –

कुसुमवसन्ताद्यभिधः कर्मवपुर्वेषभाषाद्यैः।

हास्यकरः कलहरतिर्विदूषकः स्यात् स्वकर्मज्ञः।।42।।

स्वकर्म हास्यादि।

विदूषक वह होता है जिसका नाम फूल अथवा वसन्त आदि ऋतुओं के नाम पर रखा जाता है। जिसमें अपने कार्य, शरीर, वेशभूषा तथा भाषा से दूसरों को हँसाने की क्षमता रहती है, जिसे दूसरों से झगड़ा करने में आनन्द आता है, जो अपने कार्य में कुशल होता है अर्थात् स्वकर्म का अर्थ हास्य इत्यादि कार्य।

नायक के अर्थ-सहायक –

अर्थचिन्तने सहायमाह–

मन्त्री स्यादर्थानां चिन्तायां–

अर्थास्तन्त्रावापादयः।

नायक के अर्थचिन्तन में सहायकों को कहते हैं–

मन्त्री-नायक के अर्थ-चिन्तन (दूसरे राष्ट्र के प्रति कर्त्तव्य) में सहायता करने वाले को मन्त्री कहते हैं, अर्थात् दूसरे राष्ट्र के लिए कब क्या करना चाहिए? इसमें राजा की सहायता करने वालों में मन्त्री का स्थान अग्रगण्य है।

अर्थास्तन्त्रावापादयः अर्थात् तन्त्र और आवाप इत्यादि अर्थ कहलाते हैं। यहाँ तन्त्र का अर्थ है–स्वराष्ट्रसम्बन्धी क्रिया-कलाप और आवाप का अर्थ है– परराष्ट्र सम्बन्धी व्यवहार।

''दशरूपककार आचार्य धनञ्जय के मत की आलोचना''

यत्त्वत्र सहायकथनप्रस्तावे–''मन्त्री स्वं चोभयं वापि सखा तस्यार्थचिन्तने'' इति केनचिल्लक्षणं कृतम्, तदपि राज्ञोऽर्थचिन्तनोपायलक्षणप्रकरणे लक्षयितव्यम्, न तु सहायकथनप्रकरणे।

''नायकस्यार्थचिन्तने मन्त्री सहाय'' इत्युक्तेऽपि नायकस्यार्थत एव सिद्धत्वात्।

नायक के अर्थ-सहायक के प्रसंग में दशरूपककार धनंजय ने जो यह कहा है कि नायक के अर्थचिन्तन में स्वयं राजा अथवा केवल मन्त्री अथवा राजा और मन्त्री दोनों सहायक हुआ करते हैं, यह बात राजा के अर्थ-चिन्तन के उपाय के प्रसंग में कहनी चाहिए थी, नायक के सहायक के प्रकरण में इस बात की कोई आवश्यकता नहीं थी।

वस्तुतः राजा अपनी प्रजा अथवा राजा अपने आप में कैसे सहायक बन सकता है क्योंकि कोई भी अपना स्वयं का सहायक कैसे हो सकता है?

''नायक के अर्थ-चिन्तन में मन्त्री सहायक होता है'' यह कहने पर भी ''तस्य'' पद जो पहले कहा गया था, वह निरर्थक हो जाता है। पहले ही जब राजा (स्व) शब्द का निर्देश हो चुका है तब तस्य पद की आवश्यकता नहीं थी।

वस्तुतः नायक के सहायक-लक्षण में या तो ''स्वम्'' पद अनुपयुक्त है अथवा नायक के अर्थ-चिन्तन के ''सखा'' (सहायक) इस पद का अर्थ नायक के अर्थ-चिन्तन के सखा (उपाय) है। यहाँ सखा शब्द का अर्थ उपाय भी हो सकता है। इस प्रकार का चिन्तन कविराज विश्वनाथ का है।

यदप्युक्तम्– ''मन्त्रिणां ललितः शेषा मन्त्रिष्वायत्तसिद्धयः'' इति, तदपि स्वलक्षणकथनेनैव लक्षितस्य धीरललितस्य मन्त्रिमात्रायत्तार्थचिन्तनोपपत्तेर्गतार्थम्। न चार्थचिन्तने तस्य मन्त्री सहायः, किं तु स्वयमेव सम्पादकः; तस्यार्थचिन्तनाद्यभावात्।

दशरूपकार आचार्य धनंजय ने जो कहा है कि धीरललित नायक तो मन्त्रायत्तसिद्धि हुआ करता है और अन्य नायक उभयायत्तसिद्धि हुआ करते हैं। यह बात भी निरर्थक ही है क्योंकि धीरललित नायक का लक्षण ही यह है कि वह निश्चिन्त हुआ करता है तब फिर धीरललित नायक को मन्त्राययतसिद्धि कहना अर्थात् सचिवायत्तसिद्धि कहना तथा उसके सहायक के रूप में मन्त्री इत्यादि का वर्णन करना नितान्त असंगत है।

धीरललित नायक तो हमेशा अर्थ-चिन्तन से संयुत रहता है, उसके लिए मन्त्री को अर्थ-चिन्तन का एकमात्र सम्पादक कहा जा सकता है न कि सहायक। अतः दशरूपकार का कहना सर्वथा अप्रामाणिक है।

नायक के अन्तःपुर के सहायक –

नायक के अन्तःपुर के सहायक नायक की सहायता करते हैं, विशेष रूप से काम से सम्बन्धित सन्दर्भ में।

अथान्तःपुरसहायाः–

–तद्वदवरोधे।

वामनषण्ढकिरातम्लेच्छाभीराः शकारकुब्जाद्याः।।43।।

मदमूर्खताभिमानी दुष्कुलतैश्वर्यसंयुक्तः।

सोऽयमनूढाभ्राता राज्ञः श्यालः शकार इत्युक्तः।।44।।

आद्यशब्दान्मूकादयः।

वामन अर्थात् बौने, षण्ढ (नपुंसक), किरात (नीच जाति के) म्लेच्छ अर्थात् जंगली, आभीर अर्थात् अहीर, शकार (राजा का साला) (Left hand brother's in-law) कुब्ज आदि अर्थात् कुबड़े आदि नायक के अन्तःपुर के सहायक होते हैं।

शकार (राजा का साला) – जो शराबी, मूर्ख एवं अहंकारी हो, नीच कुल का हो, ऐश्वर्यसंयुक्त अर्थात् धन से सम्पन्न हो, राजा की अविवाहिता प्रेमिका का भाई हो जिसे सभी लोग श्याल (साला) कहते हो, वह शकार कहलाता है।

यहाँ आदि शब्द से मूक अर्थात् गूंगों का भी ग्रहण किया जाता है अर्थात् गूंगे भी नायक के अन्तःपुर के सहायक होते हैं।

तत्र षण्ढवामनकिरातकुब्जादयो यथा रत्नावल्याम्–

नष्टं वर्षवरैर्मनुष्यगणनाभावादपास्यत्रपा–

मन्तःकञ्चुकिकञ्चुकस्य विशति त्रासादयं वामनः।

पर्यन्ताश्रयिभिर्निजस्य सदृशं नाम्नः किरातैः कृतं

कुब्जा नीचतयैव यान्ति शनकैरात्मेक्षणाशङ्किनः।।

नपुंसक, बौने तथा किरात एवं कुब्जादियों का वर्णन रत्नावली नाटिका में इस प्रकार किया गया है, जैसे–

ये रहे नपुंसक, जो मनुष्यों में न गिने जाने से निर्लज्ज होकर भाग गये, ये बौने डर के मारे कञ्चुकियों के कञ्चुक (लहंगा इत्यादि) में घुस गये, ये किरात, जो इधर-उधर कोनों में घुस गये, जो अपने नाम को भी इससे सार्थक कर रहे हैं। ये कुबड़े! ये तो लोगों की आँख से बचने के लिए चुपके से दुबकते हुए कहीं और निकल पड़े।

''शकार'' इत्यादि का वर्णन मृच्छकटिक आदि में प्रसिद्ध है। इस प्रकार के अन्य उदाहरण स्वयं जान लेने चाहिए।

नायक के दण्ड-सहायक –

अथ दण्डसहायाः–

दण्डे सुहृत्कुमाराटविकाः सामन्तसैनिकाद्याश्च।

दुष्टनिग्रहो दण्डः। स्पष्टम्।

नायक के दण्ड सहायक कहते हैं जो नायक अथवा राजा की सहायता दण्ड-विधान में करते हैं। मित्र, राजकुमार, आटविक अर्थात् वनचर (वन में घूमने वाले, सामन्त तथा सैनिक आदि राजा के दण्ड-सहायक हैं।

दुष्ट का निग्रह अर्थात् दुष्टों का दमन करना ही दण्ड कहलाता है। मित्र, राजकुमार आदि तो स्पष्ट ही है।

नायक के धर्म-सहायक –

ऋत्विक्पुरोधसः स्युर्ब्रह्मविदस्तापसास्तथा धर्मे।।45।।

ब्रह्मविदो वेदविदः, आत्मविदो वा।

ऋत्विक् अर्थात् याज्ञिक, पुरोहित, वेद को जानने वाले तथा तपस्वीगण नायक के धर्म-सहायक होते हैं।

यहाँ ब्रह्मविद् का तात्पर्य वेद के जानने वालों तथा आत्मतत्त्व के जानने वालों से है।

उपर्युक्त सहायकों में उत्तम-मध्यम-अधम-व्यवस्था –

उत्तमाः पीठमर्दाद्याः मध्यौ विटविदूषकौ।

तथा शकारचेष्टाद्या अधमा परिकीर्तिताः।।46।।

आद्यशब्दान्मन्त्रिपुरोहितादयः। आद्यशब्दात्ताम्बूलिकगान्धिकादयः।

पीठमर्द आदि सहायक उत्तम है, विट तथा विदूषक मध्यम है, शकार तथा चेट आदि अधम सहायक कहे गये हैं।

''पीठमर्दाद्याः'' यहाँ जो आदि शब्द है, उससे मन्त्री तथा पुरोहित आदि का ग्रहण किया जाता है। ''शकारचेष्टाद्या'' यहाँ जो आदि शब्द है, उससे ताम्बूलिक अर्थात् पान देने वाले और गान्धिक (इत्र देने वाले) का ग्रहण किया जाता है।

नायक के दूत –

अथ प्रसङ्गाद्दूतानां विभागगर्भलक्षणमाह–

निसृष्टार्थो मितार्थश्च तथा संदेशहारकः।

कार्यप्रेष्यस्त्रिधा दूतो दूत्यश्चापि तथाविधाः।।47।।

तत्र कार्यप्रेष्यो दूत इति लक्षणम्।

नायक के सहायक-निरूपण के प्रसंग में दूत के विभाग तथा दूत का लक्षण करते हैं– कार्यप्रेष्य अर्थात् किसी कार्य से जिसको कहीं भेजा जाता है उसे दूत कहते हैं। यह तीन

प्रकार का होता है– 1. निसृष्टार्थ 2. मितार्थ 3. सन्देशहारक। दूतियाँ भी दूतों की तरह ही होती है। किसी भी कार्य से जिस व्यक्ति को कहीं प्रेषित अथवा भेजा जाता है उसे दूत कहते हैं।

1. निसृष्टार्थ–

उभयोर्भावमुन्नीय स्वयं वदति चोत्तरम्।

सुश्लिष्टं कुरुते कार्यं निसृष्टार्थस्तु स स्मृतः।।48।।

उभयोरिति येन प्रेषितो यदन्तिके प्रेषितश्च।

दोनों के मन की बात जानकर जो स्वयं अपनी प्रतिभा से समाधान करता है और प्रत्येक कार्य को जो समीचीन तरह से सम्पादित करता है, वह निसृष्टार्थ दूत कहलाता है।

निसृष्टार्थ दूत के लक्षण में आये हुए ''उभयो'' पद का अर्थ ''जिसके द्वारा भेजा गया तथा जिसके पास भेजा गया'', यह है।

2. मितार्थ दूत– मितार्थभाषी कार्यस्य सिद्धकारा मितार्थकः।

जो बहुत ही कम बोले लेकिन कार्य को सिद्ध कर दे वह मितार्थक दूत कहलाता है।

3. सन्देशहारक दूत– यावद्भाषितसंदेशहारः सन्देशहारकः।।49।।

जो उतनी ही बात करे जितनी उसे कही गई हो, वह सन्देशहारक दूत कहलाता है।

9.2.7 नायक के सात्त्विक-गुण

प्रस्तुत इकाई के इस भाग में नायक के दूत-निरूपण के बाद अब नायक के सात्त्विक-गुणों को बताया जा रहा है।

अथ सात्त्विकनायकगुणाः–

शोभा विलासो माधुर्यं गाम्भीर्यं धैर्यतेजसी।

ललितौदार्यमित्यष्टौ सत्त्वजाः पौरुषा गुणाः।।50।।

नायक के आठ प्रकार के पौरुष गुण हैं जिन्हें सात्त्विक गुण कहते हैं– 1. शोभा, 2. विलास, 3. माधुर्य, 4. गाम्भीर्य, 5. धैर्य, 6. तेज, 7. ललित, 8. औदार्य।

1. **शोभा** – शोभा नामक गुण का स्वरूप इस प्रकार है–

शूरता दक्षता सत्यं महोत्साहोऽनुरागिता।

नीचे घृणाधिके स्पर्धा यतः शोभेति तां विदुः।।51।।

तत्रानुरागिता यथा–

अहमेव मतो महीपतेरिति सर्वः प्रकृतिष्वचिन्तयत्।

उदधेरिव निम्नगाशतेष्वभवन्नास्य विमानना क्वचित्।।

एवमन्यदपि।

शूरता अर्थात् वीरता, दक्षता अर्थात् सभी कार्यों में कुशलता, सत्य, महान् उत्साह, अनुरागिता अर्थात् सभी लोगों से प्रेम करना, छोटों पर दया और बड़ों के साथ स्पर्धा अर्थात् प्रतिस्पर्द्धा करना ही शोभा नामक गुण है। अनुरागिता (सभी लोगों से प्रेम करना) का उदाहरण जैसे–

रघुवंश-महाकाव्य में राजा अज का वर्णन है– मैं ही राजा अज का सबसे बड़ा स्नेहभाजन हूँ, मुझे वे सबसे अधिक चाहते हैं, अर्थात् सभी में मैं ही उनका अत्यन्त प्रिय हूँ लेकिन यह बात तो उनकी अवमानना अर्थात् अवज्ञा है, उनका तो किसी के भी प्रति ऐसा भाव नहीं है जैसे समुद्र का अनुराग छोटी-बड़ी सभी नदियों के साथ होता है वैसे ही उनका भी सबसे प्रेम है।

2. विलास–

धीरा दृष्टिर्गतिनिश्चत्ता विलासे सस्मितं मनः।

यथा –

दृष्टिस्तृणीकृतजगत्त्रयसत्त्वसारा

धीरोद्धता नमयतीव गतिर्धरित्रीम्।

कौमारकेऽपि गिरिवद्गुरुतां दधानो

वीरो रसः किमयमेत्युत दर्प एव।।

दृष्टि में धीरता, चाल में विचित्रता अर्थात् आश्चर्य, वाणी में मन्द-हास्य (मधुरता) ये सभी विलास नामक गुण की श्रेणी में आते हैं।

उदाहरण जैसे– उत्तररामचरित नामक नाटक में कुश को देखकर श्रीराम की यह उक्ति है– इस कुश की दृष्टि ऐसी है जिसने इस सम्पूर्ण संसार के उत्साह-सार को तिनके की तरह नगण्य कर दिया है अर्थात् इसकी दृष्टि उत्साह से परिपूर्ण है, इसकी चाल ऐसी है जिससे पृथिवी मानों नीचे झुक रही हो, इसकी जवानी की गम्भीरता ऐसी है जैसे पर्वत की गम्भीरता हो। आश्चर्य है, मानों ऐसा लग रहा है जैसे साक्षात् वीर रस हो अथवा अभिमान हो।

3. माधुर्य –

संक्षोभेष्वप्यनुद्वेगो माधुर्यं परिकीर्तितम्।।52।।

ऊह्यमुदाहरणम्।

मनःक्षोभ के कारणों के रहते हुए भी मन की स्थिरता एवं शान्ति को माधुर्य कहते हैं। उदाहरण यत्र-तत्र देखे जा सकते हैं।

4. गाम्भीर्य (गम्भीरता) –

भीशोकक्रोधहर्षाद्यैर्गाम्भीर्यं निर्विकारता।

यथा – **आहूतस्याभिषेकाय विसृष्टस्य वनाय च।**

न मया लक्षितस्तस्य स्वल्पोऽप्याकारविभ्रमः।।

भी अर्थात् भय, शोक, क्रोध तथा हर्ष इत्यादि की निर्विकारता को गाम्भीर्य कहते हैं।

प्रस्तुत पद्य में राम की गम्भीरता को प्रदर्शित किया गया है– राम को अभिषेक के लिए आहूत अर्थात् बुलाया गया। वनवास के लिए भी भेजा गया किन्तु न तो पहले उनकी आकृति में कोई विकार दिखाई पड़ा और न ही बाद में दिखाई पड़ा।

5. धैर्य–

व्यवसायादचलनं धैर्यं विघ्ने महत्यपि।।53।।

यथा–

श्रुताप्सरोगीतिरपि क्षणेऽस्मिन् हरः प्रसंख्यानपरो बभूव

आत्मेश्वराणां न हि जातु विघ्नाः समाधिभेदप्रभवो भवन्ति।।

बहुत विघ्नों के आने पर भी अपने व्यवसाय अर्थात् कार्य से विचलित नहीं होना धैर्य कहलाता है अर्थात् विपरीत परिस्थितियों में भी कर्त्तव्यच्युत न होना धैर्य कहलाता है।

उदाहरण – कुमारसम्भव महाकाव्य में महादेव के धैर्य का वर्णन है– अप्सराओं के मादक संगीत को सुनने पर भी महादेव समाधि में तत्पर रहें क्योंकि जो धैर्य की प्रतिमूर्ति हो, उनकी समाधि विघ्नों से नहीं टूटती है अर्थात् जो जितेन्द्रिय है, उनको कर्त्तव्यमार्ग से कोई हटा नहीं सकता है।

6. तेज–

अधिक्षेपापमानादेः प्रयुक्तस्य परेण यत्।

प्राणात्ययेऽप्यसहनं तत्तेजः समुदाहृतम्।।54।।

किसी दूसरे के द्वारा किये गए अधिक्षेप अर्थात् भर्त्सना तथा अपमान आदि को प्राण संकट पड़ने पर भी सहन ना करना तेज कहा गया है। दूसरे के द्वारा किए गए आक्षेप तथा अपमान की परवाह किए बिना अपने कार्य को करते रहना तेज कहलाता है।

7. ललित–

वाग्वेशयोर्मधुरता, तद्वच्छृंगारचेष्टितं ललितम्।

बोलचाल, वेशभूषा तथा श्रृंगार की चेष्टाओं में अर्थात् प्रेम-लीला में मधुरता को ललित कहा जाता है।

8. औदार्य–

दानं सप्रियभाषणमौदार्यं शत्रुमित्रयोः समता।।55।।

प्रिय-भाषण से युक्त होकर किसी वस्तु को देना तथा शत्रु और मित्र में समता अर्थात् समानता का भाव रखना औदार्य अर्थात् उदारता कहलाता है। इसके उदाहरण यत्र-तत्र स्वयं खोजने चाहिए।

9.2.8 प्रतिनायक

नायक के गुणों का वर्णन करने के बाद प्रतिनायक के स्वरूप के विषय में बताते हैं। वस्तुतः प्रतिनायक का अर्थ है जो नायक के चरित के सर्वथा विपरीत हो। बिना प्रतिनायक के नायक का चरित वर्णन नहीं किया जा सकता है। नायक के समान ही प्रतिनायक का चरित भी

संस्कृत-नाटकों में वर्णन किया जाता है। प्रतिनायक धीरोद्धत स्वभाव का होने के कारण अहंकारी, रौद्रस्वभाव से युक्त होता है।

आचार्य विश्वनाथ प्रतिनायक का स्वरूप प्रदर्शित करते हुए कहते हैं– नायक का प्रतिस्पर्द्धी, धीरोद्धत, पाप करने वाला तथा व्यसनों में डूबा रहने वाला प्रतिनायक कहलाता है। उदाहरण जैसे – **रामस्य रावणः** अर्थात् राम का प्रतिनायक रावण।

9.3 नायिका एवं नायिका भेद

विभाव के आलम्बन-विभाव एवं उद्दीपन विभाव नाम से दो भेद स्वीकार किए गए हैं। इनमें आलम्बन विभाव का अर्थ है नायक तथा नायिका। नायक के स्वरूप, नायक के सहायक तथा नायक के गुणों की चर्चा इससे पहले हम कर चुके हैं।

प्रस्तुत अंश में नायिका के स्वरूप तथा इसके भेदों के बारे में विचार-विमर्श किया जाएगा।

नायिका का स्वरूप–

अथ नायिका त्रिभेदा स्वान्या साधारणा स्त्रीति।

नायकसामान्यगुणैर्भवति यथासंभवैर्युक्ता।।56।।

नायक के सामान्य गुण अर्थात् त्याग, उदारता इत्यादि के समान ही नायिका होती है। इस नायिका में नायक के तरह ही यथासम्भव गुण होते हैं।

नायिका के भेद – 1. स्व 2. अन्या 3. साधारण।

कारिका में आये हुए ''स्त्रीति'' इस पद का अन्वय स्व, अन्या तथा साधारण इन तीनों पदों के साथ होगा। नायिका नायक के त्याग आदि सामान्य गुणों से यथासम्भव युक्त होती है। वह नायिका स्वस्त्री, अन्यस्त्री तथा साधारणा स्त्री इन भेदों से तीन प्रकार की होती है।

9.3.1 स्वीया नायिका एवं उसके भेद

स्वीया अर्थात् स्वस्त्री (अपनी) नायिका का यह स्वरूप है–

विनयार्जवादियुक्ता गृहकर्मपरा पतिव्रता स्वीया।

यथा –

लज्जापर्याप्तप्रसाधनानि परभर्तृनिष्पिपासानि।

अविनयदुर्मेधानि धन्यानां गृहे कलत्राणि।।

विनय अर्थात् विनम्रता, सरलता, आर्जव अर्थात् सदाचार, गृहकर्मपरा अर्थात् गृहस्थ के कार्यों में तत्पर, पतिव्रता अर्थात् पति के सदा अनुकूल रहने वाली पति की विश्वास-पात्र स्त्री स्वीया अर्थात् वह स्वीया (स्वस्त्री) नायिका कहलाती है।

उदाहरण जैसे–

पतिव्रता स्त्री की प्रशंसा करके कोई कह रहा है कि स्त्री-सुलभ लज्जा को ही जो अपना अलंकार मानती है, अपने हृदय में दूसरी स्त्रियों के पतियों के प्रेम की प्यास नहीं रखती और अविनम्रता का भी रत्ती मात्र परिचय नहीं देती, ऐसी पतिव्रतियाँ स्त्री भाग्यशाली लोगों के घर में ही होती है।

स्वीया नायिका के भेद –

साऽपि कथिता त्रिभेदा मुग्धा मध्या प्रगल्भेति।।57।।

स्वीया नायिका अर्थात् स्वस्त्री (नायिका) भी तीन प्रकार की होती है– 1. मुग्धा, 2. मध्या, 3. प्रगल्भा।

1. मुग्धा नायिका –

प्रथमावतीर्णयौवनमदनविकारा रतौ वामा।

कथिता मृदुश्च माने समधिकलज्जावती मुग्धा।।58।।

जिसमें यौवन नया-नया हो, जिसमें कामदेव के विकार का प्रारम्भ हो चुका हो, जिसे रति-क्रीड़ा में लज्जा होती हो, जिसमें मान अर्थात् प्रणय–कोप कोमलता लिए हो, जो अपनी लज्जाशीलता के कारण प्रेम के प्रकाशन में विवश रहा करे। वस्तुतः इसकी पाँच विशेषताएँ हैं– 1. प्रथमावतीर्णयौवना = जिसमें नया-नया यौवन हो, 2. प्रथमावतीर्णमदनविकारा = जिसमें काम का विकार प्रादुर्भावित हुआ हो, 3. रतौ वामा = रति (संभोग) में जो लज्जाशीला हो, 4. माने मृदु = प्रणय–कोप में जो कोमल हो, 5. समधिकलज्जावती = लज्जा से युक्त।

तत्र प्रथमावतीर्णयौवना यथा मम तातपादानाम् –

मध्यस्य प्रथिमानमेति जघनं वक्षोजयोर्मन्दता

दूरं यात्युदरं च रोमलतिका नेत्रार्जवं धावति।

कन्दर्पं परिवीक्ष्य नूतनमनोराज्याभिषिक्त क्षणा

दंगनीव परस्परं विदधते लिर्लुण्ठनं सुभ्रुवः।।

जैसे मेरे पिताजी के द्वारा बनाया गया यह श्लोक– इस सुन्दरी के हृदय-स्थान पर कामदेव का नया-नया राज्याभिषेक क्या हुआ अर्थात् इस सुन्दरी के मन में नवीन-कामदेव ने क्या प्रवेश किया, इसके शरीर के अंग तो परस्पर एक–दूसरे से छीना-झपटी करते हुए प्रतिस्पर्धा कर रहे हैं। नितम्ब ने कटिभाग की स्थूलता छीन ली, उदरदेश अर्थात् पेट ने स्तनों की मन्दता को चुरा लिया तथा नाभि की रोमावली ने दौड़ मचाकर नेत्रों का सीधापन ले लिया।

वस्तुतः उस नायिका (सुन्दरी) के हृदय में कामदेव के प्रवेश के लक्षण दिखाई देने लग गए हैं क्योंकि इसके नितम्ब स्थूल हो गए हैं, स्तन कठोर हो गए हैं, और रोमावली सीधी-सपाट हो गई है।

प्रथमावतीर्णमदनविकारा यथा मम प्रभावतीपरिणये –

दत्ते सालसमन्थरं भुवि पदं निर्याति नान्तःपुरात्,

नोद्दामं हसति क्षणात्कलयते ह्रीयन्त्रणां कामपि,

किञ्चिद्भावगभीरवक्रिमलवस्पृष्टं मनाग्भाषते,

सभ्रूभङ्गमुदीक्षते प्रियकथामुल्लापयन्ती सखीम्।।

प्रभावती परिणय नामक मेरी रचना का यह प्रथमावतीर्णमदन विकारा का उदाहरण–

यह प्रभावती (नायिका) ज़मीन पर धीरे-धीरे अलसाये से पैर रखा करती है, कभी अन्तःपुर से अपने-आप को बाहर भी नहीं निकालती है, खिलखिलाकर हँसना भी नहीं चाहती, अचानक एक विशिष्ट लज्जा के साथ विवश हो जाती है, यदि कभी कुछ बोलती है तो थोड़ा-सा वक्रता लिए हुए बोलती है, और यदि उसकी सखी उसके प्रियतम के सम्बन्ध की कोई चर्चा करे तब तो उसकी भौंहे चढ़ी आँखें उस पर अर्थात् सखी पर ऐसी गढ़ती है कि कुछ कहा ही नहीं जा सकता अर्थात् अत्यन्त गुस्से से वह अपनी सखी को देखती है।

रतौ वामा यथा –

दृष्टा दृष्टिमधो ददाति, कुरुते नालापमाभाषिता,

शय्यायां परिवृत्त्य तिष्ठति, बलादालिङ्गितो वेपते।

निर्यान्तीषु सखीषु वासभवन्नानिर्गन्तुमेवेहते,

जाता वामतयैव सम्प्रति मम प्रीत्यै नवोढा प्रिया।।

रति (संभोग) में लज्जाशीला का उदाहरण– अरे मित्र! मेरी नवोढ़ा अर्थात् नव-विवाहिता प्रिया पत्नी अथवा प्रेयसी देखने पर आँखें नीचे कर लेती है, बोलने पर मुँह नहीं खोलती अर्थात् कुछ भी नहीं बोलती, बाहु-पाश में कसकर पकड़े जाने पर केवल रोती तथा काँपती रहती है और जैसे ही सखियाँ शयनकक्ष से निकलें, वैसे खुद भी बाहर निकल जाती है। अब उसकी यह वामता (उल्टापन, बेतुकी बात) मुझे बहुत अच्छी लगती है।

माने मृदुयर्था –

सा पत्युः प्रथमापराधसमये सख्योपदेशं विना

नो जानाति सविभ्रमाङ्गवलनावक्रोक्तिसंसूचनम्।

स्वच्छैरच्छकपोलमूलगलितैः पर्यस्तनेत्रोत्पला

बाला केवलमेव रोदिति लुठल्लोलालकैरश्रुभिः।।

(प्रणय-कोप में कोमल) का उदाहरण– अमरुकशतक के इस पद्य में मृदुमानवती सखी का चित्रण है।

यह सुन्दरी अथवा बाला तो ऐसी भोली है कि पति के द्वारा किए गए प्रथम-अपराध के समय में हाव-भावपूर्वक मुँह फेर ले अर्थात् पति से नाराज हो जाए। यह तो इतनी भोली है कि व्यंग्य-बाण चलाना भी नहीं जानती, यह तो केवल चारों ओर अपने नयनकमलों को घूमाती, केश-पाश में उलझते, मोती की तरह, आँसुओं को गिराना जानती है अर्थात् कपोल-फलक पर गिरते हुए आँसुओं को बहाना जानती है।

समधिकलज्जावती यथा –

दत्ते सालसमन्थरं–सखीम्।

अत्र समधिकलज्जावतीत्वेनापि लब्धाया रतिवामताया विच्छित्तिविशेषवत्तया पुनः कथनम्।

वस्तुतः समधिकलज्जावती भी रतौ वाम अर्थात् रतिवामता में ही अन्तर्भूत है (रतिवामा के निरूपण-सन्दर्भ) में ही समधिकलज्जावती का निरूपण हो चुका है किन्तु फिर भी दोनों का पृथक्-पृथक् निरूपण करना आवश्यक है क्योंकि दोनों में ही कुछ न कुछ अवश्य चमत्कार है।

(2) मध्या नायिका— स्वीया नायिका (स्व स्त्री) के दूसरे भेद मध्या नायिका का निरूपण करते हैं—

मध्या विचित्रसुरता प्ररूढस्मरयौवना।

ईषत्प्रगल्भवचना मध्यमव्रीडिता सा।।59।।

विचित्रसुरता अर्थात् जो सम्भोग क्रिया में बहुत चतुर हो, जिसमें काम-पिपासा अधिक हो, जिसमें यौवन का उभार हो, ईषत्प्रगल्भवचना अर्थात् जो प्रेमालाप के विषय में हिचकती नहीं है, मध्यव्रीडिता अर्थात् जो लज्जाशीला न हो (जिसमें बहुत लज्जा न हो) ऐसी नायिका मध्या मानी गई है।

इस प्रकार इसकी चार विशेषताएँ हैं— 1. विचित्रसुरता (संभोग क्रिया में अत्यधिक चतुर), 2. प्ररूढस्मरयौवना (यौवन तथा कामदेव के उभार से युक्त), 3. ईषत्प्रगल्भवचना (प्रेमालाप के विषय में अभिज्ञा), 4. मध्यव्रीडिता (अलज्जाशीला)।

विचित्रसुरता यथा –

कान्ते तथा कथमपि प्रथितं मृगाक्ष्या चातुर्यमुद्धतमनोभवया रतेषु।

तत्कूजितान्यनुवदद्भिरनेकवारं शिष्यायितं गृहकपोतशतैर्यथाऽस्याः।।

रति-क्रीड़ा में अत्यधिक कामोन्माद से लवालब भरी हुई इस मृगनयनी ने अपने पति के प्रति ऐसी चतुराई दिखाई कि उसके पीले अर्थात् उसके घर के कबूतर भी उसकी रति-चेष्टाओं को दोहराते हुए उसके शिष्य बनने को उत्कण्ठित हो गए।

श्रृंगारतिलक नामक ग्रंथ से लिए गए इस उदाहरण में यह कथ्य है कि जैसे शिष्य गुरु के वचनों का पालन करते हैं वैसे ही उन कबूतरों ने भी नायिका के द्वारा रति-प्रसंग में किए गए शब्दों को सुनकर अनेक बार उनको दोहराया अर्थात् कबूतर भी वैसा ही करने लगे।

यह उदाहरण प्ररूढस्मरा का भी हो सकता है।

प्ररूढयौवना यथा मम–

नेत्रे खञ्जनगञ्जने, सरसिजप्रत्यर्थि पाणिद्वयं,

वक्षोजौ करिकुम्भविभ्रमकरीमत्युन्नतिं गच्छतः।

कान्तिः काञ्चनचम्पकप्रतिनिधिर्वाणी सुधास्यन्दिनी,

स्मेरेन्दीवरदामसोदरवपुस्तस्याः कटाक्षच्छटा।।

इस सुन्दरी की आँखें खंजन पक्षी की आँखों की तरह एकदम काली है, इसके दोनों हाथ कमल से स्पर्धा कर रहे हैं अर्थात् कमल के समान इसके दोनों हाथ कोमल हैं। इसके उभरे हुए स्तन करिकुम्भ के उभार को भी चुनौती दे रहे हैं, इसकी कान्ति स्वर्णचम्पा के फूल के साथ स्पर्धा कर रही है, इसकी वाणी तो अमृत ही टपका रही है। इसके कटाक्षों की छटा! वह तो खिले नीलकमल की माला की तरह वस्तुतः बहुत विचित्र है।

यहाँ स्तन इत्यादि के उभार के द्वारा सुन्दरी के यौवन का चित्रण किया गया है।

(3) प्रगल्भा नायिका –

प्रगल्भा नायिका स्वीया नायिका अर्थात् स्व स्त्री का तीसरा भेद है। अब इसका लक्षण करते हैं–

स्मरान्धा गाढतारुण्या समस्तरतकोविदा।

भावोन्नता दरव्रीडा प्रगल्भाक्रान्तनायका।।60।।

स्मरान्धा अर्थात् काम के मद में जो अन्धी हो गई हो अथवा जिसको काम के अलावा और कुछ नहीं सूझता हो, गाढतारुण्या अर्थात् जिसका यौवन पूरे उभार पर पहुँच गया हो, समस्तरतकोविदा अर्थात् सभी प्रकार की रति (प्रेम) को जानने वाली हो, भावोन्नता अर्थात् जिसके हाव-भाव पूर्ण विकसित हो गए हों, दरव्रीड़ा अर्थात् जिसमें रति-क्रीड़ा में थोड़ी-सी लाज-शर्म बच गई हो, प्रगल्भाक्रान्तनायका अर्थात् जो रति में नायक को भी आक्रान्त करने वाली हो अर्थात् प्रेम-प्रसंग में जो नायक को भी पछाड़ देती हो ऐसी नायिका प्रगल्भा कहलाती है।

इसकी छह विशेषताएँ हैं– 1. स्मरान्धा, 2. गाढतारुण्या, 3. समस्तरतकोविदा, 4. भावोन्नता, 5. दरव्रीड़ा, 6. आक्रान्तनायका।

स्मरान्धा यथा –

"धन्यासि या कथयसि प्रियसङ्गमेऽपि

विश्रब्धचाटुकशतानि रतान्तरेषु।

नीवीं प्रति प्रणिहिते तु करे प्रियेण

सख्यः शपामि यदि किञ्चिदपि स्मरामि।।"

स्मरान्धा का उदाहरण जैसे– अरे सखी! तू तो वास्तव में धन्य है, क्योंकि तू रति-लीला के समय अर्थात् प्रिय से संगम होने पर बड़ी ही धैर्य से लुभावनी बातें कर सकती है, लेकिन

क्या बताऊँ सखियों, तुम्हारी सौगन्ध! मुझे तो जैसे-जैसे मेरे प्रियतम का हाथ मेरी नीवी की तरफ बढ़ता है, ऐसा लगता है मानो सब कुछ भूल गई हूँ।

गाढ़तारुण्या यथा–

अत्युन्नतस्तनमुरो नयने सुदीर्घे, वक्रे भ्रुवावतितरां, वचनं ततोऽपि

मध्योऽधिकं तनुरनूनगुरुनितम्बो, मन्दा गतिः किमपि चाद्भुतयौवनायाः।।

गाढ़तारुण्या का उदाहरण जैसे–

इस विचित्र यौवन वाली सुन्दरी स्त्री का क्या कहना! इसका वक्षः स्थल तो उभरे हुए स्तनों से भरा है, इसकी आँखें बड़ी-बड़ी लग रही हैं, इसकी भौंहें विचित्र बाँकपन लिए हैं, इसकी वाणी तो इसके भौंहें के बाँकपन से भी ज्यादा टेढी है, इसकी कमर बहुत ही पतली है, इसके नितम्ब बहुत भारी हैं, इसकी चाल बहुत मतवाली है।

इन सभी लक्षणों से नायिका गाढतारुण्या ही प्रतीत हो रही है।

समस्तरतकोविदा यथा–

क्वचित्ताम्बूलाक्तः क्वचिदगुरुपङ्काङ्कमलिनः

क्वचिच्चूर्णोद्गारी क्वचिदपि च सालक्तकपदः।

वलीभङ्गाभोगैरलकपतितैः शीर्णकुसुमैः

स्त्रियाः सर्वावस्थं कथयति रतं प्रच्छदपटः।।

इस स्त्री अर्थात् सुन्दरी के बिछौने की चादर बहुत कुछ कह रही है– इसमें कहीं पर पान की पीक गिरी है, कहीं इसमें अगर के अंगराग के दाग पड़े हैं, कहीं इससे स्तनों के लेप की

सुगन्ध निकल रही है, कहीं इसके पैरों की मेंहदी के चिह्न लगे हैं। कहीं पर त्रिवली के भंग की सलवटें दिख रही हैं और कहीं-कहीं पर इस जूड़े में गुथे फूल बिखरे हैं।

भावोन्नता यथा –

''मधुरवचनैः सभ्रूभङ्गैः कृताङ्गुलितर्जनैः–

रभसरचितैरङ्गन्यासैर्महोत्सवबन्धुभिः।

असकृदसकृत्स्फारस्फारैरपाङ्गविलोकितै–

स्त्रिभुवनजये सा पञ्चेषोः करोति सहायताम्।।''

भावोन्नता का उदाहरण जैसे– यह सुन्दरी तो अपनी मीठी बोली से, अपने भौंहों के बाँकपन से, अपनी अंगुलियों के इशारों से, रति-विलास का महोत्सव करने वाली, बार-बार अर्थात् अनेक बार बाँकी-चितवनों के कारण कामदेव को त्रिभुवन-विजय के लिए आमन्त्रित कर रही है।

अर्थात् इन सभी कारणों से इसमें यौवन की पराकाष्ठा के कारण इसके हाव-भाव पूर्ण विकसित हो चुके हैं, अब वह पूर्ण यौवन से युक्त है।

स्वल्पव्रीड़ा यथा –

धन्यासि या..........स्मरामि।

यह पद्य दरव्रीड़ा का उदाहरण भी है क्योंकि इसमें नायिका की थोड़ी-सी लज्जाशीलता बतलाई गई है। यह उदाहरण पूर्व में स्पष्ट कर दिया गया है।

आक्रान्तनायका यथा–

स्वामिन्! भङ्गुरयालकं सतिलकं भालं विलासिन् कुरु,

प्राणेश त्रुटितं पयोधरतटे हारं पुनर्योजय।

इत्युक्त्वा सुरतावसानसमये सम्पूर्णचन्द्रानना

स्पृष्टा तेन तथैव जातपुलका प्राप्ता पुनर्मोहनम्।।

आक्रान्तनायका का उदाहरण जैसे– सुरत के अवसान के समय अर्थात् रति-क्रीड़ा (संभोग) के समाप्त होने के बाद चन्द्रमुखी वह नायिका अपने पति से इस प्रकार बोली– हे (मेरे) स्वामी! मेरे सिर के बिखरे हुए बालों को सँवार दो, मेरे विलासी! माथे की बिन्दी ठीक कर दो, मेरे प्राणनाथ! स्तनों पर टूटे लटकते हुए हार को जोड़ दो, और जैसे ही उसके प्रेमी ने उसे हुआ कि वह आनन्दविभोर होकर पुनः रति के लिए तैयार हो गई।

मध्या तथा प्रगल्भा नायिका के अवान्तर-भेद –

मध्याप्रगल्भयोर्भेदान्तराण्याह–

ते धीरा चाप्यधीरा च धीराधीरेति षड्विधे।

ते मध्याप्रगल्भे।

मध्या और प्रगल्भा के तीन-तीन भेद और हुआ करते हैं, धीरा, अधीरा तथा धीराधीरा, इस प्रकार कुल छह भेद हो जाते हैं। यहाँ ''ते'' शब्द का अर्थ है मध्या तथा प्रगल्भा दोनों।

1. धीरा मध्या नायिका –

प्रियसोत्प्रवासवक्रोक्त्या मध्या धीरा दहेद्रुषा।।61।।

तत्र मध्या धीरा यथा–

तदवितथमवादीर्यन्मम त्वं प्रियेति

प्रियजनपरिभुक्तं यद्दुकूलं दधानः।

मदधिवसतिमागाः कामिनां मण्डनश्री–

र्व्रजति हि सफलत्वं वल्लभालोकनेन।।

सोत्प्रवासवक्रोक्त्या अर्थात् सपरिहास अथवा मजाक में श्लिष्ट वचनों के द्वारा गुस्से में जो पति को जलाती है अर्थात् जो पति को ख़ूब खरी-खोटी सुनाती है वह धीरा कहलाती है।

उदाहरण जैसे– मेरे प्रिय! तुमने वास्तव में सच कहा था कि तुम्हारी एकमात्र प्रेयसी मैं ही हूँ तभी तो तुम अपनी प्रिया (सौतन) के कपड़े पहनकर मेरे घर उसे दिखाने आए थे। बात तो एकदम सही है कि तभी प्राणप्यारों का साज-श्रृंगार शोभा होता है जब तक कि उनकी प्राण-वल्लभता उसे देख न लें।

यहाँ मजाक-मजाक में नायक की नायिका उसे ताना दे रही है। यौवन और काम के उभार में उसकी मुग्धता हट चुकी है, प्रगल्भता के कारण वह नायिका ऐसा कर रही है।

2. धीराधीरा मध्या नायिका का उदाहरण–

बाले! नाथ! विमुञ्च मानिनि! रुषं, रोषान्मया किं कृतं,

खेदोऽस्मासु, न मेऽपराध्यति भवान् सर्वेऽपराधा मयि।

तत्किं रोदिषि गद्गदेन वचसा, कस्याग्रतो, रुद्यते,

नन्वेतन्मम, का तवास्मि, दयिता, नास्मीत्यतो रुद्यते।।''

अमरुकशतक के इस पद्य में मानिनी (क्रोध करने वाली) के द्वारा अपने प्रियतम को किसी अन्य नायिका में आसक्त देखने पर दोनों (मानिनी तथा नायक) की उक्ति-प्रत्युक्ति है।

प्रियतम – बाले! अर्थात् अरी भोली-भाली

प्रेमिका – नाथ! अर्थात् नाथ!

प्रियतम – मानिनि! विमुञ्च रुषम् अर्थात् अरी क्रोध करने वाली, गुस्सा छोड़ दो!

प्रेमिका – रोषात् मया किं कृतम् अर्थात् गुस्सा करके मुझे क्या मिलेगा!

प्रियतम – खेदः अस्मासु अर्थात् हमें बहुत दुःख हो रहा है।

प्रेमिका – भवान् न में अपराध्यति, मयि सर्वेऽपराधाः अर्थात् आपने कुछ भी अपराध मेरा नहीं किया, सारा अपराध तो मेरा है।

प्रियतम – तत् किं गद्गदेन वचसा रोदिषि अर्थात् जब तुम्हारा ही अपराध है तो जोर-जोर से क्यों रो रही हो।

प्रेमिका – कस्याग्रतो रुद्यते अर्थात् तो किसके आगे रोऊँ!

प्रियतम – ननु एतद् मम अर्थात् यह मेरे आगे तो रो रही हो।

प्रेमिका – का तव आस्मि अर्थात् तुम्हारी मैं कौन हूँ?

प्रियतम – दयिता अर्थात् प्रेयसी अथवा प्रेमिका हो, तुम ही मेरी प्रियतमा हो।

प्रेमिका – न आस्मि, अतः रुद्यते अर्थात् नहीं हूँ अथवा अब तुम्हारी प्रेमिका नहीं रही इसीलिए रो रही हूँ।

मध्या धीराधीरा नायिका का यहाँ उत्कृष्ट वर्णन है।

3. अधीरा मध्या नायिका का उदाहरण–

सार्धं मनोरथशतैस्तव धूर्त! कान्ता,

सैव स्थिता मनसि कृत्रिमहावरम्या।

अस्माकमस्ति नहि कश्चिदिहावकाश–

स्तस्मात्कृतं चरणपातविडम्बनाभिः।।

किसी दूसरी रमणी के साथ सम्भोग करके आए हुए, कामिनी के पैरों में गिरे हुए किसी नायक के प्रति अधीरा नायिका की यह उक्ति है–

अरे धूर्त! मैंरे पैरों पर गिरने का नाटक मत करो, तुम्हारे मन में तो एकमात्र रति करने की लालसा है, वह भी बनावटी है, वहीं विचित्र एवं बनावटी हाव-भाव वाली प्रेमिका तुम्हारे मन में बस रही है, मेरे लिए वहाँ कहाँ जगह है?

यहाँ कठोर वचनों से नायक को उपालम्भ दे रही है।

प्रगल्भा-नायिका के तीन भेद– 1. धीरा, 2.अधीरा, 3.धीराधीरा

1. धीरा प्रगल्भा नायिका का स्वरूप–

प्रगल्भा यदि धीरा स्याच्छन्नकोपाकृतिस्तदा।।62।।

उदास्ते सुरते तत्र दर्शयन्त्यादरान् बहिः।

तत्र प्रिये। यथा –

एकत्रासनसंस्थितिः परिहृता प्रत्युद्गमाद् दूरत–

स्ताम्बूलानयनच्छलेन रभसाश्लेषोऽपि संविघ्नितः।

आलापोऽपि न मिश्रितः परिजनं व्यापारयन्त्यान्तिके

कान्तं प्रत्युपचारतश्चतुरया कोपः कृतार्थीकृतः।।

जो अपने कोप की आकृति अर्थात् गुस्से को बनावटी हँसी हँसकर छुपा देती है, बहिः आदरान् दर्शयन्ती अर्थात् बाहर अपने प्रेमी पर बहुत ही बनावटी आदर दिखाती है, तत्र सुरते उदास्ते

अर्थात् सम्भोग-क्रिया में उदासीन रहती है, प्रियतम के साथ रति-क्रिया में कोई सहयोग नहीं करती है, ऐसी नायिका धीरा प्रगल्भा कहलाती है।

उदाहरण जैसे— इस चतुर नायिका ने दूसरी प्रेमिका में आसक्त नायक पर इस प्रकार क्रोध निकाला— जब वह प्रियतम उसके पास बैठने आया तो वह दूर से उसे लाने के लिए खड़ी हो गई, जब उसके पति ने उसका आलिंगन करना चाहा, तब वह पान लाने के लिए तेजी से दौड़ पड़ी, जब उसके प्रियतम ने उससे कुछ वार्तालाप करना चाहा तो वह परिजनों से अर्थात् नौकर तथा नौकरानियों से कुछ कहने-सुनने के बहाने से उस नायक से एक शब्द भी नहीं बोली।

2. धीराधीरा प्रगल्भा नायिका का स्वरूप—

धीराधीरा तु सोल्लुण्ठभाषितैः खेदयत्यमुम्।।63।।

अमुं नायकम्।

यथा मम—

अनलङ्कृतोऽपि सुन्दर! हरसि मनो मे यतः प्रसभम्

किं पुनरलङ्कृतस्त्वं सम्प्रति नखरक्षतैस्तस्याः।।

जो अमुं अर्थात् नायक को अपने तानों तथा झिड़कियों से दुःखी करती रहती है, वह धीराधीरा प्रगल्भा नायिका कहलाती है।

उदाहरण जैसे— मेरे सुन्दर! तुम तो बिना किसी साज-श्रृंगार के ही मेरा मन चुराते रहते हो! और अधिक क्या कहना! अब तो उसकी (किसी अन्य नायिका) के नखक्षतों की शोभा तुम पर झूम रही है। यहाँ नायिका नायक को पूरी तरह से तर्जित कर रही है।

3. अधीरा प्रगल्भा नायिका का स्वरूप—

तर्जयेत्ताडयेदन्या–

अन्या अधीरा। यथा– 'शोणं वीक्ष्य मुखम्' इत्यत्र। अत्र च सर्वत्र 'रुषा' इत्यनुवर्तते।

अर्थात् जो नायक को खूब डाँटे-फटकारे तथा उसे खूब मारे भी, वह नायिका अधीरा प्रगल्भा कहलाती है अर्थात् अन्या का अर्थ यहाँ अधीरा है। उदाहरण जैसे – ''शोणं वीक्ष्य मुखम्'' यह उदाहरण धृष्ट नायक के प्रसंग में वर्णित किया जा चुका है।

मध्या और प्रगल्भा नायिकाओं के अन्य भेद –

–प्रत्येकं ता अपि द्विधा।

कनिष्ठज्येष्ठरूपत्वान्नायक प्रणयं प्रति।।64।।

ता अनन्तरोक्ताः षड्भेदा नायिकाः।

दृष्ट्वैकासनसंस्थिते प्रियतमे प्श्चादुपेत्यादरा–

देकस्या नयने पिधाय विहितक्रीडानुबन्धच्छलः।

ईशद्वक्रितकन्धरः सपुलकः प्रेमोल्लसन्मानसा–

मन्तर्हासलसत्कपोलफलकां धूर्तोऽपरां चुम्बति।।

मध्या और प्रगल्भा नायिकाओं के दो-दो भेद और होते हैं–

1. नायक से प्रेम की कनिष्ठता (न्यूनता), नायक से जिसका प्रेम कम हो।

2. नायक से प्रेम की ज्येष्ठता (अधिकता), नायक से जिसका प्रेम ज्यादा हो।

कारिका में आए हुए ताः पद का अर्थ धीरा-अधीरा-धीराधीरा के रूप में विभक्त मध्या और प्रगल्भा नायिकाओं से है।

उदाहरण जैसे– इस धूर्त नायक ने जब एक आसन पर बैठी अपनी दोनों प्रेमिकाओं को देखा तो बड़े ही प्रेम से, पीछे से जाकर आँख–मिचोनी खेलने के बहाने से एक की तो आँख बन्द कर दी और अपनी गर्दन घुमाकर, आनन्द से रोमाञ्चित होते हुए, प्रेम और उल्लासित मन से, अन्दर ही अन्दर हँसती हुई उस दूसरी नायिका का चुम्बन कर लिया।

इस श्लोक में नायक के प्रेम की कनिष्ठता तथा ज्येष्ठता का वर्णन किया गया है।

स्वीया अर्थात् स्व-स्त्री के कुल भेद –

मध्याप्रगल्भयोर्भेदास्तस्माद् द्वादश कीर्तिताः।

मुग्धा त्वेकैव तेन स्युः स्वीयाभेदास्त्रयोदश।।65।।

मध्या और प्रगल्भा के कनिष्ठ एवं ज्येष्ठ भेद मिलाकर वह 12 प्रकार की हो जाती है, मुग्धा तो एक प्रकार की है, इस प्रकार स्वीया के कुल 13 भेद हो जाते हैं।

9.3.2 परकीया नायिका एवं उसके भेद

अन्या अर्थात् परकीया स्त्री अथवा परकीया नायिका वह है जो दूसरे की स्त्री अथवा नायिका हो। परकीया अर्थात् जो दूसरे की स्त्री हो।

परकीया (अन्या स्त्री) नायिका के भेद–

परकीया द्विधा प्रोक्ता परोढा कन्यका तथा।

परकीया नायिका दो प्रकार की है–1. परोढ़ा 2. कन्यका

1. परोढा नायिका का लक्षण–

यात्रादिनिरताऽन्योढा कुलटा गलितत्रपा।।66।।

यथा–

स्वामी निःश्वसितेऽप्यसूयति, मनोजिघ्रः सपत्नीजनः,

श्वश्रूरिङ्गितदैवत नयनयोरीहालिहो यातरः।

तद्दूरादयमञ्जलिः किमधुना दृग्भङ्गिभावेन ते,

वैदग्धीमधुरप्रबन्धरसिक! व्यर्थोऽयमत्र श्रमः''।।

अत्र हि मम परिणेताऽन्नाच्छादनादिदातृतया स्वाम्येव न तु वल्लभः। त्वं तु वैदग्धीमधुरप्रबन्धरसिकतया मम वल्लभोऽसीत्यादिव्यङ्ग्यार्थवशादस्याः परनायकविषया रतिः प्रतीयते।

यात्रा अर्थात् घूमने में तथा जिसे किसी दूसरे से बातचीत करने में शर्म नहीं आती एवं जो दूसरों से प्रेम-प्रसंग रखा करती है, वह परोढा नायिका कहलाती है।

उदाहरण जैसे– अरे चतुर चितचोर! तुम्हारी लुभावनी चितवनों से अब कुछ नहीं होने वाला है क्योंकि अब तो मेरा पति श्वास की आवाज पर बुरी तरह से खीझ उठता है, मेरी सौतनों का यह हाल है कि वे मेरे मन की बातों को सूँघती रहती है। मेरी सास के बारे में तो क्या कहना! वह तो मेरे सभी इशारों को मानो किसी देवी की तरह जान लेती है तथा मेरी देवरानी और जेठानी तो मेरी आँखों की सभी हरकतों को जान चुकी है, अब मैं तो तुम्हारे दूर से हाथ जोड़ती हूँ, तुम्हारा मेरे पास आना-जाना अब ठीक नहीं है।

यहाँ इस पद्य में नायिका अपने स्वामी को परिणेता कह रही है न कि वल्लभ (प्रियतम) स्वामी इसलिए कि वह खाने-पीने तथा पहनने-बिछाने की व्यवस्थाओं में जुटा हुआ है और जो वल्लभ है, उसका यार है, वह तो वैदग्धीमधुरप्रबन्धरसिक अर्थात् चतुराई से चित्त को चुराने वाला रसिक है। इसीलिए यहाँ व्यंग्यार्थ परपुरुष अर्थात् उस वल्लभ के लिए द्योतित हो रहा

है, अतः यहाँ परनायक के विषय से सम्बन्धित रति होने के कारण यह परोढा नायिका का उदाहरण है।

2. कन्या अथवा कन्यका नायिका का लक्षण

कन्या त्वजातोपयमा सलज्जा नवयौवना।

अस्याश्च पित्राद्यायत्तत्वात्परकीयत्वम्। यथा–''मालतीमाधवादौ मालत्यादिः।''

उपयमा अर्थात् अविवाहिता, सलज्जा अर्थात् लज्जा से युक्त तथा नवयौवना अर्थात् यौवन से परिपूर्ण नायिका कन्या कहलाती है। यह कन्या नायिका परकीया इसीलिए है कि यह पिता-माता, भाई-बन्धु इत्यादि के अधीन रहती है।

उदाहरण जैसे– मालतीमाधव आदि नाटकों में जैसे मालती इत्यादि।

9.3.3 सामान्या नायिका अथवा साधारणा नायिका

नायिकाओं के तीसरे भेद सामान्य नायिका अथवा साधारणा नायिका का स्वरूप इस प्रकार है–

धीरा कलाप्रगल्भा स्याद्वेश्या सामान्यनायिका।।67।।

निर्गुणानपि न द्वेष्टि न रज्यति गुणिष्वपि।

वित्तमात्रं समालोक्य सा रागं दर्शयेद्बहिः।।68।।

काममङ्गीकृतमपि परिक्षीणधनं नरम्।

मात्रा निःसारयेदेषा पुनःसंधानकाङ्क्षया।।69।।

तस्कराः पण्डका मूर्खाः सुखप्राप्तधनास्तथा।

लिङ्गिनश्छननकामाद्या अस्याः प्रायेण वल्लभाः।।70।।

एषापि मदनायत्ता क्वापि सत्यानुरागिणी।

रक्तायां वा विरक्तायां रतमस्यां सुदुर्लभम्।।71।।

पण्डको वातपाण्ड्वादिः। छन्नं प्रच्छन्नं ये कामयन्ते ते छन्नकामाः। तत्र रागहीना यथा लटकमेलकादौ मदनमञ्जर्यादिः, रक्ता यथा मृच्छकटिकादौ वसन्तसेनादिः।

धीरा अर्थात् धैर्य से युक्त, कला प्रगल्भा अर्थात् रति अथवा संगीत आदि कलाओं में निपुण सामान्या नायिका ''वेश्या'' कहलाती है। यह नायिका (वेश्या) गुणहीन पुरुषों से न तो द्वेष करती है और न ही गुणी लोगों से प्रेम करती है। यह तो केवल पैसे को देखकर बाहर से (कृत्रिम) प्रेम जताती है। यह तो इतना भी कर देती है कि यदि इसका कोई प्रेमी धनी व्यक्ति, यदि वह अचानक गरीब हो गया हो तो यह अपनी माँ के द्वारा उसे घर से बाहर निकलवा देती है अथवा उससे सम्बन्ध ही तोड़ देती है और यदि वह पुनः धनी बन जाए तो उससे फिर से प्रेम करने के लिए तत्पर हो जाती है।

इस वेश्या के प्रेमी प्रायः इस प्रकार के लोग होते हैं, जैसे– तस्कर अर्थात् चोर, पण्डक अर्थात् नपुंसक, मूर्ख, बिना मेहनत के पैसा कमाने वाले, संन्यासी अथवा ब्रह्मचारी, छिपे हुए प्रेमी आदि। कभी-कभी ऐसी वेश्या नायिकाएँ काम-वासना के वशीभूत होकर किसी के प्रति सच्चा प्रेम भी रखने लग जाती है। ऐसी नायिका चाहे वह प्रेम से युक्त हो अथवा विरक्त हो, उसके साथ रति करना बड़ा ही कठिन हो जाता है।

कारिका में आए हुए पण्डक शब्द का अभिप्राय नपुंसक अथवा वातिक पण्डक है। वात रोग से जिसके अण्डकोश नष्ट हो गए हैं वह पण्डक कहलाता है। छन्नकामाः का तात्पर्य है जो छिप-छिपकर वेश्याओं के पास जाते हैं।

उदाहरण – रागहीना अर्थात् (जिसमें प्रेम नहीं होता) का– लटकमेलक आदि प्रहसनों में जैसे मदनमञ्जरी आदि। रक्ता अर्थात् (अनुरक्त अथवा प्रेम करने वाली) का– मृच्छकटिक आदि प्रकरणों में जैसे वसन्तसेना आदि।

इस प्रकार यहाँ तक नायिकाओं के कुल 16 भेद हो गए हैं जिनमें 13 स्वीया नायिका, 2 परकीया नायिका तथा 1 सामान्या अर्थात् साधारणा है।

9.3.4 अवस्था भेद से नायिका भेद

अवस्थाभिर्भवन्त्यष्टावेताः षोडशभेदिताः।

स्वाधीनभर्तृका तद्वत्खण्डिताऽथाभिसारिका।।72

कलहान्तरिता विप्रलब्धा प्रोषितभर्तृका।

अन्या वासकसज्जा स्याद्विरहोत्कण्ठिता तथा।।73।।

उपर्युक्त 16 प्रकार की नायिकाओं के भी अवस्था भेद से आठ-आठ भेद हैं। जैसे– 1. स्वाधीनभर्तृका, 2. खण्डिता, 3. अभिसारिका, 4. कलहान्तरिता, 5. विप्रलब्धा, 6. प्रोषितभर्तृका, 7. वासकसज्जा, 8. विरहोत्कण्ठिता।

1. **स्वाधीनभर्तृका** – स्वाधीनभर्तृका का अर्थ है जो अपने पति अर्थात् प्रेमी को अपने वश में रखे।

कान्तो रतिगुणाकृष्टो न जहाति यदन्तिकम्।

विचित्रविभ्रमासक्ता सा स्यात्स्वाधीनभर्तृका।।74।।

यथा– 'अस्माकं सखि वाससी–' इत्यादि।

जिसका कान्त अर्थात् पति अथवा प्रेमी उसके प्रेम की डोर में बँधा हुआ उसे छोड़कर अन्यत्र कहीं नहीं जाता। जो नायक अथवा प्रेमी के प्रति अनेक प्रकार की विलास की चेष्टाएँ करती है, उसे स्वाधीनभर्तृका नायिका कहते हैं। उदाहरण जैसे – ''अस्माकं सखि वाससी'' इस उदाहरण में ''प्रियः नान्यतः दृष्टिं निक्षिपति'' अर्थात् प्रेमी मुझे छोड़कर और कहीं भी आँख उठाकर नहीं देखता है।

इस उदाहरण में स्वाधीनभर्तृका का स्वरूप स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है।

(2) **खण्डिता** – जो अपने प्रेमी के प्रति ईर्ष्या रखती है वह खण्डिता नायिका कहलाती है।

पार्श्वमेति प्रियो यस्या अन्यसंयोगचिह्नितः।

सा खण्डितेति कथिता धीरैरीर्ष्याकषायिता।।75।।

यथा– 'तदवितथमवादीः–' इत्यादि।

जो नायिका अपने प्रेमी के प्रति ईर्ष्या रखती है क्योंकि वह किसी अपनी दूसरी प्रेमिका के साथ अपने प्रेम-सम्भोग को सूचित करने वाली वेशभूषा में उसके पास आता-जाता रहता है। उदाहरण जैसे – 'तदवितथमवादीः' इस पूर्वोक्त पद्य में किसी दूसरी प्रेमिका के वस्त्र लपेटकर अपनी पहली प्रेमिका के पास नायक के आगमन का वर्णन है। इसमें उस नायक को देखकर नायिका ईर्ष्या कर रही है अतः यह उदाहरण खण्डिता नायिका का है।

(3) **अभिसारिका** – अभिसरण अर्थात् नायक के साथ रमण करने की इच्छा से जो सभी जगह जाती है, उसे अभिसारिका नायिका कहते हैं।

अभिसारयते कान्तं या मन्मथवशंवदा।

स्वयं वाभिसरत्येषा धीरैरुक्ताभिसारिका।।76।।

कामदेव के वशीभूत होकर जो प्रेमी को अपने पास बुला लेती है अथवा स्वयं अभिसरति का अर्थात् खुद प्रेमी के पास चली जाती (रमण करने के लिए) वह अभिसारिका नायिका कहलाती है।

इस प्रकार इसके दो प्रकार हो गए–

1. कान्तं अभिसारयते – प्रेमी को अपने पास बुलाने वाली।

2. स्वयं अभिसरति – स्वयं प्रेमी के पास जाने वाली।

क्रम से उदाहरण जैसे–

1. **न च मेऽवगच्छति यथा लघुतां करुणां यथा च कुरुते स मयि**

   निपुणं तथैनमभिगम्य वदेरभिदूति कञ्चिदिति संदिदिशे।।

शिशुपालवध महाकाव्य के इस श्लोक में कोई नायिका अपने सामने खड़ी दूती से कह रही है– अरी! तुम उसके पास जाना और उससे इस तरह से कहना जिससे उसे मेरी लघुता का पता भी न चले और वह मुझे आकर सन्तृप्त भी कर दे।

यहाँ रमण (अभिसार) के लिए दूती के माध्यम से प्रेमी को अपने पास बुला रही है।

2. **उत्क्षिप्तं करकङ्कणद्वयमिदं, बद्धा दृढं मेखला,**

   यत्नेन प्रतिपादिता मुखरयोर्मञ्जीरयोर्मूकता।

   आरब्धे रभसान्मया प्रियसखि! क्रीड़ाभिसारोत्सवे,

   चण्डालसितिमिरावगुण्ठनपटक्षेपं विधत्ते विधुः।।

अरी सखी! तुम से क्या कहूँ, जैसे ही मैंने दोनों हाथों में पहने हुए इन कंकणों को ऊपर किया, अपनी करधनी (मेखला) को कसकर बाँधा, अपने मुखर मंजीरों अर्थात् आवाज करने

वाले नूपुरों को बन्द किया, बड़ी ही उमंग में अपने प्रियतम से मिलने को तैयार हुई कि चण्डाल चन्द्रमा ने अँधेरे के परदे को हटाना प्रारम्भ कर दिया।

इस पद्य में अभिसार (रमण) करने के लिए अभिसारिका स्वयं अपने प्रेमी (पति) के पास गई है।

अभिसारिका के अभिसार के प्रकार –

संलीना स्वेषु गात्रेषु मूकीकृतविभूषणा।

अवगुण्ठनसंवीता कुलजाऽभिसरेद्यदि।।77।।

विचित्रोज्ज्वलवेषा तु रणन्नूपुरकङ्कणा।

प्रमोदस्मेरवदना स्याद्वेश्याऽभिसरेद्यदि।।78।।

मदस्खलितसंलापा विभ्रमोत्फुल्ललोचना।

आविद्धगतिसंचारा स्यात्प्रेष्याऽभिसरेद्यदि।।79।।

तत्राद्ये 'दत्क्षिप्तम्' इत्यादि। अन्ययोः ऊह्यमुदाहरणम्।

यदि कोई कुलजा अर्थात् अच्छे कुल में उत्पन्न होने वाली नायिका अभिसरण करे तो वह लज्जा के कारण अपने अलंकारों को झंकार से बचाती रहती है तथा घूँघट की ओर में अपने आपको छुपाती रहती है। यदि कोई वेश्या अभिसार करे तो वह विचित्र वेशभूषा पहनकर, अपने नूपुर और कंकणों को बजा-बजाकर तथा अपने मुँह पर आनन्द के हँसी के साथ अठखेलियाँ करती रहती है। यदि कोई प्रेष्या (दूती अथवा नौकरानी अर्थात् अनुचरी) अभिसार (प्रिय मिलन) करे तो वह कामोन्माद में पागल होकर बातचीत में संलग्न रहती है, उसकी आँखों में हमेशा एक विचित्रपन रहता है अर्थात् उसकी आँखें मदहोश रहती है। उसकी चाल मस्ती से भरी दिखाई देती है।

उदाहरण जैसे– कुलजाभिसार का उदाहरण ''उत्क्षिप्तम्'' यह पद्य है, इसमें सम्पूर्ण रूप से कुलजा नायिका के अभिसरण का चित्रण है। अन्य उदाहरण यत्र-तत्र ढूँढें जा सकते हैं।

अभिसार के स्थान (रमण करने के स्थान) –

प्रसंगादभिसारस्थानानि कथ्यन्ते–

क्षेत्रं वाटी भग्नदेवालयो दूतीगृहं वनम्।

मालापञ्चः श्मशानं च नद्यादीनां तटी तथा।।80।।

एवं कृताभिसाराणां पुंश्चलीनां विनोदने।

स्थानान्यष्टौ तथा ध्वान्तच्छन्ने कुत्रचिदाश्रये।।81।।

1. क्षेत्रं अर्थात् खेत, 2. वाटी अर्थात् बगीचा, 3. भग्नदेवालय अर्थात् टूटा-फूटा मन्दिर, 4. दूतीगृह अर्थात् नौकरानी का घर, 5. वन, 6. मालापञ्च (सूना स्थान), 7. श्मसान, 8. नद्यादीनां तटी, ध्वान्तच्छन्ने आश्रये अर्थात् नदी का तट और अँधेरी जगह, ये आठ अभिसारिका के अभिसार के स्थान हैं।

4. कलहान्तरिता –

चाटुकारमपि प्राणनाथं रोषादपास्य या।

पश्चात्तापमवाप्नोति कलहान्तरिता तु सा।।82।।

यथा मम तातपादानाम्–

नो चाटुश्रवणं कृतं, न च दृशा हारोऽन्तिके वीक्षितः,

कान्तस्य प्रियहेतवे निजसखीवाचोऽपि दूरीकृताः।

पादान्ते विनिपत्य तत्क्षणमसौ गच्छन्मया मूढया

पाणिभ्यामवरुध्य हन्त! सहसा कण्ठे कथं नार्पितः।।

चाटुकार अर्थात् प्रणयपूर्वक प्रार्थना करने वाले नायक को भी जो रोष (गुस्सा) से दूर कर देती है और फिर बाद में पश्चात्ताप करती है उसे कलहान्तरिता कहते हैं।

उदाहरण जैसे– (मेरे पिताजी का) – ओह अब क्या किया जाए। मैंने अपने प्रियतम की प्रणय से भरी बातों को भी नहीं सुना, उसके द्वारा मुझे दिए गए प्रेमोपद्धार रूप कण्ठहार पर भी अपनी आँखें न डाली, उसका भला करने वाली अपनी सखी की भी बात मैंने नहीं सुनी और परिणाम यह हुआ कि वे मेरे पैरों पर भी गिरे परन्तु मेरी मूढ़ बुद्धि ने तो वापस जाते हुए उनको दोनों हाथों से रोककर उनके गले से लिपट लेने में भी अपनी भलाई न समझी अर्थात् मैं तो उनका आलिंगन भी नहीं कर सकी।

(5) विप्रलब्धा–

प्रियः कृत्वापि संकेतं यस्या नायाति सन्निधिम्

विप्रलब्धा तु सा ज्ञेया नितान्तमवमानिता।।83।।

यथा–

उत्तिष्ठ दूति, यामो यामो यातस्तथापि नायातः।

याऽतः परमपि जीवेज्जीवितनाथो भवेत्तस्याः।।

जिसका प्रियतम आने का संकेत देने के बाद भी आता नहीं है अर्थात् उसके पास आता नहीं है जिससे वह अपने आपको अपमानित महसूस करती है वह नायिका विप्रलब्धा कहलाती है।

उदाहरण जैसे– अरी दूती! उठ, चल, अब चलें, उनके आने का समय था लेकिन वे नहीं आए। यदि इतना सब होने के बाद भी कोई जिन्दा रहे तो वे उसके प्राणनाथ होने लायक नहीं है। यदि वे आ भी जाएंगे तो मेरे प्राण अब बचेंगे नहीं।

(6) प्रोषितभर्तृका–

नानाकार्यवशाद्यस्या दूरदेशं गतः पतिः।

सा मनोभवदुःखार्ता भवेत्प्रोषितभर्तृका।।84।।

यथा–

तां जानीयाः परिमितकथां जीवितं मे द्वितीयं

दूरीभूते मयि सहचरे चक्रवाकीमिवैकाम्।

गाढोत्कण्ठां गुरुषु दिवसेष्वेषु गच्छत्सु बालां

जातां मन्ये शिशिरमथितां पद्मिनीं वान्यरूपाम्।।

अनेक प्रकारों के कार्य से जो अपने प्रियतम के विदेश जाने के कारण कामवेदना के दुःख से व्यथित रहा करती है, वह प्रोषितभर्तृका कहलाती है।

उदाहरण जैसे– मेघदूत के इस पद्य में यक्षिणी को प्रोषितभर्तृका के रूप में चित्रित किया गया है।

हे मेघ! चक्रवाक के विरह में चक्रवाकी की तरह, मेरे विरह में मरणासन्न मेरी प्रिया को तुम मेरे प्राणों का एकमात्र आधार समझना। जब तुम उसे देखोगे तब तुम्हें ऐसा लगेगा, जैसे, इन विरह के लम्बे-लम्बे दिनों के बीतते, मिलन-वेला की बढ़ी-चढ़ी उत्कण्ठा में पड़ी, मेरी वह प्यारी, पाले से पीड़ित कमलिनी की तरह दीन-हीन अर्थात् मलिन हो गई है अर्थात् जैसे कमलिनी सर्दी में पाला पड़ने से मलिन हो जाती है वैसे ही यक्षिणी भी मेरे विरह में दीन-हीन हो गई है।

(7) वासकसज्जा–

कुरुते मण्डनं यस्याः सज्जिते वासवेश्मनि।

सा तु वासकसज्जा स्याद्विदितप्रियसङ्गमा।।85।।

यथा राघवानन्द नाटके–

विदूरे केयूरे कुरु, करयुगे रत्नवलयै–

रलं, गुर्वी ग्रीवाभरणलतिकेयं किमनया।

नवामेकामेकावलिमयि मयि त्वं विरचये–

र्न नेपथ्यं पथ्यं बहुतरमनङ्गोत्सवविधौ।।

जो अपनी सखियों द्वारा, अपने सजे-धजे वासमहल में सजाया जाया करती है और अपने प्रियतम से मिलने की प्रतीक्षा में पड़ी रहा करती है।

उदाहरण जैसे– श्री राघवानन्द-महापात्र द्वारा विरचित नाटक में चित्रित वासकसज्जा का उदाहरण– अरी सखी! इन केयूरों (बाजूबन्दों) को हटा दो, हाथों के इन रत्न-कंकणों को भी दूर कर दो, गले की इस भारी चैन (हार) को भी हटा दो, इसकी कोई जरूरत नहीं है। बस, तू तो मुझे मोतियों की एक लड़ी दे दे। मुझे तो अपने प्रियतम के साथ प्रेमोत्सव मनाना है, ऐसे समय में मुझे किसी भी तरह की सजावट अच्छी नहीं लगती है।

(8) विरहोत्कण्ठिता–

आगन्तुं कृतचित्तोऽपि दैवान्नायाति यत्प्रियः।

तदनागमदुःखार्ता विरहोत्कण्ठिता तु सा।।86।।

यथा –

किं रुद्धः प्रियया कयाचिदथवा सख्या ममोद्वेजितः,

किं वा कारणगौरवं किमपि, यन्नाद्यागतो वल्लभः।

इत्यालोच्य मृगीदृशा करतले विन्यस्य वक्त्राम्बुजं

दीर्घं निःश्वसितं, चिरं च रुदितं, क्षिप्ताश्च पुष्पस्रजः।।

जिसका प्रियतम मिलने के लिए उत्सुक होने पर भी, भाग्यवश मिल नहीं पाता है और उसके वियोग में जो हमेशा दुःखी रहती है, वह विरहोत्कण्ठिता कहलाती है।

उदाहरण जैसे–

क्या दूसरी प्रेमिका ने उनको रोक लिया, क्या मेरी सखी ने उनकी जान आफत में तो नहीं डाल दी अर्थात् उनको परेशान तो नहीं किया, क्या कोई ऐसा काम आ गया जिसके कारण वे नहीं आए, वे क्यों नहीं आए, ऐसा सोचते-सोचते उस मृगनयनी ने अपने कमल जैसे सुन्दर मुख को हथेलियों में छिपाकर, लम्बी साँस लेकर, बहुत देर तक रोने के बाद अपने फूलों के हार उतार फेंके।

पूर्वोक्त नायिका भेद संकलन –

इति साष्टाविंशतिशतमुत्तममध्याधमस्वरूपेण।

चतुरधिकाशीतियुतं शतत्रयं नायिकाभेदाः।।87।।

साष्टाविंशतिशतम् अर्थात् 128 भेद कुल मिलाकर अर्थात् पूर्वोक्त 16 भेदों में 8 (आठ) भेद और मिलाकर 16 × 8 = 128 भेद कुल हो गए हैं। इन 128 भेदों में से उत्तम, मध्यम तथा अधम भेद मिलाकर कुल 384 भेद हो गए हैं।

128 × 3 = 384 (चतुरधिकाशीतियुतं शतत्रयम्)

इह च 'परस्त्रियौ कन्यकान्योढे संकेतात्पूर्वं विरहोत्कण्ठिते, पश्चाद्विदूषकादिना सहाभिसरन्त्यावभिसारिके, कुतोऽपि संकेतस्थानमप्राप्ते नायके विप्रलब्धे, इति त्र्यवस्थैवानयोरस्वाधीनप्रिययोरवस्थान्तरायोगात्' इति कश्चित्।

यहाँ किसी आचार्य का यह मत है कि उपर्युक्त नायिका भेद युक्तियुक्त नहीं है क्योंकि कन्यका और परोढा ये दो प्रकार की परकीया नायिकाओं की तीन अवस्थाएँ युक्तिसिद्ध हो सकती है, आठों नहीं जैसे कि–

1. किसी प्रेमी के साथ रति का संकेत होने पर, मिलन-काल के पहले ''विरहोत्कण्ठिता'' की अवस्था।

2. विदूषक तथा चेट इत्यादि के साथ अभिसार करने पर अभिसारिका की अवस्था।

3. किसी कारणवश संकेत-स्थान पर नायक के न आ सकने पर विप्रलब्धा की अवस्था।

ये इसीलिए कि दोनों प्रकार की (परोढा तथा कन्यका) ये नायिकाएँ स्वाधीनपतिका नहीं अपितु अस्वाधीनपतिका ही हुआ करती हैं किन्तु यह बात सही नहीं है क्योंकि पति और भर्ता का अभिप्राय यहाँ प्रेमी अथवा कामुक माना गया है। कन्या और परोढा भी स्वाधीनपतिका अर्थात् स्वाधीन कामुका हो सकती हैं क्योंकि पिता और पति के घर में भी कोई स्त्री किसी दूसरे से प्रेम कर सकती है और तब उसे भी खण्डिता आदि की अवस्थाओं से गुजरना पड़ सकता है।

क्वचिदन्योन्यसाङ्कर्यमासां लक्ष्येषु दृश्यते।

यथा–

न खलु वयममुष्य दानयोग्याः पिबति च पाति च यासकौ रहस्त्वाम्।

विट! विटपममुं ददस्व तस्यै भवति यतः सदृशोश्चिराय योगः।।

लक्ष्य ग्रन्थों अर्थात् काव्य तथा महाकाव्य आदि में इन नायिका-भेदों का सांकर्य अर्थात् संकीर्ण भी प्राप्त होता है।

उदाहरण जैसे–

प्रस्तुत पद्य महाकवि माघ विरचित शिशुपालवध महाकाव्य से लिया गया है। इसमें नायिका के स्वरूप को प्रदर्शित किया गया है– अरे विट (लम्पट अथवा धूर्त) हमें तुम इन फूली हुई टहनियों को क्यों दे रहे हो। जाओ इन टहनियों को तो तुम उनको दे आओ जो तुम्हें एकान्त-सम्भोग में चूस रही हैं जिसे छोड़ना तेरे बस के बाहर है क्योंकि मेल (सम्बन्ध) तो समान-स्वभाव वाले में ही ठीक होता है।

यहाँ विटप शब्द में श्लेष (अर्थात् इसको दो अर्थ) हैं– विटपान् पातीति विटपः अर्थात् पत्ता तथा विटपा का अर्थ है विट की प्रेयसी विटपा।

(2) तव कितव किमाहितैर्वृथा नः क्षितिरुहपल्लवपुष्पकर्णपूरैः।

ननु जनविदितैर्भवद्व्यलीकैश्चिरपरिपूरितमेव कर्णयुग्मम्।।

अरे धूर्त! मेरे कानों के लिए इन कोमल किसलयों और फूलों के कर्णफूल तू क्यों बनाना चाहता है। अरे! मेरे कान तो तुम्हारी सर्वविदित धूर्तता की बातों से यूँ ही भरे हुए हैं।

यहाँ व्यलीक शब्द का अर्थ धूर्तता के साथ-साथ नायक का परस्त्रीगमन भी है।

(3) मुहुरुपहसितामिवालिनादैर्वितरसि नः कलिकां किमर्थमेनाम्।

वसतिमुपगतेन धाम्नि तस्याः शठ! कलिरेष महांस्त्वयाद्य दत्तः।।

अरे शठ अर्थात् नीच! भौंरों की गुंजन से भरी हुई इस ''कली'' को मुझे क्यों दे रहा है, जब तू उस दुष्टा के घर रात बिता चुका तब तो तूने मुझे ''कलि'' (कलह का पर्याप्त कारण) दे ही डाली।

यहाँ विरहोत्कण्ठिता नायिका का मनोहारी चित्रण है।

(4) इति गदितवती रुषा जघान स्फुरितमनोरमपक्ष्मकेसरेण।

श्रवणनियमितेन कान्तमन्या सममसिताम्बुरुहेण चक्षुषा च।।

इस प्रकार बोलती हुई नायिका ने अपने प्रेमी पर, लम्बे-लम्बे (कानों तक फैले) पक्ष्म-केसरों से भरे हुए नीलकमल और नयनों की एक साथ चोट मारी अर्थात् नीलकमल से तथा नीलकमल जैसी आँखों से एक साथ देखा।

इयं हि वक्रोक्त्या परुषवचनेन कर्णोत्पलताडनेन च धीरमध्यताऽधीरमध्यताऽधीर प्रगल्भताभिः संकीर्णा।

इस प्रकार यहाँ वक्रोक्ति, कठोर वचन तथा कर्णोत्पल ताडन के द्वारा क्रमशः धीरमध्यता, अधीरमध्यता और अधीरप्रगल्भता के कारण नायिकाओं के संकीर्ण भेद है।

इतरा अप्यसंख्यास्ता नोक्ता विस्तरशङ्कया।।88।।

ता नायिकाः।

विस्तार के कारण अर्थात् ग्रन्थ के विस्तार को देखते हुए और भी असंख्य भेद नायिकाओं के हो सकते हैं लेकिन उन्हें यहाँ बताया नहीं जा रहा है।

इस प्रकार नायिकाओं के असंख्य भेदों को बताते हुए कविराज विश्वनाथ अपनी सूक्ष्म-दृष्टि का परिचय दे रहे हैं।

दिव्या, अदिव्या, पद्मिनी, हस्तिनी, गजगामिनी, शङ्खिनी इत्यादि अन्य भी प्रकार नायिकाओं के हैं, विभिन्न प्रकार की रति-क्रियाओं के आधार पर नायिकाओं के विविध भेद हैं। संसार की सभी प्रकार की स्त्रियों का वर्णन वास्तव में असंख्य ही है।

9.4 नायिकाओं के यौवनालंकार

नायिकाओं के निरूपण के बाद अब नायिकाओं के यौवनालंकार बताए जा रहे हैं। यौवनालंकार का तात्पर्य है कि ये अलंकार अथवा गुण उनकी बाह्य एवं आन्तरिक-सुन्दरता में चार चाँद लगा देते हैं अर्थात् बढ़ा देते हैं। ये विभिन्न प्रकार के अलंकार हैं– जैसे सात्त्विक अलंकार, इन सात्त्विक अलंकारों में भी अंगज अलंकार, अयत्नज अलंकार, और स्वभावज अलंकार है। इस प्रकार कुल अलंकारों अथवा गुणों की संख्या 28 है। इनका नाम निर्देश इस प्रकार है–

अथासामलंकाराः–

यौवने सत्त्वजास्तासामष्टाविंशतिसंख्यकाः।

अलङ्कारास्तत्र भावहावहेलास्त्रयोऽङ्गजाः।।89।।

शोभा कान्तिश्च दीप्तिश्च माधुर्यं च प्रगल्भता।

औदार्यं धैर्यमित्येते सप्तैव स्युरयत्नजाः।।90।।

लीला विलासो विच्छित्तिर्विब्वोकः किलकिञ्चितम्।

मोट्टायितं कुट्टमितं विभ्रमो ललितं मदः।।91।।

विहृतं तपनं मौग्ध्यं विक्षेपश्च कुतूहलम्।

हसितं चकितं केलिरित्यष्टादशसंख्यकाः।।92।।

स्वभावजाश्च भावाद्या दश पुंसां भवन्त्यपि।

पूर्वे भावादयो धैर्यान्ता दश नायकानामपि सम्भवन्ति। किन्तु सर्वेऽप्यमी नायिकाश्रिता एव विच्छित्तिविशेषं पुष्णन्ति।

इन नायिकाओं के यौवन के कुल 28 अलंकार हैं, ये सत्त्वजा अर्थात् सात्त्विक अलंकार हैं। इनमें 3 अलंकार अंगज है, भाव, हाव तथा हेला। सात अयत्नज अर्थात् स्वाभाविक अलंकार हैं— शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, प्रगल्भता, औदार्य, धैर्य।

लीला, विलास, विच्छित्ति, विव्वोक, किलकिञ्चित, मोट्टायित, कुट्टमित, विभ्रम, ललित, मद, विहृत, तपन, मौग्ध्य (मुग्धता) विक्षेप, कुतूहल, हसित, चकित तथा केलि। इन 28 अलंकारों में से 10 अलंकार (भाव से धैर्य तक) नायक के भी सात्त्विक अर्थात् यौवन सम्बन्धी अलंकार माने जाते हैं। पूर्वोक्त भाव से लेकर धैर्य तक ये दश अलंकार नायक में भी होते हैं। किन्तु सभी ये अलंकार नायिकाओं में ही ज्यादा शोभित होते हैं।

1. **भाव** – नायिका के हृदय में जो रति की भावना को भावित अर्थात् उत्पन्न करे वह भाव कहलाता है। इसका लक्षण इस प्रकार है–

निर्विकारात्मके चित्ते भावः प्रथमविक्रिया।।93।।

जन्मतः प्रभृति निर्विकारे मनसि उद्बुद्धमात्रो विकारो भावः।

यथा–

स एव सुरभिः कालः स एव मलयानिलः।

सैवेयमबला किन्तु मनोऽन्यदिव दृश्यते।।

नायिका के निर्विकारात्मक अर्थात् शुद्ध चित्त में, मन में काम का प्रथम प्रवेश ही भाव कहलाता है। जन्म से लेकर शुद्ध मन में उत्पन्न होने वाला जो काम विकार है वह भाव है। नायिका के हृदय में नायक के बारे में जो सम्भोग की इच्छा है, वही भाव है।

उदाहरण जैसे–

वसन्त का समय भी वही है, मलय की समीर भी वही है, यह अबला अर्थात् स्त्री भी वही है लेकिन इसका मन कुछ दूसरा ही लग रहा है। यहाँ ''मन अलग लग रहा है'' इसमें ही भाव का लक्षण चरितार्थ हो रहा है।

2. हाव –

भ्रूनेत्रादिविकारैस्तु संभोगेच्छाप्रकाशकः।

भाव एवाल्पसंलक्ष्यविकारो हाव उच्यते।।94।।

यथा –

विवृण्वती शैलसुतापि भावमङ्गैः स्फुरद्बालकदम्बकल्पैः।

साचीकृता चारुतरेण तस्थौ मुखेन पर्यस्तविलोचनेन।।

भौंहे तथा आँख आदि के द्वारा संभोग की इच्छा प्रकाशित करने वाले को हाव कहते हैं। यह हृदय में स्थिति रति-विकार को अल्प रूप से प्रकाशित भी करता है।

उदाहरण जैसे– कुमारसम्भव के इस पद्य में भगवती पार्वती के हाव का चित्रण है– भगवान् शंकर भी जब काम के वशीभूत हो गये तब पार्वती भी नवकुसुमित कदम्ब कोरकों की तरह अपने अंग-प्रत्यंगों से अपने हृदय में स्थित रति भावना को प्रकट करने लगी और अपने अत्यन्त सुन्दर मुख को तिरछा घुमाये खड़ी हो गई।

(3) हेला –

हेलात्यन्त समालक्ष्यविकारः स्यात् स एव तु।

यथा–

तथा तस्या झटिति प्रवृत्ता वध्वाः सर्वाङ्गविभ्रमाः सकलाः।

संशयितमुग्धभावा भवन्ति चिरं यथा सखीनामपि।।

हेला भाव का ही एक अन्य प्रकार है जो नायिका के हृदय में तथा अंग-प्रत्यंगों में रहा करता है।

उदाहरण जैसे– उस नववधू के अंग-प्रत्यंग के सभी विकार अथवा विभ्रम इस प्रकार प्रकट होने लगे कि सखियों को भी उसकी मुग्धता पर सन्देह हो गया। भाव और हेला में मामुली अन्तर यह है कि भाव तो नारी का प्रथम काम सूचक मनोरम विकार है तथा हेला हाव की अत्यधिकता के परिणामस्वरूप होता है।

2. अयत्नज अलंकार –

1. शोभा –

रूपयौवनलालित्यभोगाद्यैरङ्गभूषणम्।।95।।

शोभा प्रोक्ता–

तत्र यौवनशोभा यथा–

असंभृतं मण्डनमङ्गयष्टेरनासवाख्यं करणं मदस्य।

कामस्य पुष्पव्यतिरिक्तमस्त्रं बाल्यात्परं साऽथ वयः प्रपेदे।।

सौन्दर्य, यौवन तथा सुकुमारता अर्थात् कोमलता से परिपूर्ण अंगों का जो आभूषण है अर्थात् शरीर के अंगों का जो सौन्दर्य है वह शोभा नामक अलंकार कहलाता है।

यौवन की शोभा का उदाहरण जैसे कुमारसम्भव में– पार्वती उस आयु में पहुँची जो कि रमणी की अंगलतिका की एक सहज भूषण-सम्पत्ति है, जिसे किसी आसवपान के बिना ही मद की उत्पत्ति का कारण माना जाता है और जो काम का एक ऐसा अस्त्र है जो पाँचों पुष्पास्त्रों से भी बढ़कर अमोघ है।

यौवनावस्था के सौन्दर्य का मनोहारी वर्णन इस पद्य में किया गया है।

2. कान्ति –

सैव कान्तिर्मन्मथाप्यायितद्युतिः।

मन्मथोन्मेषेणातिविस्तीर्णो शोभैव कान्तिरुच्यते।

यथा – 'नेत्रे खञ्जनगञ्जने–' इत्यत्र।

जहाँ मन्मथ अर्थात् कामदेव की वृद्धि परिलक्षित हो उसको कान्ति कहते हैं। कामदेव की अधिकता से उत्पन्न अत्यन्त समृद्ध शोभा को कान्ति कहते हैं।

उदाहरण जैसे–''नेत्रे खञ्जनगञ्जने' यह उदाहरण पूर्व में वर्णित किया जा चुका है। इसमें नायिका के शरीर में कामदेव के आविर्भाव का वर्णन होने से कान्ति नामक गुण है।

(3) दीप्ति –

कान्तिरेवातिविस्तीर्णा दीप्तिरित्यभिधीयते।।96।।

यथा मम चन्द्रकलानामनाटिकायां चन्द्रकलावर्णनम्–

तारुण्यस्य विलासः समधिकलावण्यसम्पदो हासः।

धरणितलस्याभरणं युवजनमनसो वशीकरणम्।।

अतिविस्तृत रूप में कान्ति ही दीप्ति कहलाती है।

उदाहरण जैसे– मेरी चन्द्रकला नामक नाटिका में से चन्द्रकला वर्णन का– यह सुन्दरी चन्द्रकला तरुणता का साक्षात् विलास है, बढ़ती लावण्य-सम्पदा का सुन्दर हास है, पृथिवी की एकमात्र आवरण शोभा है, युवकों के हृदय का वशीकरण मन्त्र है।

(4) माधुर्यम् –

सर्वावस्थाविशेषेषु माधुर्यं रमणीयता।

यथा–

सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं

मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति।

इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी

किमिव हि मधुरणां मण्डनं नाकृतीनाम्।।

सभी अवस्थाओं में सुन्दरता का रहना अर्थात् सभी प्रकार की अवस्थाओं में जो अक्षुण्ण रहा करती है, वह रमणीयता ही माधुर्य है।

उदाहरण जैसे– शैवालों (काँटों) से भी घिरा हुआ कमल जैसे सुन्दर लगता है, कलंक से युक्त चन्द्रमा भी अत्यंत शोभा को धारण करता है, उसी प्रकार यह मनोज्ञा तथा तन्वी शकुन्तला वल्कल-वस्त्रों में भी बहुत सुन्दर लग रही है, क्योंकि मधुर आकृति वालों को हर वस्तु मण्डन अर्थात् सुन्दर ही लगती है अर्थात् जो मन से सुन्दर होते हैं उन पर हर वस्तु सुन्दर ही लगती है।

इस पद्य में शकुन्तला के अप्रतिम सौन्दर्य के द्वारा माधुर्य नामक अलंकार का निरूपण किया गया है।

(5) प्रगल्भता –

निःसाध्वसत्वं प्रागल्भयम्–

यथा –

समाश्लिष्टाः समाश्लेषैश्चुम्बिताश्चुम्बनैरपि।

द्रष्टाश्च दशनैः कान्तं दासीकुर्वन्ति योषितः।।

निर्भयता को ही प्रगल्भता कहते हैं।

उदाहरण जैसे– स्त्रियों (सुन्दरियों) का क्या कहना! यदि वे आलिंगन करना चाहे तो आलिंगन से, चुम्बन करना चाहे तो चुम्बन से, दन्तक्षत करना चाहे तो दन्तक्षत से अपने प्रेमियों को अपना दास तो बना ही लेती है।

(6) औदार्यम् (उदारता) –

–औदार्यं विनयः सदा।।97।।

यथा –

न ब्रूते परुषां गिरं वितनुते न भ्रूयुगं भंगुरं,

नोत्तंसं क्षिपति क्षितौ श्रवणतः सा मे स्फुटेऽप्यागसि।

कान्ता गर्भगृहे गवाक्षविवरव्यापारिताक्ष्या बहिः

सख्या वक्त्रमभिप्रयच्छति परं पर्यश्रुणी लोचने।।

हमेशा विनम्रता रहने को औदार्य कहते हैं। विनम्रता से रहना अर्थात् क्रोध इत्यादि न करना ही औदार्य है।

उदाहरण जैसे– नायक अपने मित्र से कहता है– मेरे प्रेमापधार के स्पष्ट रूप से प्रकट हो जाने पर भी यह नायिका (प्रेयसी) मुझसे कोई कठोर वचन नहीं बोलती हैं, न मुझ पर भौंहे तानती है, न कानों से कर्णफूल निकालकर मेरे ऊपर फेंकती है। वह तो केवल घर की खिड़की से इधर-उधर बाहर देखकर अपनी सखी के मुख की ओर आँसू भरी निगाहें डाल देती है।

यहाँ प्रियतम के द्वारा बहुत बड़ा अपराध करने पर भी उसको कुछ नहीं कहना नायिका के औदार्य का परिचायक है।

(7) धैर्य –

मुक्तात्मश्लाघना धैर्यं मनोवृत्तिरचञ्चला।

यथा–

ज्वलतु गगने रात्रौ रात्रावखण्डकलः शशी,

दहतु मदनः, किंवा मृत्योः परेण विधास्यति।

मम तु दयितः श्लाघ्यस्तातो जनन्यमलान्वया

कुलममलिनं न त्वेवायं जनो न च जीवितम्।।

जिसमें किसी भी प्रकार की मन की चंचलता तथा आत्मश्लाघा अर्थात् आत्मप्रशंसा न हो, वह धैर्य कहलाता है।

उदाहरण जैसे–

मालतीमाधव में मालती नायिका के धैर्य का अद्‌भुत वर्णन है– भले ही आकाश में रात्रि में चन्द्रमा जलता रहे, भले ही कामदेव जलाता रहे, भला मौत के अलावा कोई दूसरा मेरा क्या बिगाड़ेगा। मेरे पति, मेरे पिता, मेरी माँ, मेरा वंश, मेरे सगे ये सारे निष्कलंक रहेंगे। मुझे अपनी कोई चिन्ता नहीं है न अपने प्राणों से प्यार है।

3. स्वभावज अलंकार

1. लीला –

अङ्‌गैर्वेषैरलङ्‌कारैः प्रेमिभिर्वचनैरपि।

प्रीतिप्रयोजितैर्लीलां प्रियस्यानुकृतिं विदुः।।

यथा –

मृणालव्यालवलया वेणीबन्धकपर्दिनी।

हरानुकारिणी पातु लीलया पार्वती जगत्।।

जो प्रिय का अनुकरण अंगों से वेशभूषा से, अलंकारों से, प्रिय वचनों से, प्रेमोद्रेक से हो, वह लीला कहलाता है।

उदाहरण जैसे– कमलतन्तुओं के वलय से जो शिव के व्याल-वलय (साँपों के वलय का) वेणी (चोटी) के बन्धन से शिव के जटाजूटों का अनुसरण करती है, ऐसी लीला करने वाली माँ पार्वती इस संसार की रक्षा करें।

2. विलास –

यानस्थानासनादीनां मुखनेत्रादिकर्मणाम्।।99।।

विशेषस्तु विलासः स्यादिष्टसन्दर्शनादिना।

यथा –

अत्रान्तरे किमपि वाग्विभवातिवृत्तवैचित्र्यमुल्लसितविभ्रममायताक्ष्याः।

तद्भूरिसात्त्विकविकारमपास्तधैर्यमाचार्यकं विजयि मान्मथमाविरासीत्।।

इष्ट अर्थात् प्रिय के दर्शन तथा आगमन आदि के कारण चाल-ढाल, उठने-बैठने, आसन-शयन एवं मुख तथा नेत्र आदि के द्वारा आनन्दसूचक विशेषता का नाम ''विलास'' है।

उदाहरण जैसे– मालतीमाधव में मालती के विलास का वर्णन है– माधव का दर्शन क्या हुआ, चौड़ी एवं सुन्दर आँखों वाली मालती के ऐसे भाव प्रकट होने लगे जिनका वाणी से वर्णन असम्भव है। जिनसे विभ्रम-विलासों की विचित्रताएँ छिटक पड़ीं, जिनसे सात्त्विक भावों का झरना फूट पड़ा, जिसने उसे एकदम अधीर बना दिया, सचमुच ऐसा लगा कि अब उसमें कामदेव प्रकट हो गया।

3. विच्छित्ति –

स्तोकाप्याकल्परचना विच्छित्तिः कान्तिपोषकृत्।

यथा–

स्वच्छाम्भःस्नपनविधौतमङ्गमोष्ठस्ताम्बूलद्युतिविशदो विलासिनीनाम्।

वासस्तु प्रतनु विविक्तमस्त्वितीयानाकल्पो यदि कुसुमेषुणा न शून्यः।।

सौन्दर्य का बोध कराने वाली अथवा सौन्दर्य में वृद्धि करने वाली थोड़ी-सी वेष रचना का नाम विच्छित्ति है।

उदाहरण जैसे– यदि कामिनियों में कामकलाओं का विलास हो तो निर्मल जल के स्नान से शुद्ध शीतल शरीर, ताम्बूलराग से सुन्दर ओंठ और सूक्ष्म अथवा निर्मल वस्त्र बस यही कामिनियों का वेष-सौन्दर्य है।

शिशुपालवध महाकाव्य के इस पद्य में विच्छित्ति का सुन्दर निदर्शन है।

4. विव्वोक –

विव्वोकस्त्वतिगर्वेण वस्तुनीष्टेऽप्यनादरः।।100।।

यथा –

यासां सत्यपि सद्गुणानुसरणे दोषानुवृत्तिः परा,

याः प्राणान् वरमर्पयन्ति, न पुनः सम्पूर्णदृष्टिं प्रिये।

अत्यन्ताभिमतेऽपि वस्तुनि विधिर्यासां निषेधात्मक

स्तास्त्रैलोक्यविलक्षणप्रकृतयो वामाः प्रसीदन्तु ते।।

अत्यन्त गर्व के कारण प्रिय वस्तु के प्रति जो अनादर का भाव है वह विव्वोक कहलाता है।

उदाहरण जैसे– तीनों लोकों से विलक्षण स्वभाव वाली ये वामा अर्थात् सुन्दरियाँ तुम पर प्रसन्न हों जो सद्गुण का अनुसरण करने पर भी सभी जगह दोष निकालती है, जो प्रियतम के लिए अपने प्राणों को समर्पित करने में तत्पर होने पर भी उस पर पूरी निगाहें नहीं डाला करती, जो किसी प्रिय वस्तु के प्रति बलवती अभिलाषा रखने पर भी उसे माँगने नहीं जाती।

5. किलकिञ्चित –

स्मितशुष्करुदितहसितत्रासक्रोधश्रमादीनाम्।

साङ्कर्यं किलकिञ्चितमीष्टतमसङ्गमादिजाद्धर्षात्।।101।।

यथा–

पाणिरोधमविरोधितवाञ्छ भर्त्सनाश्च मधुरस्मितगर्भाः।

कामिनः स्म कुरुते करभोरूर्हारि शुष्करुदितं च सुखेऽपि।।

प्रियतम के आगमन से उत्पन्न आनन्द से मुस्कुराहट, अकारण रोदन, हँसी, त्रास, क्रोध, श्रम आदि के विचित्र मिश्रण को किलकिञ्चित कहा जाता है।

उदाहरण जैसे– शिशुपालवध के इस श्लोक में किलकिञ्चित का वर्णन है–

करभोरू अर्थात् सुन्दरी ने अपने प्रियतम की इच्छा को न टालते हुए भी, नीवी को खोलने में तत्पर उसके हाथों को रोका, मन्द-मन्द मुस्कान के साथ उसे मीठी-मीठी झिड़कियाँ दी और आनन्द का अनुभव करते हुए भी सुन्दरता से रोना प्रारम्भ कर दिया।

6. मोट्टायित –

तद्भावभाविते चित्ते वल्लभस्य कथादिषु।

मोट्टायितमिति प्राहुः कर्णकण्डूयनादिकम्।।102।।

यथा –

सुभग! त्वत्कथारम्भे कर्णकण्डूतिलसा।

उज्जृम्भवदनाम्भोजा भिनत्यङ्गानि साऽङ्गना।।

प्रियतम के प्रेम-प्रसंग के सन्दर्भ में प्रेम में पड़ी हुई नायिका के कर्ण कण्डूयन अर्थात् कान खुजलाने आदि का नाम मोट्टायित है।

उदाहरण जैसे— अरे सौभाग्यशाली! तुम्हारी कथा के प्रारम्भ में अर्थात् तुम्हारा नाम लेते ही वह सुन्दरी कानों के खुजलाने में बहुत आनन्द लेने लगती है, उसका कमल जैसा मुख जम्हाई लेने लगता है और उसके अंग-अंग अंगड़ाई से भर जाते हैं।

(7) कुट्टमित –

केशस्तनाधरादीनां ग्रहे हर्षेऽपि सम्भ्रमात्।

आहुः कुट्टमितं नाम शिरःकरविधूननम्।।103।।

यथा—

पल्लवोपमितिसाम्यसपक्षं दष्टवत्यधरबिम्बमभीष्टे।

पर्यकूजि सरुजेव तरुण्यास्तारलोलवलयेन करेण।।

केश, स्तन तथा अधर इत्यादि का नायक के द्वारा ग्रहण करने पर, आनन्दपूर्वक अपने सिर तथा हाथों में होने वाले कम्पन का नाम कुट्टमित है।

उदाहरण जैसे— शिशुपालवध के इस पद्य में कुट्टमित का सुन्दर चित्रण है—

जैसे ही प्रियतम ने प्रेमिका के पल्लवों के समान अत्यन्त कोमल अधरों पर अपने दाँतों के चिह्न बनाए, वैसे ही सुन्दरी के मुखरित कंकण युक्त हाथ ने, मानो कष्ट का निवेदन करते हुए झनाझनाहट मचा दी अर्थात् जैसे ही नायक ने नायिका का चुम्बन किया वैसे ही हाथों में कम्पन होने लगा।

(8) विभ्रम –

त्वरया हर्षरागादेर्दयितागमनादिषु।

अस्थाने विभ्रमादीनां विन्यासो विभ्रमो मतः।।104।।

यथा–

श्रुत्वायान्तं बहिः कान्तमसमाप्तविभूषया।

भालेऽञ्जनं दृशोर्लाक्षा कपोले तिलकः कृतः।।

अपने प्रियतम के आगमन की सूचना मात्र मिलते ही आनन्द के कारण, अत्यन्त प्रीति के कारण, आश्चर्य से युक्त होकर नायिका के आभूषणों का अस्त-व्यस्त होना विभ्रम कहलाता है।

उदाहरण जैसे– जैसे ही सुन्दरी ने यह सुना कि मेरे प्रियतम घर के बाहर आ गए हैं, तुरन्त सुन्दरी ने अपनी वेशभूषा को छोड़कर माथे (सिर) पर काजल, महावर आँखों में तथा गालों पर तिलक कर लिया।

(७) ललित –

सुकुमारतयाङ्गानां विन्यासो ललितं भवेत्।

यथा –

गुरुतरकलनूपुरानुनादं सललितनर्तितवामपादपद्मा।

इतरदनतिलोलमादधाना पदमथ मन्मथमन्थरं जगाम।।

अंगों का सुकुमारतया अर्थात् सुन्दरता (कोमलता) से रखना ही ललित कहलाता है।

उदाहरण जैसे– शिशुपालवध का यह वर्णन है– यह सुन्दरी जब चली तब नूपुरों की मधुर झंकार के साथ चली, बाएँ पदकमल को बहुत ही विचित्रता से नचाते चली, दाहिने पैर को

धीरे से जमीन पर दबा के चली और ऐसी चली कि कामोन्माद के कारण मानो मन्द चाल से चल रही हो।

(10) मद –

मदो विकारः सौभाग्ययौवनाद्यवलेपजः।

यथा–

मा गर्वमुद्वह कपोलतले चकास्ति

कान्तस्वहस्तलिखिता मम मञ्जरीति।

अन्यापि किं न खलु भाजनमीदृशीनां

वैरी न चेद्भवति वेपथुरन्तरायः।।

सौभाग्य तथा यौवन इत्यादि के कारण उत्पन्न होने वाला विकार मद कहलाता है।

उदाहरण जैसे– अरी मतवाली! इस अहंकार में मत रह कि तेरे गालों पर तेरे प्रियतम के हाथों की रची अर्थात् बनाई गई पत्र रचना अर्थात् पुष्प की रचना लगी हुई है, अरी! किसी और भी सुन्दरी के भाग्य में यह सब लिखा है, किन्तु दुःख इस बात का है कि भावावेश से कपोल की कंपकपी ऐसा होने नहीं देती है।

(11) विहृत –

वक्तव्यकालेऽप्यवचो व्रीडया विहृतं मतम्।

यथा –

दूरागतेन कुशलं पृष्टा नोवाच सा मया किञ्चित्।

पर्यश्रुणी तु नयने तस्याः कथयाम्बभूवतुः सर्वम्।।

बोलने के समय में भी लज्जा के कारण न बोलना ही विहृत कहलाता है।

उदाहरण जैसे— दूर देश से लौटकर, जब मैंने उसकी कुशलक्षेम पूछी, तब वह कुछ भी न बोल पाई। किन्तु उसकी आँखें आँसुओं से भर गई और उन आँखों ने सब कुछ बता दिया।

(12) तपन —

तपनं प्रियविच्छेदे स्मरवेगोत्थचेष्टितम्।।106।।

यथा मम—

श्वासान्मुञ्चति भूतले विलुठति, त्वन्मार्गमालोकते,

दीर्घं रोदिति, विक्षिपत्यत इतः क्षामां भुजावल्लरीम्।

किञ्च, प्राणसमान! काङ्क्षितवती स्वप्नेऽपि ते सङ्गमं,

निद्रा वाञ्छति, न प्रयच्छति पुनर्दन्धो विधिस्तामपि।।

प्रियतम के वियोग में कामावेश की चेष्टाओं को करना ही तपन कहलाता है।

उदाहरण जैसे— मेरा ही— अरे उसके प्राणों से भी प्यारे प्रेमी, उसकी (नायिका) की हालत बहुत खराब है! कभी वह लम्बी-लम्बी आहें भरती है, कभी पृथिवी पर लोटती है, कभी तुम्हारा रास्ता देखती है, कभी देर तक सोती है, कभी दुर्बल अपनी भुजलताओं को इधर-उधर पटकती है और इसीलिए कि स्वप्न में भी तुम मिल सको, नींद की माँग लगाए रहती है, किन्तु उसका दुर्भाग्य! उसे नींद कहाँ।

(13) मौग्ध्य —

अज्ञानादिव या पृच्छा प्रतीतस्यापि वस्तुतः।

वल्लभस्य पुरः प्रोक्तं मौग्ध्यं तत्तत्त्ववेदिभिः।।107।।

यथा –

के द्रुमास्ते क्व वा ग्रामे सन्ति केन प्ररोपिताः।

नाथ! मत्कङ्कणन्यस्तं येषां मुक्ताफलं फलम्।।

जानी-पहचानी वस्तु के बारे में भी अज्ञान के जैसे अपने प्रियतम के सामने पूछने को मौग्ध्य कहते हैं।

उदाहरण जैसे– नाथ, मेरे प्राणनाथ, वे कौन से पेड हैं, किस गाँव में पैदा होते हैं और किसने उन्हें लगाया है, जिनका फल मेरे कंगन में जड़ा यह मौक्तिक (मोती) चमक रहा है।

(14) विक्षेप –

भूषाणामर्धरचना मिथ्या विष्वगवेक्षणम्।

रहस्याख्यानमीषच्च विक्षेपो दयितान्तिके।।108।।

यथा–

धम्मिल्लमर्धयुक्तं कलयति तिलकं तथाऽसकलम्।

किञ्चिद्वदति रहस्यं चकितं विष्वग्विलोकते तन्वी।।

अपने प्रियतम के पास आधी वेशभूषा पहनना, बिना किसी कारण के इधर-उधर देखना और धीरे-धीरे रहस्यमय वार्तालाप करना विक्षेप कहलाता है।

उदाहरण जैसे– इस सुन्दरी का हाल तो देखो– इसके केश पूरे सजे हुए नहीं हैं। इसका तिलक भी अधूरा ही लगा हुआ है, धीरे-धीरे यह कुछ गुप्त बात भी बता रही है और चकित होकर चारों तरफ देख रही है।

(15) कुतूहल –

रम्यवस्तुसमालोके लोलता स्यात्कुतूहलम्।

यथा–

प्रसाधिकालम्बितमग्रपादमाक्षिप्य काचिद् द्रवरागमेव।

उत्सृष्टलीलागतिरागवक्षादलक्तकाङ्क्षां पदवीं ततान।।

किसी सुन्दर वस्तु के दर्शन के लिए मन में कौतुक की जागृति का नाम कुतूहल है।

रघुवंश में राजकुमार अज की बरात का चित्रण है– बरात देखने की जल्दी में किसी सुन्दरी ने प्रसाधिका (महावर अथवा मेंहदी लगाने वाली स्त्री) से हाथों को अचानक झटक लिया, अपनी मन्द गम्भीर गति बदल डाली और झरोखे तक आते-आते सारे रास्ते को महावर से लाल कर दिया।

(16) हसित –

हसितं तु वृथाहासो यौवनोद्भेदसम्भवः।।109।।

यथा –

अकस्मादेव तन्वङ्गी जहास यदियं पुनः।

नूनं प्रसूनबाणोऽस्यां स्वाराज्यमधितिष्ठति।।

यौवन की अधिकता के कारण बेकार में ही प्रियतम के सामने हँसने को हसित कहते हैं।

उदाहरण जैसे– अचानक ही वह सुन्दरी हँस पड़ी उससे तो यही लगता है कि इसके हृदय पर कामदेव का अखण्ड राज्य स्थापित हो चुका है।

(17) चकित –

कुतोऽपि दयितस्याग्रे चकितं भयसम्भ्रमः।

यथा –

त्रस्यन्ती चलशफरीविघट्टितोरूर्वामोरूरतिशयमाप विभ्रमस्य।

क्षुभ्यन्ति प्रसभमहो विनापि हेतोर्लीलाभिः किमु सति कारणे तरुण्यः।।

बिना किसी कारण के ही प्रियतम के सामने भयभीत होना चकित कहलाता है।

उदाहरण जैसे– शिशुपालवध के इस वर्णन में चकित का सुन्दर निदर्शन है– जलविहार में लगी उस सुन्दरी की जाँघों से छोटी-सी चंचल मछली क्या टकरा पड़ी, उसके हृदय में समा गया, और विचित्र प्रकार के भाव प्रारम्भ हो गए। कामिनियों का तो यह स्वभाव है कि बिना किसी कारण के ही विक्षोभ-लीला मचाने लगती है और यदि कोई कारण मिल जाए तब तो कहना ही क्या!

(18) केलि –

विहारे सह कान्तेन क्रीडितं केलिरुच्यते।।110।।

यथा –

व्यपोहितुं लोचनतो मुखानिलैरपारयन्तं किल पुष्पजं रजः।

पयोधरेणोरसि काचिदुन्मनाः प्रियं जघानोन्नतपीवरस्तनी।।

प्रियतम के साथ प्रेम-विहार में नायिका की क्रीड़ा का नाम केलि है।

उदाहरण जैसे– कामोद्वेग से भरी उस पीवरस्तनी (बड़े-बड़े स्तनों वाली) ने यह देखकर कि उसका प्रियतम अपने मुँह की फूँक से उसकी आँखों में पड़ा पुष्पराग नहीं निकाल सकता तो उसने अपने पयोधरों अर्थात् स्तनों से उसे धक्का दे मारा।

मुग्धा और कन्या नायिकाओं की प्रेम-चेष्टाएँ

अथ मुग्धाकन्ययोरनुरागेङ्गितानि–

दृष्ट्वा दर्शयति व्रीडां सम्मुखं नैव पश्यति।

प्रच्छन्नं वा भ्रमन्तं वातिक्रान्तं पश्यति प्रियम्।।111।।

बहुधा पृच्छ्यमानापि मन्दमन्दमधोमुखी।

सगद्गदस्वरं किञ्चित्प्रियं प्रायेण भाषते।।112।।

अन्यैः प्रवर्तितां शश्वत्सावधाना च तत्कथाम्।

शृणोत्यन्यत्र दत्ताक्षी प्रिये बालानुरागिणी।।113।।

मुग्धा तथा कन्या नायिकाओं की प्रेम भरी चेष्टाएँ निम्न प्रकार से हैं– ये अपने प्रियतम को देखकर लज्जित हो जाती हैं, उनसे आँख नहीं मिलाती हैं, उसे छिपकर अथवा कहीं घूमते हुए या दूर निकले हुए देखती रहती हैं, बहुत पूछताछ किये जाने पर भी, सिर झुकाए, धीरे-धीरे अस्पष्ट रूप से कुछ बोलती हैं। जब दूसरे लोग इनके प्रियतम के विषय में बात करते हैं तब कहीं दूसरी ओर निगाह किए सावधानी से कान लगाकर सुनती रहती हैं।

9.5 सारांश

प्रस्तुत इकाई में आपने नायक का स्वरूप एवं इसके चार भेदों को समझा। इसी क्रम में विस्तृत रूप से धीरोदात्तादि नायक के प्रकारों का सोदाहरण विस्तारपूर्वक आपने अध्ययन किया। फिर दक्षिण, धृष्ट, अनुकूल और शठ नामक इन चार भेदों के साथ नायक के सोलह भेदों को आपने समझा। फिर इनके उत्तम, मध्यम तथा अधम भेद मिलाकर नायक के कुल 48 भेदों को आपने समझा।

इसके उपरान्त नायक के विविध सहायकों के बारे में आपने जाना जो कि नायक की विविध-प्रकार से सहायता करते हैं। जिनमें विट, चेट तथा विदूषक प्रमुख है। इसी तरह नायक के अर्थ-सहायक, नायक के अन्तःपुर के सहायक, नायक के दण्ड सहायक, नायक के धर्म सहायक इत्यादि को भी आपने विस्तारपूर्वक समझा। इन्हीं सहायकों में उत्तम, मध्यम तथा अधम इन तीन भेदों से सम्पूर्ण सहायकों के बारे में गहन ज्ञान आपने प्राप्त किया। इसी क्रम में नायक के दूत, नायक के आठ प्रकार के सात्त्विक गुणों का लक्षण एवं उदाहरण सहित सविस्तार आपने अध्ययन किया।

इसके बाद प्रतिनायक का स्वरूप एवं इसके उदाहरणों को आपने पढ़ा। इसी सन्दर्भ में नायिका के स्वरूप के साथ-साथ नायिका के भेदों को भी सविस्तार आपने समझा। तीन प्रकार की नायिकायें जैसे 1. स्व 2. परकीया 3. साधारण स्व अर्थात् स्वीया के 1. मुग्धा 2. मध्या 3. प्रगल्भा इस प्रकार ये तीन भेद, मध्या और प्रगल्भा के लिए तीन-तीन भेदों को आपने पढ़ा, जैसे– धीरा, अधीरा तथा धीराधीरा। फिर मध्या एवं प्रगल्भा नायिका के कनिष्ठा एवं ज्येष्ठा इन दो भेदों को मिलाकर कुल 13 भेदों को आपने जाना। इसी प्रकार परकीया नायिका के दो भेद परोढा तथा कन्यका इन दोनों को आपने जाना, फिर सामान्य नायिका के 1 भेद को आपने पढ़ा। इस प्रकार 13 भेद स्वीया के, 2 भेद परकीया के तथा 1 भेद साधारणा का, कुल मिलाकर नायिकाओं के 16 भेदों को आपने सोदाहरण तथा सविमर्श पढ़ा। इसके उपरान्त अवस्था भेद से नायिकाओं के आठ भेदों को आपने जाना। इसी क्रम में अभिसारिका नामक नायिका के अभिसार के प्रकारों तथा अभिसार के स्थानों को आपने सविस्तार पढ़ा।

इस प्रकार नायिकाओं के पूर्वोक्त 16 भेदों में ये आठ भेद मिलाकर 128 भेद तथा इन 128 भेदों में उत्तम, मध्यम तथा अधम मिलाकर 384 भेदों को आपने समझा।

इसी सन्दर्भ में नायिकाओं के 28 प्रकार के यौवनालंकारों को, जिनमें 3 अलंकार अंगज, सात (07) अयत्नज अलंकार तथा अठारह (18) स्वाभावज अलंकारों के बारे में आपने अध्ययन किया। तदनु मुग्धा और कन्या नायिकाओं की प्रेम चेष्टाओं को आपने विस्तार से पढ़ा।

9.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. साहित्यदर्पण – व्याख्याकार – डॉ॰ सत्यव्रत सिंह। चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, दशम संस्करण, 1997

2. साहित्यदर्पण – लक्ष्मी टीका से युक्त, आचार्य कृष्णमोहन शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, चतुर्थ संस्करण, 1985

3. काव्यप्रकाश – आचार्य विश्वेश्वर, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, संशोधित संस्करण, 2005

4. हिन्दी नाट्यशास्त्र – बाबूलाल शुक्ल शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 1983

9.7 अभ्यास प्रश्न

1. नायक का लक्षण लिखते हुए भेदों को उदाहरण सहित प्रतिपादित कीजिए?

2. धृष्ट नायक का उदाहरण एवं लक्षण व्याख्यायित कीजिए?

3. नायिका का लक्षण लिखते हुए भेदों के साथ स्वीया नायिका के अवान्तर भेदों को सोदाहरण स्पष्ट करें?

4. सामान्या नायिका के स्वरूप एवं उदाहरण को प्रतिपादित कीजिए?

5. अवस्था भेद से नायिका के भेद कितने हैं? नाम निर्देश करते हुए तीन नायिकाओं का लक्षण एवं उदाहरण लिखें?

इकाई 10 ध्वनिकाव्य, गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य एवं चित्रकाव्य

इकाई की रूपरेखा

10.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप –

- ध्वनिकाव्य का स्वरूप तथा उदाहरण से परिचित होंगे।
- ध्वनिकाव्य के भेदों को उदाहरणपूर्वक समझ सकेंगे।
- गुणीभूतव्यंग्य काव्य का स्वरूप से परिचित होंगे।
- गुणीभूतव्यंग्य काव्य के भेदों को उदाहरणपूर्वक समझ सकेंगे।
- अधम काव्य के अस्तित्त्व पर विश्वनाथ 'कविराज' के अभिप्राय को समझ सकेंगे।

10.1 प्रस्तावना

कवि के कर्म को काव्य कहा जाता है। हमारे संस्कृत काव्यशास्त्र की परम्परा में आचार्यों ने अपने-अपने मत के अनुसार काव्य के भेद किए हैं। वाग्देवतावतार के रूप में प्रसिद्ध, काव्यशास्त्र के मर्मज्ञ आचार्य मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' नामक अपने लोकप्रिय ग्रन्थ में– उत्तम, मध्यम और अधम नाम से काव्य के तीन भेद किए हैं। इसके बाद चौदहवीं शताब्दी में लब्धजन्मा आचार्य विश्वनाथ 'कविराज' अपनी विवेचना-शक्ति के अनुसार 'साहित्यदर्पण' नामक लोकस्पृहणीय ग्रन्थ में काव्य के दो भेद मानते हैं– उत्तमकाव्य तथा मध्यमकाव्य। विश्वनाथ 'कविराज' ने साहित्यदर्पण के चतुर्थ परिच्छेद में उत्तमकाव्य (ध्वनिकाव्य) तथा उत्तमकाव्य के भेदों का साङ्गोपाङ्ग निरूपण किया है, इसके बाद उन्होंने मध्यम काव्य (गुणीभूतव्यंग्य) और इसके भेदों का भी विस्तार से निरूपण किया है, विश्वनाथ 'कविराज' काव्य में अधमकाव्य की सत्ता स्वीकार नहीं करते, जिसका बड़े ही रोचक ढंग से उन्होंने खण्डन किया है। इस इकाई में आप इन्हीं काव्य भेदों का सोदाहरण अध्ययन करेंगे।

10.2 काव्य प्रकार

विश्वनाथ 'कविराज' साहित्यदर्पण के चतुर्थ परिच्छेद में काव्य का विभाजन करते हुए कहते हैं कि–

अथ काव्यभेदमाह–

काव्यं ध्वनिर्गुणीभूतव्यङ्ग्यं चेति द्विधा मतम्।

काव्य– ध्वनि और गुणीभूतव्यंग्य भेद से दो प्रकार का होता है।

यद्यपि विश्वनाथ 'कविराज' के पूर्ववर्ती मम्मट, आनन्दवर्धनाचार्य आदि आचार्यों ने काव्य के जो तीन भेद किए हैं उसका कारण उनका काव्यलक्षण है। मम्मटादि आचार्यों का काव्यलक्षण उत्तम, मध्यम और अधम काव्य भेदों में व्याप्त हो सकता है, किन्तु विश्वनाथ का काव्यलक्षण **'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'** अधम काव्य में व्याप्त नहीं हो सकता, क्योंकि अधम काव्य में रस की स्थिति नहीं बन सकती, इस विषय को पाठ के अन्त में अर्थात् चित्रकाव्य निरूपण प्रसंग में विस्तार से स्पष्ट किया जाएगा।

10.2.1 ध्वनिकाव्य

विश्वनाथ 'कविराज' ने ध्वनिकाव्य का निरूपण करते हुए कहा है कि–

तत्र –

वाच्यातिशयिनि व्यङ्ग्ये ध्वनिस्तत्काव्यमुत्तमम् ।।1।।

वाच्यादधिकचमत्कारिणि व्यङ्ग्यार्थे ध्वन्यतेऽस्मिन्निति व्युत्पत्त्या ध्वनिर्नामोत्तमं काव्यम् ।

अर्थात् वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यङ्ग्यार्थ के अतिशय चमत्कारकारी होने पर ध्वनि काव्य होता है। इसे उत्तम काव्य भी कहा जाता है। **'ध्वन्यते अस्मिन् इति ध्वनिः'** इसका अभिप्राय यह है कि इसमें व्यङ्ग्यार्थ ध्वनित होता है, अतः यह ध्वनि काव्य कहा जाता है।

इस प्रकार ध्वनिकाव्य के लक्षण को बताकर विश्वनाथ 'कविराज' ध्वनिकाव्य के भेदों की चर्चा करते हैं–

भेदौ ध्वनेरपि द्वावुदीरितौ लक्षणाभिधामूलौ।

अविवक्षितवाच्योऽन्यो विवक्षितान्यपरवाच्यश्च।।2।।

तत्राविवक्षितवाच्यो नाम लक्षणामूलो ध्वनिः। लक्षणामूलत्वादेव वाच्यमविवक्षितं बाधितस्वरूपम्।

विवक्षितान्यपरवाच्यस्त्वभिधामूलः, अतः एवात्र वाच्यं विवक्षितम्। अन्यपरं व्यङ्ग्यनिष्ठम्। अत्र हि वाच्योऽर्थः स्वरूपं प्रकाशयन्नेव व्यङ्ग्यार्थस्य प्रकाशकः। यथा प्रदीपो घटस्य। अभिधामूलस्य बहुविषयतया पश्चान्निर्देशः।

ध्वनिकाव्य के दो भेद हैं अविवक्षितवाच्यध्वनि और विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि। इन दोनों भेदों को क्रमशः लक्षणामूलध्वनि और अभिधामूलध्वनि भी कहा जाता है। अविवक्षितवाच्यध्वनि अर्थात् लक्षणामूलध्वनि में वाच्यार्थ अविवक्षित रहता है, क्योंकि इसमें लक्ष्यार्थ विवक्षित रहता है इसलिए इसे अविवक्षितवाच्यध्वनि कहा जाता है। विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि में जो अन्यपरवाच्य है उसमें 'अन्यपर' का अर्थ व्यग्यनिष्ठ होगा अतः यह बोध होता है कि जहाँ व्यंग्यनिष्ठ अथवा व्यंग्यपरक वाच्यार्थ विवक्षित रहता है वहाँ विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि अर्थात् अभिधामूलध्वनि होती है। इस भेद में वाच्यार्थ अपने स्वरूप को प्रकाशित करता हुआ व्यंग्यार्थ का प्रकाशक होता है जैसे दीप घट का प्रकाशक होता है। दीप अपने को प्रकाशित

करता हुआ घट को प्रकाशित करता है उसी तरह वाच्यार्थ अपने को प्रकाशित करता हुआ व्यंग्यार्थ को प्रकाशित/अभिव्यक्त करता है।

अविवक्षितवाच्यध्वनि के भेद

अविवक्षितवाच्यध्वनि तथा विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि नाम से ध्वनिकाव्य के दो भेद करने के पश्चात् विश्वनाथ 'कविराज' सर्वप्रथम अविवक्षितवाच्यध्वनि का भेद करते हैं। यद्यपि विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि का भेद पहले बताया जा सकता था पर विश्वनाथ 'कविराज' ने 'सूचीकटाहन्याय' का सहारा लेते हुए कहा हैं कि– अभिधामूलस्य बहुविषयतया पश्चान्निर्देशः,

विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि का विषय बहुत व्यापक है एवं अविवक्षितवाच्यध्वनि का विषय अल्प है, इसलिए पहले अविवक्षितवाच्यध्वनि के भेदों की चर्चा करना ही न्यायसंगत है–

अविवक्षितवाच्यस्य भेदावाह–

अर्थान्तरं सङ्क्रमिते वाच्येऽत्यन्तं तिरस्कृते।

अविवक्षितवाच्योऽपि ध्वनेर्द्वैविध्यमृच्छति।।3।।

अविवक्षितवाच्यो नाम ध्वनिरर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्योऽत्यन्ततिरस्कृतवाच्यश्चेति द्विविधः।

यत्र स्वयमनुपयुज्यमानो मुख्योऽर्थः स्वविशेषरूपेऽर्थान्तरे परिणमति, तत्र मुख्यार्थस्य स्वविशेषरूपार्थान्तरसंक्रमितत्वादर्थान्तरसंक्रमितवाच्यत्वम्।

अविवक्षितवाच्यध्वनि के दो भेद हैं– (1) अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य, (2) अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य। इसमें अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य को परिभाषित करते हुए विश्वनाथ ने कहा है कि–

'यत्र स्वयमनुपयुज्यमानो मुख्योऽर्थः स्वविशेषरूपेऽर्थान्तरे परिणमति, तत्र मुख्यार्थस्य स्वविशेषरूपार्थान्तरसंक्रमितत्वादर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यत्वम्'

इसका अभिप्राय यह है कि जहाँ मुख्यार्थ स्वयं अनुपयुक्त होने के कारण किसी विशेष अर्थ को उपस्थित करे तो मुख्यार्थ को अपने से किसी विशेष अर्थ में संक्रमण करने के कारण इसे 'अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य' कहते हैं। अब आप के समक्ष विश्वनाथ 'कविराज' सम्मत अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य का उदाहरण प्रस्तुत किया जा रहा है–

यथा–

कदली कदली, करभः करभः, करिराजकरः करिराजकरः।

भुवनत्रितयेऽपि बिभर्ति तुलामिदमूरुयुगं न चमूरुदृशः।।

अत्र द्वितीयकदल्यादिशब्दाः पौनरुक्तयभिया सामान्यकदल्यादिरूपे मुख्यार्थे बाधिता जाड्यादिगुणविशिष्टकदल्यादिरूपमर्थं बोधयन्ति। जाड्याद्यतिशयश्च व्यङ्ग्यः।

कदली कदली ही है करभ करभ ही है शुण्डादण्ड भी शुण्डादण्ड ही है, इस संसार में कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो इस मृगनयनी के ऊरुयुगल की समानता रख सके।

यहाँ नायिका के उरुयुगल की तुलना किसी भी वस्तु से नहीं की जा सकती, यदि उरुयुगल की तुलना गुणधर्म में कुछ समानता रखने वाले कदली/रम्भातरु से करें तो वह कदली अर्थात् अत्यन्तशीतल ही है, क्योंकि उसमें उष्णत्व का अभाव है (जबकि नायिका के जङ्घप्रदेश में शीतलता के साथ उष्णता भी रहती है)। यदि उसी उरुयुगल की तुलना करभ से करें तो वह करभ अत्यन्त ह्रस्व है। यदि उरुयुगल की तुलना करिराजकर अर्थात् हाथी के सूंड से करें तो वह करिराजकर अर्थात् अत्यन्त कठोर ही है अतः मृगनयनी के उरुयुगल की तुलना किसी भी वस्तु से नहीं की जा सकती। प्रस्तुत पद्य में दूसरी बार प्रयुक्त किए गए 'कदली' 'करभ' 'करिराजकर' पद अपने मुख्यार्थ को छोड़कर विशेष अर्थ में संक्रमित हो रहे हैं। यहाँ दुबारा प्रयुक्त हुए पदों में पुनरुक्त दोष की कल्पना नहीं करनी चाहिए, क्योंकि पुनरुक्तदोष एक ही पद का दो बार प्रयोग होने पर एक ही अर्थ का बोध कराने की स्थिति में होता है यहाँ तो दूसरी बार प्रयुक्त 'कदली' आदि पद दूसरे अर्थ में अर्थात् अर्थान्तर में संक्रमित हो रहे हैं। इस पद्य में कदली आदि पदार्थों से जडता का आधिक्य बताना व्यंग्य है।

अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि का निरूपण करते हुए विश्वनाथ 'कविराज' कहते हैं कि –

यत्र पुनः स्वार्थं सर्वथा परित्यजन्नर्थान्तरे परिणमति, तत्र मुख्यार्थस्यात्यन्ततिरस्कृतत्वादत्यन्ततिरस्कृतवाच्यत्वम्।

निःश्वासान्ध इवादर्शश्चन्द्रमा न प्रकाशते।

अत्रान्धशब्दो मुख्यार्थे बाधितेऽप्रकाशरूपमर्थं बोधयति, अप्रकाशातिशयश्च व्यङ्ग्यः। अन्धत्वाप्रकाशत्वयोः सामान्यविशेषभावाभावान्नार्थान्तरसंक्रमितवाच्यत्वम्।

अर्थात् जहाँ पद अपने मुख्यार्थ को सर्वथा छोड़कर किसी दूसरे अर्थ (मुख्यार्थ से सर्वथा असम्बद्ध) को उपस्थित करता है, वहाँ मुख्यार्थ का अत्यन्त तिरस्कार होने से अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य होता है।

यहाँ दर्पण को अन्धा कहा गया है, अन्धा होना चूँकि चेतन का धर्म है, अतः अचेतन वस्तु दर्पण को अन्धा कहना उचित नहीं। 'अन्ध' पद से दृष्टिविहीनता का अर्थ, दर्पण में सर्वथा बाधित होने से प्रकाशरहित अर्थ की उपस्थिति होती है। यहाँ 'अन्ध' पद ने अपने दृष्टिविहीनता रूपी वाच्यार्थ का सर्वथा परित्याग कर प्रकाशराहित्य अर्थ को प्रकट किया है अतः यह अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि है। अप्रकाश/मलिनता की अतिशयता को बताना व्यंग्य है। यहाँ 'अन्ध' पद के दोनों अन्धत्व अप्रकाशत्व रूप अर्थों में सामान्यविशेषभाव का नियम लागू नहीं होगा क्योंकि दोनों अर्थ सर्वथा (चेतनघटित अचेतनघटित होने के कारण) असंबद्ध हैं, चूँकि यहाँ वाच्यार्थ का अर्थान्तर में संक्रमण नहीं होता बल्कि अत्यन्ततिरस्कार होता है अतः यह अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य का उदाहरण है।

अभिधामूलाध्वनि में लक्षणामूलाध्वनि का भ्रम और उसका निवारण

कभी-कभी अभिधामूलाध्वनि में लक्षणामूलाध्वनि का भ्रम होने लगता है, जिसका निराकरण विश्वनाथ 'कविराज' निम्न पंक्तियों में करते हैं–

यथा–

भ्रम धार्मिक! विस्रब्धः स श्वाद्य मारितस्तेन।

गोदानदीकच्छकुञ्जवासिना दृप्तसिंहेन।।

अत्र 'भ्रम धार्मिक–' इत्यतो भ्रमणस्य विधिः प्रकृतेऽनुपयुज्यमानतया भ्रमणनिषेधे पर्यवस्यतीति विपरीतलक्षणाशङ्का न कार्या। यत्र खलु विधिानिषेधावुत्पत्स्यमानावेव निषेधविध्योः पर्यवस्यतस्तत्रैव तदवसरः। यत्र पुनः प्रकरणादिपर्यालोचनेन विधिनिषेधयोर्निषेधविधी अवगम्येते तत्र ध्वनित्वमेव।

प्रस्तुत पद्य में कोई धार्मिक गोदावरी नदी के तट के पास बगीचे में प्रतिदिन पुष्प तोड़ने जाता है, वहीं पर एक कुलटा स्त्री का घर है जहाँ उसका उपपति उससे मिलने के लिए प्रायः जाता रहता है। स्त्री के बगीचे में उसके द्वारा पालित एक कुत्ता है जो पण्डित जी के पहुँचने पर भौंका करता है जिससे पण्डित जी कुछ घबराते भी हैं। स्त्री ने पण्डित जी को कुत्ते से भयभीत होते देखा है। वह विचारती है कि पण्डित जी यहाँ प्रतिदिन आते हैं यदि किसी दिन इन्होंने मेरे उपपति को मेरे साथ देख लिया तो क्षेत्र में मेरी बदनामी हो जायेगी। अतः उसने अपनी बुद्धि का प्रयोग करते हुए कहा कि पण्डित जी! अब आप इस उद्यान में आराम से घूमो, फूल तोड़ो, क्योंकि आपको हमेशा परेशान करने वाला जो (मेरा) कुत्ता था आज उसे इसी गोदावरी के तट पर ही अपना ठिकाना बनाकर रहने वाले खूँखार शेर ने मार डाला।

इस पद्य से 'भ्रम' (घूमो) इस विधि रूप अर्थ से 'मा भ्रम' (मत घूमो) इस निषेध रूप व्यङ्ग्यार्थ की उपस्थिति होती है। पद्य की वाक्ययोजना ऐसी है जिससे आपाततः लक्षणामूलध्वनि की आशंका होने लगती है क्योंकि उस कुलटा स्त्री के लिए 'भ्रम' का धूमना अर्थ सर्वथा अनुपयुक्त है, जिससे 'भ्रम' से 'मा भ्रम' इस निषेधरूप अर्थ की उपस्थिति होती है। अतः यहाँ विपरीतसम्बन्ध से लक्षणा होने का भ्रम सहसा हो रहा है किन्तु विश्वनाथ 'कविराज' कहते हैं कि यहाँ लक्षणा की आशंका नहीं करनी चाहिए क्योंकि लक्षणा का अवसर वहीं होता है जहाँ वाच्यार्थ अनुपपन्न होते ही (अत्यन्त शीघ्र) विधि निषेधरूप अर्थ में और निषेध विधिरूप अर्थ में परिवर्तित होते लगता है यहाँ तो स्थिति अलग है अतः लक्षणा का अवसर ही नहीं है क्योंकि यहाँ का वाच्यार्थ सर्वथा उपपन्न है (न कि शीघ्र बाधित) जब हम वाच्यार्थ बोध के बाद वक्ता आदि के वैशिष्ट्य से प्रकरण की पर्यालोचना करते हैं तब हमारे सामने उस कुलटा स्त्री का धार्मिक के भ्रमण का निषेध करने के लिए कुत्ते का खूँखार शेर द्वारा मारा जाना रूप योजनात्मक कथन का पता चलता है, तब जाकर 'भ्रम' से 'मा भ्रम' रूप व्यङ्ग्यार्थ की उपस्थिति होती है, अतः यहाँ अभिधामूल ध्वनि है। अभिधामूलध्वनि और लक्षणामूलध्वनि में परस्पर भेद सिद्ध करने के लिए विश्वनाथ एक कारिका उद्धृत करते हैं–

तदुक्तम्–

क्वचिद् बाध्यतया ख्यातिः क्वचित् ख्यातस्य बाधनम्।

पूर्वत्र लक्षणैव स्यादुत्तरत्राभिधैव तु।।

कहीं मुख्यार्थ का बाध होने पर ख्याति अर्थात् अन्वयबोध होता है और कहीं अन्वयबोध के बाद ही मुख्यार्थ– बाध होता है, पहली स्थिति में लक्षणामूलध्वनि का प्रसंग है और दूसरी स्थिति में अभिधामूलध्वनि का।

विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि के भेद

जैसा कि आप को पहले बताया जा चुका है कि ध्वनिकाव्य के दो भेद हैं– अविवक्षितवाच्यध्वनि और विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि, इसमे अविवक्षितवाच्यध्वनि का प्रसंग, विषय की अल्पता के कारण पहले ही निरूपित हो चुका है, अब ध्वनिकाव्य के दूसरे भेद विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि का निरूपण होना शेष है, अतः अब विश्वनाथ 'कविराज' के अनुसार ध्वनिकाव्य के इस दूसरे भेद का निरूपण किया जा रहा है–

विवक्षिताभिधेयोऽपि द्विभेदः प्रथमं मतः।

असंलक्ष्यक्रमो यत्र व्यङ्ग्यो लक्ष्यक्रमस्तथा।।4।।

विवक्षितान्यपरवाच्योऽपि ध्वनिरसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यः संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यश्चेति द्विविधः।

अर्थात् प्रथमतः विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि भी दो प्रकार की है– (1) असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य, (2) संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य। इसमें जो पहला भेद असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य है वह यद्यपि रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावशान्ति,भावसन्धि और भावशबलता आदि भेद से अनेक प्रकार का हो जाता है तथापि विश्वनाथ 'कविराज' ने विभावादि कारणों तथा रसादिकार्यों की प्रतीति में पौर्वापर्यरूप क्रम का ज्ञान न होने रूप सादृश्य से उनका असंलक्ष्यक्रम रसादिरूप एक ही प्रकार माना है–

तत्राद्यो रसभावादिरेक एवात्र गण्यते।

एकोऽपि भेदोऽनन्तत्वात् संख्येयस्तस्य नैव यत् ।।5।।

उक्तस्वरूपो भावादिरसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यः। अत्र व्यङ्ग्यप्रतीतेर्विभावादिप्रतीतिकारणत्वात् क्रमोऽवश्यमस्ति किन्तूत्पलपत्त्रशतव्यतिभेदवल्लाघवान्न संलक्ष्यते। एषु रसादिषु एकस्यापि च भेदस्यानन्तत्वात्संख्यातुमशक्यत्वादसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनिर्नाम काव्यमेकभेदमेवोक्तम्। तथाहि– एकस्यैव शृङ्गारस्यैकोऽपि संभोगरूपो भेदः परस्परालिङ्गनाधरपानचुम्बनादिभेदात् प्रत्येकं च विभावादिवैचित्र्यात् संख्यातुमशक्यः, का गणना सर्वेषाम्।

असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य का विषय इतना व्यापक है कि यदि इसका भेद किया जाए तो गणना सम्भव नहीं है, इसलिए विश्वनाथ कहते हैं–

जैसे शृङ्गार रस ही पहले दो प्रकार का है– संभोग और विप्रलम्भ। उसमे संभोगशृंगार भी– परस्पर आलिङ्गन, अधरपान, चुम्बन आदि भेद से अनेक प्रकार का होता है। इन सभी भेदों में कुछ न कुछ विचित्रता तो रहती है अतः इनका पृथक्-पृथक् भेद किया जा सकता है, पर विश्वनाथ 'कविराज' जानते थे कि ऐसे में अनन्तभेदों की कल्पना करनी होगी, इसलिए 'शतपत्रशतपत्रभेदनन्याय' से उन्होंने सबका एक ही भेद माना, जैसे कमल के सौ पत्तों को क्रमिकतया (एक के ऊपर एक) रखकर फिर उसमे सूई से छेद करके उन्हें यहाँ-वहाँ बिखेरने के पश्चात् कोई व्यक्ति जानना चाहे कि किस पत्ते में सूई ने पहले छेद किया है तो वह व्यक्ति नहीं जान सकता, यद्यपि उन पत्तों में पत्रभेदन का क्रम तो है लेकिन शीघ्रतावश उस क्रम को जानना सम्भव नहीं है। ठीक यही सिद्धान्त असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य में भी प्रयुक्त है। इसमें भी विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी रूप कारणों से रसादिरूप कार्य की अभिव्यक्ति होती है, किन्तु इसमें कारण-कार्य के पौर्वापर्य के क्रम का ज्ञान नहीं हो पाने से इसे असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य कहते हैं।

असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि के निरूपण के पश्चात् विश्वनाथ 'कविराज' संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि का निरूपण करते हुए उसके तीन भेद करते हैं–

शब्दार्थोभयशक्त्युत्थे व्यङ्ग्येऽनुस्वानसन्निभे।

ध्वनिर्लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्त्रिविधः कथितो बुधैः।।6।।

क्रमलक्ष्यत्वादेवानुरणनरूपो यो व्यङ्ग्यस्तस्य शब्दशक्त्युद्भवत्वेन, अर्थशक्त्युद्भवेन, शब्दार्थशक्त्युद्भवेन च त्रैविध्यात्संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यनाम्नो ध्वनेः काव्यस्यापि त्रैविध्यम्।

अर्थात् संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि के क्रमशः– शब्दशक्तिमूलध्वनि, अर्थशक्तिमूलध्वनि और उभयशक्त्युत्थमूलध्वनि नामक तीन भेद हैं। असंलक्ष्यक्रम का व्यंग्यार्थ जहाँ रसादिरूप रहता है, तो वहीं संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि में व्यंग्यार्थ वस्तुरूप और अलङ्काररूप रहता है। संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि के प्रथम भेद शब्दशक्तिमूलध्वनि को विश्वनाथ ने दो प्रकार का बताया है– (1) शब्दशक्त्युद्भववस्तुध्वनि, (2) शब्दशक्त्युद्भव अलङ्कारध्वनि।

तत्र–

वस्त्वलङ्काररूपत्वाच्छब्दशक्त्युद्भवो द्विधा।

अलङ्कारशब्दस्य पृथगुपादानादनलङ्कारं वस्तुमात्रं गृह्यते।

शब्दशक्त्युद्भववस्तुध्वनि –

तत्र वस्तुरूपः शब्दशक्त्युद्भवो व्यङ्ग्यो यथा–

पथिक! नात्र स्रस्तरमस्ति मनाक् प्रस्तरस्थले ग्रामे।

उन्नतपयोधरं वीक्ष्य यदि वससि तद्वस।।

अत्र सत्थरादिशब्दशक्त्या यद्युपभोगक्षमोऽसि तदास्स्वेति वस्तु व्यज्यते।

प्रस्तुत पद्य में 'उन्नतपयोधर' पद में व्यञ्जना है उन्नतपयोधर का अर्थ उमड़ता हुआ मेघ और उभरा हुआ कुचमण्डल दोनों हो सकते हैं, इसके दूसरे अर्थ की प्रतीति से नायिका का पथिक के प्रति आमन्त्रण व्यक्त होता है कि यदि तुम मेरे इस यौवन का उपभोग करने में समर्थ हो तो यहाँ रहो। इस कथन में कोई अलंकार नहीं है केवल यौवनोपयोग हेतु आमन्त्रणरूपवस्तु व्यञ्जित हो रही है। चूँकि यह वस्तु 'उन्नतपयोधर' शब्द की शक्ति से व्यक्त हो रही है, अतः यह शब्दशक्त्युत्थवस्तुध्वनि का उदाहरण है।

शब्दशक्त्युद्भव अलङ्कारध्वनि –

अलङ्काररूपो यथा–

दुर्गालङ्घितविग्रहः मनसिजं संमीलयंस्तेजसा

प्रोद्यद्राजकलो गृहीतगरिमा विष्वग्वृतो भोगिभिः।

नक्षत्रेशकृतेक्षणो गिरिगुरौ गाढां रुचिं धारयन्

गामाक्रम्य विभूतिभूषिततनू राजत्युमावल्लभः।।

इत्यादौ।

अत्र प्राकरणिकस्य उमानाममहादेवी-वल्लभ-भानुदेवनाम-नृपतेर्वर्णने द्वितीयार्थसूचितमप्राकरणिकस्य पार्वतीवल्लभस्य वर्णनमसम्बद्धं मा प्रसाङ्क्षीदिति ईश्वरभानुदेवयोरुपमानोपमेयभावः कल्प्यते तदत्र उमावल्लभ उमावल्लभ इवेत्युपमालङ्कारो व्यङ्ग्यः।

उक्त पद्य का प्राकरणिक अर्थ उमा नामक महारानी के पति भानुदेव नामक राजा का वर्णन है किन्तु वाक्य में 'उभावल्लभ' पद उमा-नामक रानी के पति (अर्थात् भानुदेव राजा) का बोध कराने के साथ उमा अर्थात्

पार्वती के वल्लभ भगवान् शिव का भी बोध करता है। इसके बाद श्लोक के अन्य पद भी जो उमावल्लभ (भानुदेव राजा) के विशेषण हैं वे भी शिव के पक्ष में संगत हो जाते हैं किन्तु शिवपरक अर्थ यहाँ प्राकरणिक नहीं है किन्तु इन दोनों अर्थों में चमत्कार है। अतः इन दोनों अर्थों की प्रासङ्गिकता समाप्त न हो जाए इसलिए दोनों में उपमानोपमेय भाव की कल्पना करके– 'उमावल्लभ उमावल्लभ इव' रूप में उपमा अलङ्कार व्यङ्ग्य मानेंगे। अतः इस पद्य में उपमा अलङ्कार व्यङ्ग्य है।

विश्वनाथ 'कविराज' इसका एक और उदाहरण 'यथा वा' कहते हुए प्रस्तुत करते हैं–

अमितः समितः प्राप्तैरुत्कर्षैर्हर्षद प्रभो!।

अहितः सहितः साधुयशोभिरसतामसि।।

अत्रामितः इत्यादावपिशब्दाभावाद् विरोधाभासो व्यङ्ग्यः। व्यङ्ग्यस्यालङ्कार्यत्वेऽपि ब्राह्मणश्रमणन्यायादलङ्कारत्वमुपचर्यते।

इस पद्य में 'अमितः' 'समितः' तथा 'अहितः' 'सहितः' शब्दों में विरोध व्यक्त होता है, क्योंकि जो 'अमित' है वह 'समित' कैसे? जो 'अहित' है वह 'सहित' कैसे? अतः यहाँ विरोधाभास अलङ्कार ध्वनि है। ध्वनि इसलिए क्योंकि यहाँ विरोध का वाचक 'अपि' शब्द का प्रयोग नहीं है। यदि यहाँ 'अमितोऽपि समितः', और 'अहितोऽपि सहितः' जैसा प्रयोग होता तब तो यह विरोध वाच्य हो जाता, किन्तु 'अपि' शब्द का प्रयोग न होने से विरोध वाच्य नहीं व्यंग्य है अतः यहाँ विरोधाभासालंकार ध्वनि है।

वस्तुतः जब अलंकार शब्दार्थ रूप शरीर में रहकर प्रधान रसरूप अर्थ को उपकृत करता है तब उसे अलंकार कहा जाता है, किन्तु यहाँ तो अलंकार ध्वनिरूप है अतः यहाँ वह अलङ्कार्य है न कि अलंकार। इस विषय को विश्वनाथ स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि यद्यपि वाच्य दशा में ही उपमादि, अलंकार पद वाच्य हैं न कि व्यंग्य दशा में किन्तु यहाँ 'ब्राह्मणश्रमणन्याय' से अलंकार्यरूप में स्थित उपमादि को अलंकार कहा जा सकता है। जैसे किसी बौद्धभिक्षु को ब्राह्मण इसलिए कह दिया जाता है क्योंकि वह बौद्ध सम्प्रदाय में दीक्षा लेने से पहले ब्राह्मण था, इसी प्रकार उपमादि, ध्वनि अर्थात् अलंकार्य रूप में होने के पहले शब्दार्थरूप शरीर में रहने के कारण अलंकार रूप से जाने जा चुके हैं अतः बाद में उनके ही ध्वनिदशा में प्राप्त हो जाने से उन्हें अलंकार पद से संबोधित किया जा सकता है।

अर्थशक्त्युद्भवध्वनि –

संलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि के शब्दशक्त्युत्थध्वनि नामक भेद का निरूपण करने के बाद विश्वनाथ 'कविराज' इसके दूसरे भेद– अर्थशक्त्युत्थध्वनि का निरूपण करते हैं–

वस्तु वालङ्कृतिर्वापि द्विधार्थः सम्भवी स्वतः।।7।।

कवेः प्रौढोक्तिसिद्धो वा तन्निबद्धस्य वेति षट्।

षड्भिस्तैर्व्यज्यमानस्तु वस्त्वलङ्काररूपकः।।8।।

अर्थशक्त्युद्भवो व्यङ्ग्यो याति द्वादशभेदताम्।

स्वतःसम्भवी औचित्याद् बहिरपि सम्भाव्यमानः। प्रौढोक्त्या सिद्धः, न त्वौचित्येन।

अर्थशक्त्युद्भव नामक संलक्ष्यक्रमध्वनि के बारह प्रकार हैं। इस भेद में जो अर्थ व्यञ्जना से व्यक्त होता है वह दो रूप में पाया जाता है– वस्तुरूप और अलङ्काररूप। यह अर्थ भी आधार की दृष्टि से तीन

प्रकार का होता है– (1) स्वतःसम्भवी, (2) कविप्रौढोक्तिसिद्ध, (3) कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध। जो अर्थ लोक मर्यादा में सम्भव है वह स्वतः सम्भवी अर्थ कहताला है। जो अर्थ लोक सीमा में न घटे बल्कि कवि उसे अपनी प्रतिभा के बल पर काव्य में सिद्ध कर दे उसे कविप्रौढोक्तिसिद्ध अर्थ कहा जाता है। कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध अर्थ वह होता है जिसे कवि स्वयं सिद्ध न करके अपने काव्य में वर्णित नायक आदि की प्रतिभा के बल से सिद्ध करवाता है, अर्थात् जिस कथन को कवि स्वयं सिद्ध न करके अपने काव्य में निबद्ध नायक आदि की प्रतिभा से सिद्ध करता है। अतः स्वतः संभवी, कविप्रौढोक्तिसिद्ध और कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध भेद से प्रथमतः अर्थ के तीन भेद होते हैं, इन तीनों भेदों में वस्तुध्वनि तथा अलङ्कारध्वनि दो भेद होकर 3×2 = 6 भेद हो जाते हैं। ये 6 भेद व्यङ्ग्य और व्यंजक, दोनों में होने से द्विगुण होकर 6×2 = 12 भेद बन जाते हैं, जैसे कि–

1) स्वतःसंभवी में

1) वस्तु से वस्तु व्यङ्ग्य
2) वस्तु से अलङ्कार व्यङ्ग्य
3) अलङ्कार से वस्तु व्यङ्ग्य
4) अलङ्कार से अलङ्कार व्यङ्ग्य

2) कविप्रौढोक्तिसिद्ध में

1) वस्तु से वस्तु व्यङ्ग्य
2) वस्तु से अलङ्कार व्यङ्ग्य
3) अलङ्कार से वस्तु व्यङ्ग्य
4) अलङ्कार से अलङ्कार व्यङ्ग्य

3) कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध में

1) वस्तु से वस्तु व्यङ्ग्य
2) वस्तु से अलङ्कार व्यङ्ग्य
3) अलङ्कार से वस्तु व्यङ्ग्य
4) अलङ्कार से अलङ्कार व्यङ्ग्य

1) स्वतः संभवी वस्तु से वस्तुध्वनि

तत्र क्रमेण यथा–

दृष्टिं हे प्रतिवेशिनि! क्षणमिहाप्यस्मद्गृहे दास्यसि
प्रायेणास्य शिशोः पिता न विरसाः कौपीरपः पास्यसि।
एकाकिन्यपि यामि सत्वरमितः स्रोतस्तमालाकुलं
नीरन्ध्रास्तनुमालिखन्तु जरठच्छेदा नलग्रन्थयः।।

अत्र स्वतः सम्भविना वस्तुना तत् प्रतिपादिकाया भाविपरपुरुषोपभोगजनखक्षतादिगोपनरूपं वस्तुमात्रं व्यज्यते।

प्रस्तुत पद्य में किसी कुलटा स्त्री का वर्णन है, जो सायंकाल हाथ में घड़ा लेकर अपने प्रेमी से मिलने जा रही है। उसे जाते हुए जब उसकी पड़ोसन देख लेती है तब वह बहाना करके कहती है कि हे सखि! मेरे घर का थोड़ा ध्यान रखना कहीं कुत्ता बिल्ली न आ जाएँ, क्योंकि मेरे पुत्र के पिता अर्थात् मेरे पति को कुँए का पानी अच्छा नहीं लगता, (पति को प्रत्येक स्थिति में पत्नी को प्रसन्न रखना चाहिए, इस कारण) मैं पानी लेने के लिए अकेले ही जा रही हूँ (अकेले जाना मजबूरी है, क्योंकि मेरे साथ इस समय

सन्ध्या काल होने के कारण कोई जाने के लिए तैयार नहीं है) वह स्थान तमाल वृक्षों से घिरा हुआ है, और नुकीले तृण भी हैं जो शरीर में लगने पर घाव कर देते हैं।

यहाँ का जो वाच्यार्थ है वह प्रेमी के संग मिलन परक है, लोक में प्रिय मिलन के लिए लोग इसी तरह बहाने बनाने वाले कथन को किया करते हैं– यह देखा जाता है, अतः यह अर्थ स्वतःसम्भवी है। इस अर्थ में अलंकार नहीं है अतः यह वस्तुरूप अर्थ है। इस स्वतःसम्भवी वस्तुरूप अर्थ से नायिका के द्वारा भावी संभोगादि कृत्य में उत्पन्न होने वाले नख-क्षतादि चिह्न को गोपित किया जाना रूप व्यंग्यार्थ अभिव्यक्त हो रहा है अर्थात् कुलटा स्त्री के नख-क्षतादि चिह्न को देखकर उसकी पड़ोसन संभोग चिह्न न समझ ले, इसलिए वह पहले ही बता दे रही है कि हो सकता है पानी लाने में मुझे कुछ चोट भी लग जाए। इसलिए कुलटा स्त्री के भावी नखक्षतादि चिह्न का गोपन यहाँ व्यंग्य है। यह व्यंग्य भी वस्तुरूप है। अतः यह पद्य स्वतः सम्भवी वस्तु से वस्तु ध्वनि का उदाहरण है।

2) स्वतःसम्भवी वस्तु से अलङ्कारध्वनि –

दिशि मन्दायते तेजो दक्षिणस्यां रवेरपि।

तस्यामेव रघोः पाड्याः प्रतापं न विषेहिरे।।

अत्र स्वतः सम्भविना वस्तुना रवितेजसो रघुप्रतापोऽधिक इति व्यतिरेकालङ्कारो व्यज्यते।

यहाँ पर स्वतःसम्भवी सूर्य के तेज परक वस्तु से रघु के तेज के आधिक्य रूप व्यंग्यार्थ निकल रहा है अतः व्यतिरेक अलंकार है। यह अलंकार उपमान से उपमेय के आधिक्य कथन पर होता है– **आधिक्यमुपमेयस्योपमानान्न्यूनताऽथवा**। यहाँ सूर्य का प्रताप उपमान है रघु का प्रताप उपमेय, किन्तु सूर्य प्रताप रूप उपमान से रघुप्रताप रूप उपमेय का आधिक्य होने से उपमेय अलंकार व्यंग्य रूप से व्यक्त होता है। यहाँ व्यतिरेकालङ्कार ध्वनि है जिसका व्यञ्जक वाच्यार्थ स्वतःसम्भवी है, क्योंकि दक्षिण दिशा में सूर्य के तेज की मृदुता लोकप्रसिद्ध है।

3) स्वतःसम्भवी अलङ्कार से वस्तु ध्वनि–

आपतन्तममुं दूरादूरीकृतपराक्रमः।

बलोऽवलोकयामास मातङ्गमिव केसरी।।

अत्रोपमालङ्कारेण स्वतः सम्भविना व्यञ्जकार्थेन बलदेवः क्षणेनैव वेणुदारिणः क्षयं करिष्यतीति वस्तु व्यज्यते।

यहाँ बलराम सिंह की तरह हैं तथा वेणुदारी हाथी की तरह है, इस उपमालंकाररूप स्वतःसम्भवी वाच्यार्थ बोध के बाद बलराम शीघ्र ही वेणुदारी का वध कर देंगे– इस वस्तु रूप ध्वनि की प्रतीति होती है।

4) स्वतःसम्भवी अलङ्कार से अलङ्कार ध्वनि–

गाढकान्तदशनक्षतव्यथासङ्कटादरिवधूजनस्य यः।

ओष्ठविद्रुमदलान्यमोचयन्निर्दशन् युधि रुषा निजाधरम्।।

अत्र स्वतः सम्भविना विरोधालङ्कारेण निर्दष्टः शत्रवो व्यापादिताश्चेति समुच्चयालङ्कारो व्यङ्ग्यः।

प्रस्तुत पद्य में किसी वीर राजा के शौर्य का वर्णन है कि– जो राजा युद्ध में क्रोध से अपने होठों को दबाने मात्र से ही शत्रुओं की पत्नियों को उसके स्वामी के बलपूर्वक दाँत से होठों के काटने रूपी संकट से बचा लेता है। अर्थात् राजा ने जैसे ही क्रोध से शत्रुओं को देखते हुए अपना ओंठ दबाया, इतने में ही शत्रुओं का संहार हो गया। अर्थात् शत्रुओं की स्त्रियों को अपने स्वामी द्वारा जोर से ओंठ काटने रूपी पीड़ा से मुक्ति मिल गई। यहाँ जैसे ही राजा ओंठ दबाता है वैसे ही शत्रुओं का नाश होता है– रूप दो कार्यों की एक साथ प्रतीति हो रही है, अतः समुच्चयालंकार ध्वनि है। यह समुच्चयालंकार, विरोधाभास रूप वाच्यार्थ जो स्वतःसम्भवी है– के बोध होने के बाद व्यक्त होता है। अर्थात् यहाँ का वाच्यार्थ जो– राजा के स्वयं के अधर दशन से पर-स्त्रियों के अधर दशन कष्ट निवारण– रूप है– दोनों में आपाततः विरोध प्रतीत होता है। अतः यह स्वतःसम्भवी अलङ्कार से अलङ्कार ध्वनि का उदाहरण है।

5) कविप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तु से वस्तु ध्वनि –

सज्जयति सुरभिमासो न चार्पयति युवतिजनलक्ष्यसहान्।

अभिनवसहकारमुखान् नव पल्लवान् अनङ्गस्य शरान्।।

अत्र वसन्तः शरकारः, कामो धन्वी, युवतयो लक्ष्यम्, पुष्पाणि शरा इति कविप्रौढोक्तिसिद्धं वस्तु प्रकाशीभवद् मदनविजृम्भणरूपं वस्तु व्यनक्ति।

यहाँ पर वसन्त को शरकार अर्थात् बाण बनाने वाला, कामदेव को धनुष चलाने वाला, युवतियों को (बाण का) लक्ष्य तथा पुष्पों को बाण के रूप में वर्णन स्वतःसम्भवी अर्थात् लोक अनुभव में सिद्ध नहीं है, इस अर्थ को कवि ने अपनी कल्पना शक्ति से सिद्ध किया है, अतः उक्त कथन कविप्रौढोक्तिसिद्ध है, इस कथन में अलंकार स्पष्ट नहीं है अतः वस्तुपरक वर्णन है। इस कविप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तु से यह ध्वनि निकलती है कि लोक में काम भाव का आविष्कार प्रारम्भ हो गया है।

6) कविप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तु से अलङ्कार ध्वनि–

रजनीषु विमलभानोः करजालेन प्रकाशितं वीर!।

धवलयति भुवनमण्डलमखिलं तव कीर्तिसंततिः सततम्।।

अत्र कविप्रौढोक्तिसिद्धेन वस्तुना कीर्तिसन्ततेश्चन्द्रकरजालादधिककालप्रकाशकत्वेन व्यतिरेकालङ्कारो व्यङ्ग्यः।

यहाँ जो वाच्यार्थ है वह स्वतः सम्भवी नहीं है, क्योंकि कीर्ति की शुभ्रता लोक अनुभव में नहीं आती, बल्कि कवि ने उसे अपनी प्रतिभा से सिद्ध किया है, अतः यह कविप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तुपरक अर्थ है। इस कविप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तु से व्यतिरेक अलङ्कार व्यक्त होता है। चन्द्रमा का प्रकाश जो केवल रात्रि में ही रह सकता है वह उपमान है, वीर की कीर्ति की शुभ्रता उपमेय है। किन्तु चन्द्र का उज्ज्वलता से कीर्ति की उज्ज्वलता का आधिक्य होने से व्यतिरेक अलङ्कार ध्वनि के रूप में व्यक्त होता है।

7) कविप्रौढोक्तिसिद्ध अलङ्कार से वस्तु ध्वनि –

दशाननकिरीटेभ्यस्तत्क्षणं राक्षसश्रियः।

मणिव्याजेन पर्यस्ताः पृथिव्यामश्रुबिन्दवः।।

अत्र कविप्रौढोक्तिसिद्धेनापह्नुत्यलङ्कारेण भविष्यद्राक्षसश्रीविनाशरूपं वस्तु व्यज्यते।

इस पद्य का वाच्यार्थ कविप्रौढोक्तिसिद्ध है क्योंकि राजलक्ष्मी के अश्रु का होना लोकानुभव सिद्ध नहीं है वह केवल कविप्रतिभाप्रसूत है। यहाँ अपह्नुति अलंकार है, क्योंकि इस पद्य में प्रकृत मणियों के निषेध से अश्रुकणिकाओं की स्थापना है। इसके बाद यहाँ वस्तुरूप ध्वनि निकलती है कि भविष्य में राक्षसों का विनाश होने वाला है।

8) कविप्रौढोक्तिसिद्ध अलङ्कार से अलङ्कारध्वनि –

धम्मिल्ले नवमल्लिकासमुदयो हस्ते सिताम्भोरुहं

हारः कण्ठतटे पयोधरयुगे श्रीखण्डलेपो घनः।

एकोऽपि त्रिकलिङ्गभूमितिलक! त्वत्कीर्तिराशिर्ययौ

नानामण्डनतां पुरन्दरपुरीवामभ्रूवां विग्रहे।।

अत्र कविप्रौढोक्तिसिद्धेन रूपकालङ्कारेण भूमिष्ठोऽपि स्वर्गस्थानामुपकारं करोषीति विभावनालङ्कारो व्यज्यते।

प्रस्तुत पद्य में ध्वनि निकल रही है कि भूलोक पर रहते हुए भी तैलङ्गाधिप स्वर्गलोक के लिए भी उपकारक हो रहे हैं, अतः यहाँ पर कारण के बिना ही कार्योत्पत्ति होने से विभावना अलङ्कार ध्वनि है। यह विभावनालङ्कारध्वनि अपने व्यञ्जक कविप्रौढोक्तिसिद्ध रूपकालङ्कार रूप वाच्यार्थ के बल पर निकल रही है क्योंकि कवि ने कीर्ति का सुरसुन्दरियों के केशपाश, हस्त, कण्ठ, पयोधरयुगल में पहनने वाले उन-उन आभूषणों का तादात्म्यारोप किया है। अतः यह पद्य कविप्रौढोक्तिसिद्ध अलङ्कार से अलङ्कारध्वनि का निदर्शन है।

9) कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धवस्तु से वस्तुध्वनि –

शिखरिणि क्व नु नाम कियच्चिरं किमभिधानमसावकरोत्तपः।

सुमुखि ! येन तवाधरपाटलं दशति बिम्बफलं शुकशावकः।।

अत्रानेन कविनिबद्धस्य कस्यचित् कामिनः प्रौढोक्तिसिद्धेन वस्तुना तवाधरः पुण्यातिशयलभ्य इति वस्तु प्रतीयते।

यहाँ का व्यंग्यार्थ यह है कि तुम्हारे अधर का पान बड़े पुण्यों/सौभाग्यों से प्राप्त होने योग्य है। इस व्यंग्यार्थ में अलङ्कार की स्थिति नहीं है अतः यह वस्तुध्वनि है। यह वस्तुध्वनि अपने वस्तुरूप वाच्यार्थ जो कि कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्ति से सिद्ध है से निकलता है क्योंकि इस कथन का वक्ता कवि न होकर कविनिबद्ध कोई प्रेमी है, अतः उस प्रेमी की प्रौढिमत्ता से वस्तुपरक अर्थ निकल रहा है। अतः यह पद्य कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धवस्तु से वस्तुध्वनि का उदाहरण है।

10) कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धवस्तु से अलङ्कारध्वनि –

सुभगे! कोटिसंख्यत्वमुपेत्य मदनाशुगैः।

वसन्ते पञ्चता त्यक्ता पञ्चतासीद्वियोगिनाम्।।

अत्र कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धेन कामशराणां कोटिसंख्यत्वप्राप्त्या निखिलवियोगिमरणेन वस्तुना शराणां पञ्चता शरान् विमुच्य वियोगिनः श्रितेवेत्युत्प्रेक्षालङ्कारो व्यज्यते।

यहाँ ध्वनि के रूप में यह अर्थ निकल रहा है कि मानो कामदेव की पञ्चता उसे छोड़कर वियोगिनियों को (मृत्यु का) आश्रय बना चुकी है, यहाँ कामदेव की पञ्चता की सम्भावना वियोगिनियों में होने से उत्प्रेक्षालङ्कारध्वनि है। इस अलङ्कारध्वनि का उपस्थापक जो वाच्यार्थ है वह कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धवस्तु है क्योंकि यहाँ कविनिबद्धवक्ता अपनी प्रौढिमा से काम के कोटि–कोटि बाणों का साक्षात्कार कर रहा है ।

11) कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध अलङ्कार से वस्तुध्वनि–

मल्लिकामुकुले चण्डि! भाति गुञ्जन् मधुव्रतः।

प्रयाणे पञ्चबाणस्य शङ्खमापूरयन्निव।।

अत्र कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धेनोत्प्रेक्षालङ्कारेण कामस्यायमुन्मादकः कालः प्राप्तस्तत्कथं मानिनि मानं न मुञ्चसीति वस्तु व्यज्यते।

प्रस्तुत पद्य में यह वस्तुध्वनि निकल रही है कि हे प्रियतमे! तुम तो अब अपना गुस्सा समाप्त करो, अब तो काम से उन्मत्त समय आ गया है अतः तुम्हें मुझसे प्रेम करना चाहिए– यह वस्तुध्वनि कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध अलङ्कार रूप वाच्यार्थ से निकल रही है। यहाँ भौंरे के नवमल्लिका पुष्प की कली पर बैठ कर गुँजन करने रूप कार्य में कवि ने कामदेव के शङ्ख की विजयध्वनि की उत्प्रेक्षा की है, अर्थात् भौंरे के गुँजन में शङ्ख की ध्वनि की कल्पना, तथा मल्लिका की कली में (आकारदृष्ट्या) शङ्ख की कल्पना होने से उत्प्रेक्षालङ्कार है, जो वाच्यार्थ है। यह वाच्यार्थ– मल्लिका-कली में शङ्ख को देखना और भौंरे के गुँजन में शङ्ख ध्वनि को देखना– लोक में प्रसिद्ध नहीं है, अतः यह कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध अलङ्काररूप है।

12) कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध अलङ्कार से अलङ्कारध्वनि –

महिलासहस्रभरिते तव हृदये सुभग! सा अमान्ती।

अनुदिनमनन्यकर्मा अङ्गं तन्वपि तनूकरोति।।

अत्रामान्तीति कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धेन काव्यलिङ्गालङ्कारेण तनोस्तनूकरणेऽपि तव हृदये न वर्तत इति विशेषोक्त्यलङ्कारो व्यज्यते।

इस पद्य में यह ध्वनि निकल रही है कि चाहे वह नायिका अपने शरीर को कितना भी दुर्बल क्यों न बना ले किन्तु वह तुम्हारे हृदय में स्थान नहीं बना सकती– यह अर्थ अलङ्कारमय है, क्योंकि यहाँ शरीर का दुर्बल होने रूप कारण की सत्ता होने पर भी नायक के हृदय में स्थान न बनाने रूप कार्य की प्रतीति हो रही है अतः विशेषोक्ति अलङ्कारध्वनि है। इस पद्य का वाच्यार्थ भी अलङ्काररूप है। यहाँ के वाच्यार्थ में काव्यलिङ्ग अलङ्कार है क्योंकि हृदय में प्रवेश नहीं करने का कारण नायक के हृदय का सहस्रों नायिकाओं से भरा होना है। नायक के हृदय का सहस्रों नायिकाओं से भरा होना, और उसमें प्रवेश करने के लिए अपने शरीर को दुर्बल करना रूप वर्णन कविप्रतिभाप्रसूत है न कि लोक के अनुभव सिद्ध। अतः यह पद्य कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध अलङ्कार से अलङ्कारध्वनि का उदाहरण है।

कविप्रौढोक्तिसिद्ध और कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध व्यञ्जक अर्थ का स्वरूप निर्धारण

आप देख सकते हैं कि अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि में व्यञ्जक अर्थ तीन प्रकार के हैं– स्वतःसम्भवी, कविप्रौढोक्तिसिद्ध और कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध। स्वतःसम्भवी भेद किसी व्याख्या की अपेक्षा नहीं करता क्योंकि जो अर्थ लोक के अनुभव में सिद्ध है वह स्वतःसम्भवी होता है। किन्तु कविप्रौढोक्तिसिद्ध तथा कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध में कुछ विशेषता देखने को नहीं मिलती क्योंकि दोनों में कवि प्रतिभा ही मुख्य है अतः दो भेद न करके एक भेद मानना ही उचित है,– ऐसी आंशका मन में होती है, इसलिए विश्वनाथ 'कविराज' उक्त आशङ्का को मन में रखकर वृत्ति के माध्यम से समाधान प्रस्तुत करते हैं–

'न खलु कवेः कविनिबद्धस्येव रागाद्याविष्टता अतः कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिः कविप्रौढोक्तेरधिकं सहृदयचमत्कारकारिणीति पृथक्प्रतिपादिता'।

अर्थात् कभी-कभी कविप्रौढोक्ति की अपेक्षा कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्ति सहृदयों को चमत्कृत करती है, क्योंकि प्रतिपादन की दृष्टि से नायक-नायिकादि पात्रों के प्रति जो रागादि होता है वह कवि से अधिक उसके द्वारा निबद्ध नायकादि–वक्ता में अधिक होता है। अतः रागादि हेतु से दोनों भेदों में अन्तर है।

(अलङ्कार–ध्वनि का रहस्य – अलङ्करण न कि अलंकृत वस्तु)

एषु चालङ्कृतिव्यञ्जनस्थले रूपणोत्प्रेक्षणव्यतिरेचनादिमात्रस्य प्राधान्यं सहृदयसंवेद्यम्, न तु रूप्यादीनामित्यलङ्कृतेरेव मुख्यत्वम्।

ऊपर जो अलङ्कार व्यंग्य के रूप में आपने पढ़ा है उसके सम्बन्ध में यह जान लेना आवश्यक है कि जहाँ भी रूपक, उत्प्रेक्षा, व्यतिरेक आदि अलङ्कार व्यंग्य के रूप में आए हैं वहाँ सहृदयों का यही अनुभव है कि वहाँ रूपण, उत्प्रेक्षण, व्यतिरेचन आदि अलङ्करणरूप कवि व्यापार मुख्य है न कि रूप्य, उत्प्रेक्ष्य, व्यतिरेच्य आदि स्वभाव वाला अलङ्कृत अर्थ इसलिए अलङ्कार ध्वनि में जो प्रधानतया व्यंग्य तत्त्व है वह अलङ्करणीय वस्तु नहीं अपितु 'अलङ्कृति' अथवा 'अलङ्करण' है। इसी कारण अलङ्कार को वस्तु से पृथक् तत्त्व माना गया है, अन्यथा वस्तु ध्वनि और अलङ्कारध्वनि दोनों एक ही तत्त्व होते।

उभयशक्त्युत्थध्वनि

इस प्रकार संलक्ष्यक्रमव्यंग्य के शब्दशक्त्युत्थध्वनि और अर्थशक्त्युत्थ ध्वनि के बारह भेदों का निरूपण करने के बाद विश्वनाथ 'कविराज' क्रमप्राप्त उभयशक्त्युत्थध्वनि निरूपण करते हैं–

एकः शब्दार्थशक्त्युत्थे'–

उभयशक्त्युद्भवे व्यङ्ग्ये एको ध्वनेर्भेदः।

यथा–

हिममुक्तचन्द्ररुचिरः सपद्मको मदयन् द्विजाञ्जनितमीनकेतनः।

अभवत्प्रसादितसुरो महोत्सवः प्रमदाजनस्य स चिराय माधवः।।

अत्र माधवः कृष्णो माधवो वसन्त इवेत्युपमालङ्कारो व्यङ्ग्यः।

अर्थात् शब्दार्थशक्त्युत्थ (उभयशक्त्युत्थ) एक ही प्रकार का होता है। जहाँ शब्द और अर्थ दोनों की समान व्यञ्जकता से व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है वहाँ शब्दार्थशक्त्युत्थध्वनि होती है।

प्रस्तुत पद्य में भगवान् श्रीकृष्ण का वर्णन है किन्तु उक्त श्लोक में अनेक ऐसे शब्द हैं जो अपने सामर्थ्य से दो-दो अर्थ दे रहे हैं। जैसे माधव पद श्रीकृष्ण और वसन्त का समानरूप से वाचक है। प्रमदाजनस्य शब्द में अर्थशक्ति है क्योंकि यह श्लिष्ट पद नहीं है– इसका एक ही अर्थ होता है– स्त्रीसमूह। इस प्रकार शब्द और अर्थ दोनों की शक्तियों से दूसरे अर्थ अर्थात् वसन्तपरक अर्थ की भी उपस्थिति हो रही है। जिससे अर्थ निकल रहा है कि 'माधव अर्थात् भगवान् श्रीकृष्ण माधव अर्थात् वसन्त की तरह विराजमान रहे'। अतः इस पद्य में शब्द और अर्थ की समान शक्ति के द्वारा उपमालङ्कार व्यंग्य हो रहा है।

व्यङ्ग्यार्थ विश्लेषण में काव्यप्रकार का विश्लेषण–

एवं च व्यङ्ग्यभेदादेव व्यञ्जकानां काव्यानां भेदः।

तदष्टादशधा ध्वनिः।।9।।

अविवक्षितवाच्योऽर्थान्तरसंक्रमितवाच्योऽत्यन्ततिरस्कृतवाच्यश्चेति द्विविधः। विवक्षितान्यपरवाच्यस्तु असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यत्वेनैकः। संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यत्वेन च शब्दार्थोभयशक्तिमूलतया पञ्चदशेत्यष्टादशभेदो ध्वनिः।

अर्थात् व्यंग्यार्थ के भेद से उसके व्यञ्जक काव्यों का भी भेद होता है– यह दिखलाया गया। इस तरह यदि आप यहाँ तक पढ़े हुए ध्वनि भेदों की गणना करें तो वह अट्ठारह (18) प्रकार का हो जाता है।

आप ध्वनि के अब तक पढ़े गये अट्ठारह भेदों को निम्न तालिका के माध्यम से भी समझ सकते हैं–

अविवक्षितवाच्यध्वनि के	
(अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि नामक) भेद	= 2
विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि के असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि का भेद	= 1
(विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि के ही) संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि में	
शब्दशक्त्युत्थध्वनि के भेद	= 2
अर्थशक्त्युत्थध्वनि के भेद	= 12
शब्दार्थोभयशक्त्युत्थ का भेद	= 1
————————————————	
ध्वनि के कुल भेद	= 18

उपर्युक्त ध्वनि-भेदों के 'पदगत' तथा 'वाक्यगत' भेद

अभी तक आपने जितने भी ध्वनि के प्रकारों को पढ़ा उसमें उभयशक्त्युत्थध्वनि को छोड़कर बाकी जो शब्दशक्त्युत्थध्वनि के भेद और अर्थशक्त्युत्थध्वनि के भेद हैं इसके साथ ही अविवक्षितवाच्यध्वनि अर्थात् लक्षणामूलध्वनि के जो अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि नामक भेद हैं, वे वाक्य के साथ ही साथ पद में भी होते हैं। उभयशक्त्युत्थध्वनि के केवल वाक्य में ही होने का रहस्य यह है कि उभयशक्त्युत्थध्वनि शब्द और अर्थ के समान रूप से व्यञ्जक होने की स्थिति में ही होता है, इसमें एक साथ जिस संख्या में शब्द व्यञ्जक होते हैं उसी संख्या में अर्थ भी व्यञ्जक होते हैं, इसलिए इसकी

स्थिति केवल वाक्य में ही हो सकती है। शब्दशक्त्युत्थध्वनि और अर्थशक्त्युत्थध्वनि की स्थिति वाक्य के साथ पद में भी हो सकती है इसीलिए विश्वनाथ कहते हैं–

एषु च–

वाक्ये शब्दार्थशक्त्युत्थस्तदन्ये पदवाक्ययोः।

इसमें शब्दशक्त्युत्थध्वनि और अर्थशक्त्युत्थध्वनि के भेदों के जो उदाहरण आपने पढ़े हैं वे वाक्य के उदाहरण थे क्योंकि वहाँ वाक्य में आए हुए (वाक्यघटित) एक साथ अनेक शब्दों (शब्दशक्त्युत्थध्वनि के परिप्रेक्ष्य में) तथा अनेक अर्थों (अर्थशक्त्युत्थध्वनि के परिप्रेक्ष्य में) की व्यञ्जकता थी अतः वे समस्त उदाहरण वाक्यगत भेद के अन्तर्गत समाविष्ट हैं। अब क्रमशः लक्षणामूलाध्वनि के अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि तथा अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि एवं अभिधामूलाध्वनि के अन्तर्गत संलक्ष्यक्रमध्वनि के– शब्दशक्त्युत्थध्वनि और अर्थशक्त्युत्थध्वनि के पदगत भेदों को समझना है। अतः सर्वप्रथम अविवक्षितवाच्यध्वनि के प्रथम भेद अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि का पदगत होने का उदाहरण दिया जा रहा है–

तत्रार्थान्तरसंक्रमितवाच्यो ध्वनिः पदगतो यथा–

धन्यः स एव तरुणो नयने तस्यैव नयने च।

युवजनमोहनविद्या भवितेयं यस्य सम्मुखे सुमुखी।।

अत्र द्वितीयनयनशब्दो भाग्यवत्तादिगुणविशिष्टनयनपरः।

प्रस्तुत उदाहरण में जो द्वितीय नयन पद है वह भाग्यादिविशिष्ट नयन रूप अर्थ का वाचक है। चूँकि द्वितीय नयन ने अपने मुख्यार्थ नेत्र का परित्याग करके भाग्यादिगुणविशिष्ट अर्थान्तर में संक्रमित हुआ है तथा इस पद्य में एकमात्र यही पद है जो अर्थान्तर में संक्रमित है अतः यह पदगत अर्थान्तर संक्रमित वाच्य ध्वनि का उदाहरण है। वाक्यगत अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि का उदाहरण प्रस्तुत किया जा रहा है–

वाक्यगतो यथा–

त्वामस्मि वच्मि विदुषां समवायोऽत्र तिष्ठति।

आत्मीयां मतिमास्थाय स्थितिमत्र विधेहि तत्।।

अत्र प्रतिपाद्यस्य संमुखीनत्वादेव लब्धे प्रतिपाद्यत्वे त्वामिति पुनर्वचनमन्यव्यावृत्तिविशिष्टं त्वदर्थं लक्षयति। एवं वच्मीत्यनेनैव कर्तरि लब्धेऽस्मीति पुनर्वचनम्। तथा विदुषां समवाय इत्यनेनैव वक्तुः प्रतिपादने सिद्धे पुनर्वच्मीति वचनमुपदिशामीति वचनविशेषरूपमर्थं लक्षयति। एतानि च स्वातिशयं व्यञ्जयन्ति। एतेन मम वचनं तवात्यन्तं हितं तदवश्यमेव कर्तव्यमित्यभिप्रायः। तदेवमयं वाक्यगतोऽर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यो ध्वनिः।

प्रस्तुत पद्य में कोई गुरु अपने शिष्य को सभा में अच्छा व्यवहार करने के लिए उपदेश देता है। उपदेशार्ह शिष्य गुरु के सामने स्थित है अतः सम्बोध्य शिष्य हुआ। शिष्य को गुरु के सामने रहने पर उसके लिए 'त्वां' पद का प्रयोग करना उपयुक्त नहीं था फिर भी 'त्वां' पद का प्रयोग किया गया है, इसका यही फल है कि सभा में विद्यमान सभी व्यक्तियों से शिष्य का विशेष उपदेश्यत्व बताना। अर्थात् सभा के अन्य व्यक्ति प्रवीण हैं केवल तुम (शिष्य) ही विद्वानों के बीच व्यवहार करने की शिक्षा से वंचित हो अतः तुम ही उपदेश के योग्य हो। 'वच्मि' के द्वारा ही कर्ता का भान हो जाता है फिर भी 'अस्मि' (मैं) पद का प्रयोग शिष्य के प्रति विशेष हितकारकत्व को बता रहा है। अतः 'अस्मि' पद अर्थान्तर में संक्रमित होकर हितकारकत्व अर्थ

को दे रहा है तथा 'वच्मि' पद 'उपदिशामि' अर्थ में संक्रमित हो जा रहा है। इस पद्य में अनेक पद अर्थान्तर में संक्रमित हो रहे हैं अतः यह पद्य वाक्यगत अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि का उदाहरण है।

इसके पश्चात् विश्वनाथ अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य पदगत ध्वनि का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं–

अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यः पदगतो यथा–

'निःश्वासान्ध इवादर्शश्चन्द्रमा न प्रकाशते'।

इस वाक्य में अन्ध पद दृष्टि-अन्धत्व रूप मुख्यार्थ का त्याग करके मलिनता रूप अर्थ को उपस्थित करता है। चूँकि यहाँ मुख्यार्थ का तिरस्कार है अतः यह अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि का उदाहरण है साथ में इस पद्य में केवल 'अन्ध' पद का ही अर्थ अत्यन्ततिरस्कृत हो रहा है अतः यहाँ अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि पदगत है।

वाक्यगत अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि का उदाहरण–

वाक्यगतो यथा–

उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते सुजनता प्रथिता भवता परम्।

विदधदीदृशमेव सदा सखे! सुखितमास्स्व ततः शरदां शतम्।।

प्रस्तुत पद्य में 'उपकृतं' 'सुजनता' 'सुखितम्' 'आस्स्व' आदि पद अपने अर्थ का सर्वथा तिरस्कार करके क्रमशः 'अपकृतं', 'दुर्जनता', 'दुःखितम्' और 'म्रियस्व' अर्थ को उपस्थित करते हैं। चूँकि यहाँ एक से अधिक पद अपने मुख्यार्थ का तिरस्कार कर रहे हैं अतः यह वाक्यगत अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि का उदाहरण है।

अब अविवक्षितवाच्यध्वनि अर्थात् लक्षणामूलध्वनि के पदगत और वाक्यगत दोनों का उदाहरण देने के बाद जो अन्य भेद हैं जैसे असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि तथा संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि। इनके वाक्यगत होने के उदाहरण पूर्व में दिए जा चुके हैं, इसलिए विश्वनाथ कहते हैं–

अन्येषां वाक्यगतत्वे उदाहृतम्, पदगतत्वे यथा–

पदगत असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि–

लावण्यं तदसौ कान्तिस्तद्रूपं स वचःक्रमः।

तदा सुधास्पदमभूदधुना तु ज्वरो महान्।।

अत्र लावण्यादीनां तादृगनुभवैकगोचरताव्यञ्जकानां तदादिशब्दानामेव प्राधान्यम्, अन्येषां तु तदुपकारित्वमेवेति तन्मूलक एव ध्वनिव्यपदेशः।

अर्थात् वाक्यगत भेदों को दिखाया जा चुका है पदगत भेदों के उदाहरण प्रस्तुत करने हैं।

इस पद्य में विप्रलम्भ शृङ्गार है जो 'अधुना' पद के सामर्थ्य से व्यक्त हो रहा है। इस पद्य में ऐसे नायक की उक्ति है जो पहले प्रियतमा के लावण्य तथा रूप और वचन विलास का आनन्द ले चुका है, किन्तु अब नायिका की अविद्यमानता में उसका स्मरण ज्वर को बढ़ाने वाला हो गया है। यहाँ 'अधुना' पद की व्यञ्जकता है जिसका अर्थ है– अभी, – इससे यह अर्थ निकलता है कि नायक का नायिका से कुछ ही क्षण पूर्व वियोग हुआ है, अतः वियोग की व्यञ्जना होने से विप्रलम्भ शृंगार स्पष्टतः प्रतीत हो रहा है।

तदुक्तं ध्वनिकृता–

एकावयवसंस्थेन भूषणेनेव कामिनी।

पदद्योत्येन सुकवेर्ध्वनिना भाति भारती।।

जैसे कभी-कभी कामिनी एक ही अलंकार के कारण सुशोभित हो जाती है उसी तरह कवि का काव्य भी कभी-कभी एक ही पद की व्यञ्जकता से शोभा पाने लगता है।

इस प्रकार विश्वनाथ ने असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि के पदगत व्यंजकता का उदाहरण प्रस्तुत किया इसके बाद असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि के जो पूर्व में भावादिध्वनि भेद बताये गये हैं उनके भी उदाहरण देने की आवश्यकता थी किन्तु विश्वनाथ ने एवं भावादिष्वप्यूह्यम् अर्थात् इस तरह भावादिध्वनि के पद व्यंजकता का उदाहरण स्वयं समझ लेना चाहिए। भावादि की पदव्यंजकता का उदाहरण इसीलिए नहीं दिखाया गया क्योंकि यह भी असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि है। यहाँ भी विभावादि की असंलक्ष्यक्रमता विद्यमान है। अर्थात् रस और भावादि में असंलक्ष्यक्रमता का सादृश्य होने के कारण तथा विषय भी एक होने के कारण भावादिध्वनि की पदव्यंजकता का उदाहरण देना उचित नहीं है, इन उदाहरणों से केवल ग्रन्थ गौरव होगा।

इसके बाद विश्वनाथ ने क्रमप्राप्त संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि के शब्द शक्ति मूल नामक भेद का पदगत उदाहरण प्रस्तुत किया है जिसे क्रमशः प्रकट किया जा रहा है।

पदगत शब्दशक्तिमूल वस्तु ध्वनि–

भुक्तिमुक्तिकृदेकान्तसमादेशनतत्परः।

कस्य नानन्दनिस्यन्दं विदधाति सदागमः।।

अत्र सदागमशब्दः सन्निहितमुपनायकं प्रति सच्छास्त्रार्थमभिधाय सतः पुरुषस्यागम इति वस्तु व्यनक्ति। ननु सदागमः सदागम इवेति न कथमुपमाध्वनिः? सदागमशब्दयोरुपमानोपमेयभावाविवक्षणात्। रहस्यस्य सङ्गोपनार्थमेव हि द्वयर्थपदप्रतिपादनम्। प्रकरणादिपर्यालोचनेन च सच्छास्त्राभिधानस्यासम्बन्धत्वात्।

इस पद्य में कोई नायिका अपनी सखियों के साथ उपस्थित है उसी समय उसका प्रेमी नायक वहाँ उपस्थित हो जाता है उसे आया हुआ देखकर नायिका को हर्ष होता है, किन्तु नायिका ने अपने हर्ष को अपनी सखियों से वेदादि अप्रस्तुत विषय की चर्चा करके छुपा लिया । अर्थात् अपने हर्ष का वाच्यार्थ अथवा विषय वेदादि को बना दिया।

इस पद्य में 'सदागमः' इस पद से उपनायक की स्तुति व्यक्त हो रही है। अतः यह शब्दशक्ति मूल वस्तु से वस्तु ध्वनि का उदाहरण है।

पदगत शब्दशक्तिमूल अलंकार ध्वनि–

अनन्यसाधारणधीर्धृताखिलवसुन्धरः।

राजते कोऽपि जगति स राजा पुरुषोत्तमः।।

अत्र पुरुषोत्तमः पुरुषोत्तम इवेत्युपमाध्वनिः। अनयोः शब्दशक्तिमूलौ संलक्ष्यक्रमभेदौ।

इस पद्य में 'पुरुषोत्तमः' पद दो अर्थों को दे रहा है। यह पद भगवान् विष्णु के साथ पुरुषश्रेष्ठ का भी वाचक है। 'पुरुषोत्तमः' पद के समस्त विशेषण दोनों अर्थों में संगत हैं किन्तु इस पद्य का प्राकरणिक अर्थ राजस्तुति है, अतः 'पुरुषोत्तमः' इस पद से व्यंजित विष्णुपरक अर्थ उपमान के रूप में व्यक्त होता है। यहाँ राजा और विष्णु में उपमेयोपमान भाव होने के कारण उपमालंकार व्यक्त होता है।

पदगत अर्थशक्तिमूल स्वतः सम्भवी वस्तु से वस्तु ध्वनि –

सायं स्नानमुपागतं मलयजेनाङ्गं समालेपितं

यातोऽस्ताचलमौलिमम्बरमणिर्विस्रब्धमत्रागतिः।

आश्चर्यं तव सौकुमार्यमभितः क्लान्तासि येनाधुना

नेत्रद्वन्दममीलनव्यतिकरं शक्नोति ते नासितुम्।।

अत्र स्वतः सम्भविना वस्तुना कृतपरपुरुषपरिचया क्लान्तासीति वस्तु व्यज्यते। तच्चाधुना क्लान्तासि, न तु पूर्वं कदाचिदपि तवैवंविधः क्लमो दृष्ट इति बोधयतोऽधुना पदस्यैवेतरपदार्थोत्कर्षादस्यैव पदान्तरापेक्षया वैशिष्ट्यम्।

प्रस्तुत पद्य में मार्ग में अपने उपपति से रमण करके तथा रमण से उत्पन्न श्रम आदि को दूर करने वाली किसी नायिका के प्रति उसकी चतुर सखी की उक्ति है जिसने उस नायिका के सभी रहस्यों का जान लिया है। नायिका की सखी का कहना है कि तुम्हें थकान तो नहीं होना चाहिए था क्योंकि थकान नहीं होने के लिए सायंकालीन स्नान कारण विद्यमान है साथ ही तुमने शरीर पर चंदन का लेप भी किया है अतः तुम्हें थकान नहीं होनी चाहिए थी। तब पर भी जो तुम अभी थकी हुई लग रही हो उसका कारण तुम्हारी कोमलता ही है। यहाँ 'अधुना' पद में व्यञ्जना है कि पहले तो स्नान और चन्दन के लेप से तुम्हें थका हुआ नहीं देखा। अतः यह थकान नायक से रमण के कारण उत्पन्न है जो कि तुमने अभी कुछ समय पहले किया है। इस पद्य के अर्थ को समझने के बाद 'अधुना' पद से पर पुरुष संसर्ग रूपी वस्तु की व्यंजना हो रही है।

पदगत अर्थशक्तिमूल स्वतः सम्भवी वस्तु से पद गत अलंकार ध्वनि–

तदप्राप्तिमहादुःखविलीनाशेषपातका।

तच्चिन्ताविपुलाह्लादक्षीणपुण्यचया तथा।।

चिन्तयन्ती जगत्सूतिं परं ब्रह्मस्वरूपिणम्।

निरुच्छ्वासतया मुक्तिं गताऽन्या गोपकन्यका।।

अत्राशेषचयपदप्रभावादनेकजन्मसहस्रभोग्यदुष्कृतसुकृतफलराशितादात्म्याध्यवसिततया भगवद्विरहदुःखचिन्ताह्लादयोः प्रत्यायनमित्यतिशयोक्तिद्वयप्रतीतिरशेषचयपदद्वयद्योत्या। अत्र च व्यञ्जकस्य कविप्रौढोक्तिमन्तरेणापि संभवात्स्वतःसंभविता।

प्रस्तुत पद्य में किसी गोपी का वर्णन है जो किसी कारणवश श्रीकृष्ण की रासलीला में उपस्थित नहीं हो पाई। उसके समस्त पापों के भोग श्रीकृष्ण से मिल नहीं पाने से उत्पन्न दुःख भोग में विलीन हो गए, तथा समस्त पुण्यों के भोग श्रीकृष्ण की अनवरत चिन्ता करने से उत्पन्न आनन्द में नष्ट हो गए। इस प्रकार जब पाप-पुण्य कुछ भी नहीं बचा तो वह गोपकन्या मुक्ति को प्राप्त हुई।

यहाँ 'अशेष' और 'चय' दो पद हैं जिसके अर्थ से अतिशयोक्ति अलंकार व्यञ्जित हो रहा है। 'अशेष' पद के अर्थ से अनेकानेक जन्मों में संभव पापभोग और भगवद्विरह के महादुःख भोग का तादात्म्य का अध्यवसाय व्यक्त हो रहा है अर्थात् गोपी को अपने किसी पापविशेष का फल भोगने के लिए जो दुःख सहना है वह दुःख भगवान् के विरह के कारण उत्पन्न दुःख से ही नष्ट हो गया तथा जो उसने पुण्यों का समूह अर्जित किया है उसका फल आनन्द प्राप्ति है वह भगवान् की चिन्ता से उत्पन्न आनन्द की अनुभूति से नष्ट हो गई है। यहाँ भी दोनों में तादात्म्य है अतः यहाँ अतिशयोक्ति अलंकार है। यहाँ का जो वाच्यार्थ है वह इस लोक में संभव है अतः यह स्वतःसंभवी है।

पदगत अर्थशक्तिमूल कविप्रौढोक्तिसिद्ध अलंकार से अलंकार ध्वनि–

पश्यन्त्यसंख्यपथगां त्वद्दानजलवाहिनीम्।

देव! त्रिपथगाऽऽत्मानं गोपयत्युग्रमूर्धनि।।

इदं मम। अत्र पश्यन्तीति कविप्रौढोक्तिसिद्धेन काव्यलिङ्गालङ्कारेण न केऽप्यन्ये दातारस्तव सदृशा इति व्यतिरेकालङ्कारोऽसंख्यपदद्योत्यः। एवमन्येष्वप्यर्थशक्तिमूलसंलक्ष्यक्रमभेदेषूदाहार्यम्।

प्रस्तुत पद्य का जो वाच्यार्थ है वह कविप्रौढोक्ति सिद्ध है, क्योंकि दान के जल की गंगा की स्थिति लोक में सम्भव नहीं है केवल कवि की कल्पनाशीलता का परिणाम है। यह प्रस्तुत पद्य का कथन अलंकारात्मक है। यहाँ काव्यलिंग अलंकार है क्योंकि गंगा के शिव की जटा में छिपने का कारण राजा के दान के जल से बनने वाली गंगा है। इस कविप्रौढोक्तिसिद्ध अलंकार से व्यतिरेक अलंकार ध्वनित हो रहा है। यहाँ उपमेय नृप-दान-जल-गंगा का उपमानभूत भागीरथी गंगा से उत्कर्ष दिखाया गया है।

इस तरह अब तक ध्वनि के 35 भेदों का निरूपण किया गया है। इस विषय में विश्वनाथ कहते हैं–

तदेवं ध्वनेः पूर्वोक्तेष्वष्टादशसु भेदेषु मध्ये शब्दार्थशक्त्युत्थो व्यङ्ग्यो वाक्यमात्रे भवन्नेकः। अन्ये पुनः सप्तदश वाक्ये पदे चेति चतुस्त्रिंशदिति पञ्चत्रिंशद् भेदाः।

अर्थात् पूर्व में ध्वनि के जो अट्ठारह भेद तालिका के माध्यम से गिनायेध्दर्शाये गये थे, वे केवल वाक्यगत थे। उन अट्ठारह भेदों में जो शब्दार्थोभयशक्त्युत्थध्वनि भेद है वह केवल वाक्य में ही सम्भव हो सकता है, शेष जो सत्रह भेद हैं वे वाक्य के साथ ही पद में भी रहते हैं अतः चौंतीस भेद हो गए। इसमें यदि शब्दार्थोभयशक्त्युत्थध्वनि भेद को जोड़ दिया जाए, तो यहाँ तक कुल भेदों की संख्या 35 हो जाती है।

अब विश्वनाथ 'कविराज' अर्थशक्त्युद्भव के 12 प्रबन्धगत व्यंजकता का निरूपण करते हैं–

प्रबन्धेऽपि मतो धीरैरर्थशक्त्युद्भवो ध्वनिः।।10।।

प्रबन्धे महावाक्ये। अनन्तरोक्तद्वादशभेदोऽर्थशक्त्युत्थः। यथा महाभारते गृध्रगोमायुसंवादे–

अलं स्थित्वा श्मशानेऽस्मिन् गृध्रगोमायुसंकुले ।

कङ्कालबहले घोरे सर्वप्राणिभयङ्करे ।।

न चेह जीवितः कश्चित् कालधर्ममुपागतः ।

प्रियो वा यदि वा द्वेष्यः प्राणिनां गतिरीदृशी ।।

इति दिवा प्रभवतो गृध्रस्य श्मशाने मृतं बालमुपादाय तिष्ठतां तं परित्यज्य गमनमिष्टम् ।

यहाँ प्रबन्ध कहने का तात्पर्य महावाक्य से है। अभी जिस अर्थशक्त्युत्थध्वनि का निरूपण किया गया है, वह प्रबन्ध में भी होती है, जिसका उदाहरण महाभारत के गृध्रगोमायु संवाद का श्लोक है–

प्रस्तुत पद्य महाभारत का है। इस पद्य में किसी का शव श्मशान में उसके परिजनों के द्वारा लाया गया है। श्मशान में उस समय कोई गिद्ध जो की रात्रि में अन्धा हो जाने के कारण केवल दिन में ही मांस खाने में समर्थ है– वह सभी परिजनों से शव को श्मशान में छोड़कर चले जाने के लिए कहता है जिससे वह मांस खा सके।

प्रस्तुत महावाक्य–रूप प्रबन्ध में जो व्यंग्यार्थ है वह वस्तु ध्वनि रूप है। इस पद्य में 'तुम सभी यह स्थान छोड़कर चले जाओ'– यह व्यंग्य वस्तुरूप है।

गिद्ध की उक्त बात को सुनकर वहीं बैठा गीदड़ जो रात्रि में गिद्ध के अन्धा हो जाने के कारण पर्याप्त मांस भक्षण में समर्थ है वह परिवार के लोगों को श्मशान में ही रोकना चाहता है, वह कहता है–

आदित्योऽयं स्थितो मूढा! स्नेहं कुरुत साम्प्रतम्।

बहुविघ्नो मुहूर्तोऽयं जीवेदपि कदाचन।।

अमुं कनकवर्णाभं बालमप्राप्तयौवनम्

गृध्रवाक्यात्कथं मूढास्त्यजध्वमविशङ्किताः।।

इति निशि समर्थस्य गोमायोर्दिवसे परित्यागोऽनभिलषित इति वाक्यसमूहेन द्योत्यते। अत्र स्वतःसंभवी व्यञ्जकः। एवमन्येष्वेकादशभेदेषूदाहार्यम्।

यहाँ गीदड़ श्मशान के लोगों को रात्रि होने तक प्रतीक्षा करने के लिए कहता है जिससे वह गिद्ध के अन्धा हो जाने के बाद रात्रि में मांस-भक्षण कर सके। इस पद्य का व्यंग्यार्थ वस्तुरूप है। 'सियार लोगों को रोकना चाहता है', यह अर्थ वस्तुध्वनि के रूप में व्यक्त हो रहा है। उपर्युक्त दोनों पद्यों का वाच्यार्थ स्वतःसंभवी है क्योंकि इस प्रकार का अर्थ लोक में देखा जा सकता है। इस स्वतःसंभवी अर्थ से व्यक्त होने वाला व्यंग्यार्थ वस्तुरूप है।

एवं वाच्यार्थव्यञ्जकत्वे उदाहृतम्। लक्ष्यार्थस्य यथा– निःशेषच्युतचन्दनम्– इत्यादि। व्यङ्ग्यार्थस्य यथा– पश्य निश्चलनिष्पन्दा– इत्यादि। अनयोः स्वतःसंभविनोर्लक्ष्यव्यङ्ग्यार्थौ व्यञ्जकौ। एवमन्येष्वेकादशभेदेषूदाहार्यम्

विश्वनाथ के मत में 12 प्रकार का प्रबन्धगत अर्थशक्त्युद्भवध्वनि है, किन्तु उन्होंने केवल एक भेद का ही उदाहरण प्रस्तुत किया है। विश्वनाथ शेष ग्यारह भेदों के उदाहरण सहृदयों को स्वयं ढूँढने के लिए प्रेरित करते हैं क्योंकि यदि सभी उदाहरणों को प्रस्तुत किया जाता तो ग्रन्थ का अनावश्यक विस्तार हो जाता। विश्वनाथ ने प्रबन्धगत अर्थशक्त्युद्भवध्वनि का जो एक ही उदाहरण दिया है उसका व्यंजक वाच्यार्थ है, वह वाच्यार्थ भी स्वतःसंभवी है क्योंकि गृध्र गोमायु का जो संवाद है वह कविकल्पनाप्रसूत नहीं है क्योंकि उन दोनों का संवाद लोक में भी सम्भव हो सकता है, अतः स्वतःसंभवी है।

इसी तरह लक्ष्यार्थ भी प्रबन्धगत अर्थशक्त्युद्भवध्वनि का व्यंजक होता है जैसे 'निःशेषच्युतचन्दनं' पूर्वोक्त पद्य में विपरीतलक्षणा से बोधव्यवैशिष्ट्य से उपस्थित लक्ष्यार्थ– 'स्नातुं न गतासीः' जो कि स्वतःसंभवी है,

से 'तदन्तिकमेव रन्तुं गतासीः' रूप व्यंग्यार्थ की उपस्थिति होती है। इस तरह लक्ष्यार्थ भी बारह प्रकार का होकर प्रबन्धगत अर्थशक्त्युद्भवध्वनि का व्यंजक हो सकता है, जिसके उदाहरण गवेषणीय हैं।

इसी प्रकार व्यंग्यार्थ भी प्रबन्धगत अर्थशक्त्युद्भवध्वनि का व्यंजक हो सकता है, जैसे की पूर्वोदाहृत 'पश्य निश्चल निष्पन्दा' पद्य में निष्पन्द-पद-द्योत्य जनराहित्य रूप व्यंग्यार्थ जो स्वतःसंभवी है से 'संकेतस्थान यही है' रूप व्यंग्यार्थ व्यक्त हो रहा है। यह व्यंग्यार्थ भी बारह प्रकार का होकर प्रबन्धगत अर्थशक्त्युद्भवध्वनि का व्यंजक हो सकता है। इनके भी अन्य उदाहरण गवेषणीय हैं।

ध्यातव्य– वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ तथा व्यंग्यार्थ ये सभी (स्वतःसंभवी, कविप्रौढोक्तिसिद्ध तथा कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध तथा उनमें भी वस्तु, अलंकार आदि बताये गये अर्थवैविध्य से) बारह-बारह प्रकार के होकर अर्थशक्त्युद्भवध्वनि के व्यंजक हो सकते हैं, जिससे 36 प्रकार के अर्थशक्त्युद्भवध्वनि के होने की सम्भावना आपाततः प्रतीत होने लगती है किन्तु यहाँ यह गणना वाच्यार्थ के बारह 12, लक्ष्यार्थ के 12, व्यंग्यार्थ के 12 की स्थिति से नहीं है बल्कि अर्थ सामान्य की दृष्टि से है अर्थात् जैसे वाच्यार्थ एक प्रकार का अर्थ है वैसे ही लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ भी अर्थ है, अतः तीनों में अर्थत्व सामान्य के होने से इसके 12 भेद मानना ही उचित है।

असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि की भिन्न-भिन्न व्यंजन भूमियाँ–

पदांशवर्णरचनाप्रबन्धेष्वस्फुटक्रमः।

असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यो ध्वनिस्तत्र पदांशप्रकृतिप्रत्ययोपसर्गनिपातादिभेदादनेकविधः ।

पूर्व में प्रतिपादित असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि– पदांश, वर्ण, रचना और प्रबन्ध में व्यक्त होती है अर्थात् असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि का व्यंजक– प्रकृति, प्रत्यय, उपसर्ग, निपात आदि से युक्त पदांश तथा वर्ण, रचना और प्रबन्ध होते हैं।

पदांश की व्यंजकता – विश्वनाथ 'कविराज' पदांश की व्यंजकता निम्न उदाहरण में दिखलाते हैं–

यथा–

चलापाङ्गां दृष्टिं स्पृशसि बहुशो वेपथुमतीं

रहस्याख्यायीव स्वनसि मृदुकर्णान्तिकचरः।

करं व्याधुन्वत्याः पिबसि रतिसर्वस्वमधरं

वयं तत्त्वान्वेषान्मधुकर! हतास्त्वं खलु कृती।।

अत्र 'हताः' इति न पुनः 'दुःखं प्राप्तवन्तः' इति हन्प्रकृतेः।

प्रस्तुत पद्य में 'हताः' का जो प्रयोग किया गया है उसमें 'हन्' धातु है। हन् धातु की प्रकृति का अर्थ मारना होता है, किन्तु यहाँ 'हताः' के प्रयोग से 'वयं दुःखं प्राप्तवन्तः' का अर्थ व्यक्त हो रहा है, जिससे विप्रलम्भ शृंगार पुष्ट हो रहा है। अतः यहाँ पदांश रस का व्यंजक है।

निपात की व्यंजकता –

मुहुरङ्गुलिसंवृताधरोष्ठं प्रतिषेधाक्षरविक्लवाभिरामम्।

मुखमंसविवर्ति पक्ष्मलाक्ष्याः कथमप्युन्नमितं न चुम्बितं तु।।

अत्र 'तु' इति निपातस्यानुतापव्यञ्जकत्वम्।

यहाँ 'तु' इस निपात से शकुन्तला के अधर का चुम्बन करने में असफल दुष्यन्त का अनुताप व्यक्त हो रहा है, जिससे विप्रलम्भ श्रृंगार पुष्ट हो रहा है। अतः यहाँ रस का व्यंजक निपात है।

प्रत्ययगत और उपसर्गगत व्यंजकता –

न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयस्तत्राप्यसौ तापसः

सोऽप्यत्रैव निहन्ति राक्षसकुलं जीवत्यहो रावणः।

धिग्धिच्छक्रजितं प्रबोधितवता किं कुम्भकर्णेन वा

स्वर्गग्रामटिकाविलुण्ठनवृथोच्छूनैः किमेभिर्भुजैः।।

इत्यादौ 'अरयः' इति बहुवचनस्य, 'तापसः' इत्येकवचनस्य, 'अत्रैव' इति सर्वनाम्नः, 'निहन्ति' इति 'जीवति' इति च तिङ्गः, 'अहो' इत्यव्ययस्य, 'ग्रामटिका' इति करूपतद्धितस्य, 'विलुण्ठन' इति व्युपसर्गस्य, 'भुजैः' इति बहुवचनस्य व्यञ्जकत्वम्।

प्रस्तुत पद्य में सुप् प्रत्यय से बने 'अरयः' पद में जो बहुवचन है वह रावण के निर्वेद को बढ़ा रहा है क्योंकि जो एक भी शत्रु को सह नहीं सकता वह अनेक शत्रुओं को सह रहा है, इससे रावण की निर्वेदता में वृद्धि हो रही है। 'तापसः' इस एकवचन के सुप् प्रत्यय से रावण का निर्वेद बढ़ रहा है कि शत्रु यदि कोई बड़ा राजा हो तब तो कदाचित् सह्य है यह साधन विहीन तपस्वी मेरा शत्रु है, इससे निर्वेदता उद्दीप्त रही है। 'अत्रैव' इस सर्वनाम में भी व्यंजकता है, कि वह तपस्वी शत्रु यहीं लंका में ही विद्यमान है (शिर पर मँडरा रहा है दूर रहकर तो कदाचित् कोई शत्रु जैसा व्यवहार कर भी ले यह तो मेरी लंका नगरी में आकर ही शत्रुता का आचरण कर रहा है) इससे रावण का निर्वेद तीक्ष्णतर व्यक्त हो रहा है, 'निहन्ति' और 'जीवति' में तिङ्प्रत्ययकृत व्यंजकता है। यहाँ ये दोनों धातु वर्तमान काल में प्रयुक्त हैं जिससे रावण की आत्मापमान भावना व्यक्त हो रही है कि शत्रु राक्षसों को मारा या मारेगा नहीं बल्कि वर्तमान में ही मार रहा है, और रावण जीवन धारण कर रहा है। 'अहो' अव्यय पद से आश्चर्य का भाव व्यक्त हो रहा है। इसी प्रकार 'ग्रामटिका' में प्रयुक्त 'क' तद्धित प्रत्यय तथा 'विलुण्ठन' में वि उपसर्ग और 'भुजैः' के बहुवचन में भी व्यंजकता है।

इसी प्रकार विश्वनाथ अन्य भी उदाहरण प्रस्तुत करते हैं–

आहारे विरतिः, समस्तविषयग्रामे निवृत्तिः परा

नासाग्रे नयनं तदेतदपरं यच्चैकतानं मनः।

मौनं चेदमिदं च शून्यमधुना यद्विश्वमाभाति ते

तद्ब्रूयाः सखि! योगिनी किमसि भोः! किं वा वियोगिन्यसि।।

अत्र तु 'आहारे' इति विषयसप्तम्याः, 'समस्त' इति 'परा' इति च विशेषणद्वयस्य 'मौनं', 'चेदम्' इति प्रत्यक्षपरामर्शिनः सर्वनाम्नः, 'आभाति' इत्युपसर्गस्य, 'सखि' इति प्रणयस्मारणस्य 'असि भोः' इति सोत्प्रासस्य

'किं वा' इत्युत्तरपक्षदाढर्यसूचकस्य वाशब्दस्य, 'असि' इति वर्तमानोपदेशस्य च तत्तद्विषयव्यञ्जकत्वं सहृदयसंवेद्यम्।

इस पद्य में अनेक पद व्यंजक हैं। 'आहारे' पद से नायिका के जीवन धारण के लिए सर्वथा अपेक्षित भोजन के प्रति अनास्था व्यक्त हो रही है, 'समस्त' तथा 'परा' – इन दो विशेषणों में भी व्यंजना है, जिससे नायिका के जीवनोपाय समस्त वस्तुओं के प्रति उदासीनता व्यक्त हो रही है। इसी प्रकार 'मौनं' 'चेदं' में प्रत्यक्षता-द्योतक-सर्वनाम पद से यह अर्थ निकलता है कि नायिका चेष्टा/संकेत के द्वारा भी अपने अभिप्राय का प्रकाशन नहीं करना चाहती। इसी प्रकार 'आभाति' में उपसर्ग की तथा 'सखि' और 'असि भो' इत्यादि पदों में भी व्यंजकता है।

असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि में वर्ण, रचना और प्रबन्ध की व्यंजक-भूमियाँ–

असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि में वर्ण, रचना और प्रबन्ध भी व्यंजक होते हैं किन्तु विश्वनाथ 'कविराज' ने इस चतुर्थ परिच्छेद में वर्ण, रचना की व्यंजकता का उदाहरण यह कहते हुए नहीं दिया कि– **'वर्णरचनयोरुदाहरिष्यते'**, अर्थात् वर्ण और रचना की व्यंजकता का उदाहरण दिया जाएगा। वर्ण और रचना की व्यंजकता साहित्यदर्पण के क्रमशः आठवें और नवें परिच्छेद में बताई जाएगी किन्तु आपको संक्षेप में इसका ज्ञान कराना उचित है इस दृष्टि से वर्ण और रचना की व्यंजकता बताई जा रही है। माधुर्य आदि गुणों के द्वारा रस व्यक्त होते हैं किन्तु गुणों का आश्रय वर्ण होते हैं अतः वर्ण भी रस अर्थात् असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि के व्यंजक होते हैं, इसी प्रकार रचना जो दीर्घसमास आदि गुणों से युक्त रहती है उससे भी रस व्यक्त होते हैं।

वर्ण, रचना के अलावा प्रबन्ध भी असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि का व्यंजक होता है जिसका उदाहरण विश्वनाथ ने चतुर्थ परिच्छेद में ही दे दिया है। विश्वनाथ 'कविराज' कहते हैं कि– **प्रबन्धे यथा– महाभारते शान्तः। रामायणे करुणः। मालतीमाधवरत्नावल्यादौ शृंगारः। एवमन्यत्र।** अर्थात् सम्पूर्ण काव्य को पढ़ लेने के बाद उसमे रहने वाला प्रधान रस व्यक्त होता है, जैसे महाभारत पढ़ लेने के बाद पारमार्थिक रूप से शान्तरस की अभिव्यंजना होती है, रामायण के अध्ययन के बाद करुण रस की तथा मालतीमाधव और रत्नावली पढ़ने के बाद शृंगार रस की अभिव्यंजना होती है। इसी तरह दूसरे प्रबन्ध काव्यों के प्रधान रस को समझा जा सकता है।

पूर्वनिरूपित ध्वनि प्रभेद संकलन –

तदेवमेकपञ्चाशद्भेदास्तस्य ध्वनेर्मताः।।11।।

इस प्रकार अब तक ध्वनिकाव्य के 51 (इक्यावन) भेद हो जाते हैं।

अविवक्षितवाच्यध्वनि के (अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि नामक) भेद के पदगत और वाक्यगत होने के कारण

2+2 = 4

विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि अर्थात् असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि का भेद पदगत और वाक्यगत होने के कारण

1+1 = 2

(विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि के ही) संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि में शब्दशक्त्युत्थध्वनि के भेद पदगत और वाक्यगत के कारण

2+2 = 4

अर्थशक्त्युत्थध्वनि के भेद पदगत और वाक्यगत और प्रबन्धगत के कारण 12+12+12 = 36

शब्दार्थोभयशक्त्युत्थ का भेद 1

असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य के व्यंजकता के भेद (पदांश, वर्ण, रचना, प्रबन्ध)
04

———————————————

ध्वनि के कुल भेद = 51

इसके बाद ये 51 भेद भी क्रमशः त्रिरूप संकर और एकविध संसृष्टि के कारण, प्रत्येक के परस्पर मेल के आधार पर भेद प्रभेद की गणना करें तो यह ध्वनि संख्या 5304 हो जाएगी—

सङ्करेण त्रिरूपेण संसृष्ट्या चैकरूपया।।

वेदखाग्निशराः (5304)

यहाँ 'वेद' शब्द का अर्थ 4, 'ख' शब्द का अर्थ 0, 'अग्नि' शब्द का अर्थ 3 'शर' शब्द का अर्थ 5 है। संस्कृत में अंको की गणना **'अंकानां वामतो गतिः'** नियम से होती है अतः 'वेदखाग्निशराः' से क्रमशः प्राप्त 4035 संख्या को उक्त नियम से उलटकर रखने पर 5304 संख्या हो जाती है। यही ध्वनि के भेद की संख्या है।

ये जो 5304 ध्वनि भेद संख्या है ये संकीर्ण हैं क्योंकि इनमे या तो संकर है या तो संसृष्टि है, किन्तु शुद्ध रूप से जो 51 भेद बताये गए हैं उनको भी यदि हम ध्वनि के संकीर्ण 5304 भेदों में जोड़ दें तो यह ध्वनि भेद संख्या 5304+51= 5355 हो जाती है इसलिए विश्वनाथ 'कविराज' कहते हैं—

शुद्धैरिषुबाणाग्निसायकाः।।12।।

शुद्धैः शुद्धभेदैरेकपञ्चाशता योजनेनेत्यर्थः।

यहाँ कारिका में 'इषु' शब्द 5 का वाचक है 'बाण' भी 5 का वाचक है, तथा 'अग्नि' शब्द 3 का वाचक है, 'सायक' भी 5 का वाचक है। पूर्वोक्त 'अंकानां वामतो गतिः' इस नियम से ध्वनि के शुद्ध और संकीर्ण सब मिलाकर 5355 भेद हो जाते हैं।

संलक्ष्यक्रमव्यंग्यरूपक और असंलक्ष्यक्रमरसध्वनि (अलंकार और रस संकरध्वनि) का उदाहरण

उपर्युक्त शुद्ध ध्वनि के 51 भेदों की चर्चा करने के बाद संकर और संसृष्टि के कारण 5355 भेदों के विस्तार की चर्चा विश्वनाथ ने की है। जिनमें शुद्ध भेदों को आपने विधिवत् उदाहरणों के साथ समझा, किन्तु संकर और संसृष्टि की स्थिति काव्य में कैसे होती है उसे विश्वनाथ दिङ्मात्र दिखलाते हैं—

दिङ्मात्रं तूदाह्रियते—

अत्युन्नतस्तनयुगा तरलायताक्षी द्वारि स्थिता तदुपयानमहोत्सवाय।

सा पूर्णकुम्भनवनीरजतोरणस्रक्संभारमङ्गलमयत्नकृतं विधत्ते।।

अत्र स्तनावेव पूर्णकुम्भौ, दृष्टय एव नवनीरजस्रज इति रूपकध्वनिरसध्वन्योरेकाश्रयानुप्रवेशः सङ्करः।

यहाँ स्तनों को पूर्णकलश, नयनों को नव कमल रूप बन्दनवार बनाने के अर्थ की व्यंजना हो रही है इस कारण यहाँ रूपक अलंकार ध्वनि है, साथ ही नायकनायिकानिष्ठ रतिभाव की अभिव्यंजना भी हो रही है। अतः इस पद्य में अलंकारध्वनि और रसध्वनि के एकसाथ विद्यमान होने से संकरध्वनि की स्थिति स्पष्टता से देखी जा सकती है।

धिन्वन्त्यमूनि मदमूर्च्छदलिध्वनीनि धूताध्वनीनहृदयानि मधोर्दिनानि।

निस्तन्द्रचन्द्रवदनावदनारविन्दसौरभ्यसौहृदसगर्वसमीरणानि।।

अत्र निस्तन्द्रेत्यादिलक्षणामूलध्वनीनां संसृष्टिः।

यहाँ जो ध्वनि काव्य है वह संसृष्टिध्वनि काव्य है क्योंकि 'निस्तन्द्र' 'सौहृद' तथा 'सगर्व' पदों में अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि है। यहाँ 'निस्तन्द्र' पद का वाच्यार्थ चन्द्र में सर्वथा अनुपपन्न होने से लक्षणावृत्ति से उससे प्रकाशमान रूप अर्थ उपस्थित किया गया है, उसी तरह 'सौहृद' और 'सगर्व' के अर्थ चेतनगत धर्म हैं अतः 'सौहृद' और 'सगर्व' पद के अर्थ समीर में अनुपपन्न होने से लक्षणावृत्ति से सादृश्य और उत्कृष्ट रूप अर्थ की उपस्थिति होती है। ये तीनों पदध्वनियाँ परस्पर निरपेक्ष होकर विद्यमान हैं अतः संसृष्टि है। भ्रमर की ध्वनि और चन्दन तथा समीर रूप काम के उद्दीपकों के द्वारा शृंगार रस भी व्यक्त हो रहा है। अतः यहाँ व्यंग्यों का मिश्रण परस्पर निरपेक्ष भाव से है जिससे ध्वनिसंसृष्टि है।

10.2.2 गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य

इस तरह आचार्य विश्वनाथ 'कविराज' भेदोपभेद सहित ध्वनि काव्य का निरूपण करके अब क्रमप्राप्त काव्य के द्वितीय भेद गुणीभूतव्यंग्य का निरूपण करते हैं–

अथ गुणीभूतव्यङ्ग्यम्–

अपरं तु गुणीभूतव्यङ्ग्यं वाच्यादनुत्तमे व्यङ्ग्ये।

अपरं काव्यम्। अनुत्तमत्वं न्यूनतया साम्येन च संभवति।

अर्थात् 'अपर' अर्थात् जो दूसरा काव्य है वह गुणीभूतव्यङ्ग्य है। यह काव्य वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ के अधिक चमत्कारी न होने पर होता है अर्थात् जहाँ वाच्यार्थ का चमत्कार व्यंग्यार्थ के चमत्कार से अधिक हो वहाँ गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य होता है इसके साथ ही जहाँ वाच्यार्थ का चमत्कार और व्यङ्ग्यार्थ के चमत्कार में समानता हो, वहाँ भी गुणीभूतव्यंग्य काव्य का व्यवहार होता है जैसा कि विश्वनाथ ने काव्य लक्षण की वृत्ति में अनुत्तमता की व्याख्या करते हुए कहा है कि– **'अनुत्तमत्वं न्यूनतया साम्येन च सम्भवति'**। लक्षण में 'तु' पद का निवेश करना गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य के प्रति विश्वनाथ की अनास्था का परिचायक है। 'तु' पद प्रायः अरुचि का बोध कराता है ।

इस प्रकार गुणीभूतव्यंग्यकाव्य के लक्षण का निरूपण करके विश्वनाथ इसके भेदों का बताते हैं–

तत्र स्यादितराङ्गं काक्वाक्षिप्तं च वाच्यसिद्ध्यङ्गम्।।13।।

सन्दिग्धप्राधान्यं तुल्यप्राधान्यमस्फुटमगूढम्।

व्यङ्ग्यमसुन्दरमेवं भेदास्तस्योदिता अष्टौ।।14।।

गुणीभूतव्यंग्यकाव्य में व्यंग्य की प्रायः आठ स्थिति देखी जाती है, इन आठ स्थितियों में व्यंग्यार्थ की वाच्यार्थ से प्रधानता नहीं रहती, इस दृष्टि से यह गुणीभूतव्यंग्यकाव्य आठ प्रकार का हो जाता है, जो निम्न है–1) इतराङ्ग, 2) काक्वाक्षिप्त, 3) वाच्यसिद्ध्यङ्ग, 4) सन्दिग्धप्राधान्य, 5) तुल्यप्राधान्य, 6) अस्फुट, 7) अगूढ, 8) असुन्दर।

1) इतरांग अर्थात् अपरांग व्यंग्य का उदाहरण

जब कोई रस, वस्तु और अलङ्कार रूप व्यंग्यार्थ रस, वस्तु अथवा अलङ्कार रूप वाच्यार्थ की सिद्धि में सहायक हो जाता है, तो इस स्थिति में उस वाच्यार्थ में अधिक चमत्कारित्व आ जाता है, क्योंकि उस स्थिति में वाच्यार्थ में व्यंग्यार्थ का भी बल जुड़ जाता है क्योंकि व्यंग्यार्थ इतर अर्थात् वाच्यार्थ का अंग हो जाता है, इसलिए इसका नाम इतरांगव्यंग्य अथवा अपरांगव्यंग्य रखा गया है। अब इसका उदाहरण द्रष्टव्य है–

इतरस्य रसादेरङ्गं रसादिव्यङ्ग्यम्।

यथा–

अयं स रसनोत्कर्षी पीनस्तनविमर्दनः।

नाभ्यूरुजघनस्पर्शी नीवीविस्रंसनः करः।।

अत्र शृङ्गारः करुणरसस्याङ्गम्।

प्रस्तुत पद्य महाभारत के स्त्रीपर्व का है। इसमें भूरिश्रवा मारा गया है, और उसका शव उसकी पत्नी के सम्मुख है। पत्नी विलाप करती है। वह भूरिश्रवा के हाथ का स्मरण शृंगार की अवस्था में उसके उपयोग को लेकर करती है, जिससे शृंगार रस की अभिव्यंजना होती है किन्तु यह कथन पति की मृत्यु बेला में किया जा रहा है, अतः पत्नी के मन में प्रधानरूप से शृंगार रस न होकर करुण रस है क्योंकि यहाँ करुण रस की सामग्री ही जैसे– पति का मरना, हृदय में शोक का उमड़ना, करुणरसोचित विभावानुभावव्यभिचारी की स्थिति विद्यमान है। अतः यहाँ प्रधान रस करुण है। मध्य में आया हुआ शृंगार रस करुण को उद्दीप्त कर रहा है, जिससे शृंगार करुण का अंग हो गया है। अतः यह इतरांगव्यंग्य का उदाहरण है।

पूर्व पद्य में रस दूसरे रस का अंग होने से अपरांग गुणीभूतव्यंग्य का उदाहरण है। कहीं-कहीं रस दूसरे भाव का अंग हो जाता है, जैसे–

मानोन्नतां प्रणयिनीमनुनेतुकामस्त्वत्सैन्यसागररवोद्गतकर्णतापः।

हा! हा! कथं नु भवतो रिपुराजधानीप्रासादसंततिषु तिष्ठति कामिलोकः।।

अत्रौत्सुक्यत्राससससन्धिसंस्कृतस्य करुणस्य राजविषयरतावङ्गभावः।

यहाँ औत्सुक्य और त्रास के व्यंग्य व्यभिचारी भावों की सन्धि से परिपुष्ट करुण रस स्वयं चमत्कारी न होकर कविनिष्ठ राजविषयक रति का ही चमत्कार आस्वादनीय बना रहा है, अतः यहाँ व्यभिचारिभावों से

परिपुष्ट करुण रस ही राजविषयक भाव का अंग बन गया है, अतः यह भी अपरांगगुणीभूतव्यंग्य का उदाहरण है।

अब विश्वनाथ शब्दशक्तिमूल अलंकाररूप संलक्ष्यक्रमव्यंग्य की वाच्यार्थ के प्रति अंगता में अपरांगगुणीभूतव्यंग्य काव्य का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं–

जनस्थाने भ्रान्तं कनकमृगतृष्णान्धितधिया

वचो वैदेहीति प्रतिपदमुदश्रु प्रलपितम्।

कृता लङ्काभर्तुर्वदनपरिपाटीषु घटना

मयाप्तं रामत्वं कुशलवसुत न त्वधिगता।।

अत्र रामत्वं प्राप्तमित्यवचनेऽपि शब्दशक्तेरेव रामत्वमवगम्यते। वचनेन तु सादृश्यहेतुकतादात्म्यारोपणमाविष्कुर्वता तद्गोपनमपाकृतम्। तेन वाच्यं सादृश्यं वाक्यार्थान्वयोपपादकतयाङ्गतां नीतम्।

प्रस्तुत पद्य के प्रारम्भिक तीन चरणों में शब्दशक्ति की महिमा से कवि और राम जो क्रमशः उपमेय और उपमान हैं– के कारण उपमालंकार व्यक्त हो रहा है, चौथे चरण में 'मयाप्तं रामत्वं' रूप साक्षात् कथन से उपमा वाच्यकोटि में ला दी गई है, जिससे प्रारम्भिक तीनों चरणों में उपमा का गोपन हटा दिया गया, अतः शब्दशक्ति से व्यक्त उपमालंकार कविविवक्षित वाच्यार्थ के प्रति अंग बन गया है अर्थात् यहाँ राम का सादृश्य वाच्यार्थ के अन्वय में उपपादक होने से अंग बन गया है, अतः प्रस्तुत पद्य में शब्दशक्त्युद्भवध्वनिरूप उपमालंकार जो संलक्ष्यक्रमव्यंग्य का भेद है वह प्रस्तुत वाच्य का अंग बन गया है जिससे यह पद्य भी इतरांगगुणीभूतव्यंग्य का उदाहरण है।

2) काक्वाक्षिप्तव्यंग्य का उदाहरण

जहाँ व्यंग्यार्थ किसी पद की काकु अर्थात् उच्चारण सम्बन्धी ध्वनि विकृति से निकलता हो, किन्तु उस व्यंग्यार्थ के प्रभाव से वाच्यार्थ के सौन्दर्य पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता हो, वह काक्वाक्षिप्त व्यंग्य नामक गुणीभूतव्यंग्य काव्य कहताला है जैसे–

काक्वाक्षिप्तं यथा–

मथ्नामि कौरवशतं समरे न कोपाद् दुःशासनस्य रुधिरं न पिबाम्युरस्तः।

संचूर्णयामि गदया न सुयोधनोरू सन्धिं करोतु भवतां नृपतिः पणेन।।

अत्र मथ्नाम्येवेत्यादिव्यङ्ग्यं वाच्यस्य निषेधस्य सहभावेन स्थितम्।

उदाहृत पद्य में युधिष्ठिर को दुर्योधन के साथ सन्धि करने में प्रवृत्त देखकर कुपित हुए भीम की उक्ति है। भीम सहदेव से कहते हैं– हे सहदेव! मैं युद्ध में सैकड़ों कौरवों का वध नहीं करूंगा– अब यहाँ यह उक्ति उचित नहीं कि मैं युद्ध में कौरवों का वध नहीं करुँगा, क्योंकि भीमसेन तो समस्त कौरवों का नाश करने के लिए प्रतिज्ञा कर चुके हैं. अतः यहाँ स्ववचनविरोध है, तब भीम के शब्द-कथन-वैशिष्ट्य पर ध्यान देना होगा, क्योंकि उन्होंने शिर को हिलाते हुए 'न' शब्द पर कुछ जोर दिया है जिससे एक और 'न' शब्द की उपस्थिति हो जाती है तब जाकर यह अर्थ होगा कि– 'समरे कोपात् कौरवशतं न मन्थामि इति न' अर्थात् 'अवश्यमेव मन्थामि', इसी प्रकार 'दुःशासनस्य उरस्तः रुधिरं न पिबामि इति न' अर्थात् 'अवश्यमेव

पिबामि'। 'गदया सुयोधनोरू न संचूर्णयामि इति न' अर्थात् 'अवश्यमेव संचूर्णयामि' – इस रूप में काकु से आक्षिप्त होकर व्यंग्यार्थ निकल रहा है, यहाँ वाच्यार्थ और काकु से आक्षिप्त व्यंग्यार्थ की सहप्रतीति है। अतः व्यंग्यार्थ से वाच्यार्थ के चमत्कार में कोई न्यूनता नहीं आती अतः यह गुणीभूतव्यंग्य का भेद है।

3) वाच्यसिद्धयङ्गव्यङ्ग्य

जहाँ व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ की सिद्धि में अंग बन जाए, वहाँ वाच्यसिद्धयंगव्यंग्य नामक काव्यभेद होता है, जैसे–

दीपयन् रोदसीरन्ध्रमेष ज्वलति सर्वतः।

प्रतापस्तव राजेन्द्र! वैरिवंशदवानलः।।

अत्रान्वयस्य वेणुत्वारोपणरूपो व्यङ्ग्यः प्रतापस्य दावानलत्वारोपसिद्धयङ्गम्।

प्रस्तुत पद्य में किसी राजा की प्रशंसा है। महाराज! पृथिवी और आकाश के मध्य प्रकाशमान शत्रुवंश का दावानल, आपका यह प्रताप सर्वत्र प्रखर रूप से प्रज्ज्वलित दिखाई दे रहा है।

यहाँ वैरिवंश का अर्थ शत्रुकुल है। 'वंश' पद नानार्थक है यह 'वंश' पद– कुल और बाँस (पेड़ विशेष) दोनों का समानरूप से वाचक है। यहाँ 'वैरिवंशः शत्रुकुलमेव वंशो वेणुः तत्र दावानलः दावाग्निस्वरूपः' रूप से व्युत्पत्ति की जानी है। यहाँ वंश में बाँस का आरोप किया गया है, किन्तु यह आरोप अन्त में वाच्यार्थभूत प्रताप और दावानल के अभेदारोप की सिद्धि का अंग बन गया है।

4) सन्दिग्धप्राधान्यव्यङ्ग्य

जहाँ वाच्यसौन्दर्य के कारण व्यंग्यार्थ की प्रधानता सन्दिग्ध बनी रहती है वहाँ सन्दिग्धप्राधान्य व्यंग्य काव्यभेद होता है, जैसे–

हरस्तु किञ्चित् परिवृत्तधैर्यश्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः।

उमामुखे बिम्बफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि।।

इत्यादौ विलोचनव्यापारचुम्बनाभिलाषयोः प्राधान्ये सन्देहः।

जैसे आकाश में चन्द्र के उदय के समय समुद्र में उफान आने लगता है उसी तरह भगवान् शंकर का (पार्वती को देखकर) धैर्य नष्ट होने लगा, और उन्होंने बिम्बफल की तरह ओंठ वाले पार्वती के मुख को देखने के लिए अपने तीनों नेत्रों को लगाया।

प्रस्तुत पद्य में शिव का पार्वती विषयक 'चुम्बनाभिलाष' व्यंग्य है किन्तु इस व्यंग्यार्थ की प्रधानता विलोचन-व्यापार के सौन्दर्य के कारण सन्दिग्ध प्रतीत हो रही है।

5) तुल्यप्राधान्यव्यङ्ग्य

जब वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ का चमत्कार समान हो तब तुल्यप्राधान्यव्यंग्य नामक गुणीभूतव्यंग्य काव्यभेद होता है, जैसे–

ब्राह्मणातिक्रमत्यागो भवतामेव भूतये।

जामदग्न्यश्च वो मित्रमन्यथा दुर्मनायते।।

अत्र परशुरामो रक्षःकुलक्षयं करिष्यतीति व्यङ्ग्यस्य वाच्यस्य च समं प्राधान्यम्।

उक्त परशुराम की उक्ति से यह व्यंग्यार्थ निकल रहा है कि 'यदि आप ब्राह्मण का अपमान करते हैं तो यह परशुराम शीघ्र ही राक्षसवंश का सर्वनाश कर देगा'— इस व्यंग्यार्थ के चमत्कार की अपेक्षा पद्य के वाच्यार्थ का अर्थात् 'परशुराम की मित्रता निभाने से राक्षसवंश का कल्याण है', सौन्दर्य भी कम नहीं। अतः प्रस्तुत पद्य में वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ के चमत्कार में तुल्यबल है, इस दृष्टि से यह गुणीभूतव्यंग्य काव्य है।

6) अस्फुट व्यङ्ग्य

जहाँ पर व्यंग्य की प्रतीति में स्पष्टता न हो, अर्थात् जहाँ व्यंग्य अस्पष्ट हो, वहाँ पर गुणीभूतव्यंग्य काव्य होता है। व्यंग्य की स्पष्टता नहीं होने पर उसके चमत्कारकारित्व में न्यूनता आती है, इसलिए वैसे स्थल पर गुणीभूतव्यंग्य काव्य होता है, जैसे—

सन्धौ सर्वस्वहरणं विग्रहे च प्राणनिग्रहः।

अल्लावदीननृपतौ न सन्धिर्न च विग्रहः।।

अत्राल्लावदीनाख्ये नृपतौ दानसामादिमन्तरेण नान्यः प्रशमोपाय इति व्यङ्ग्यं व्युत्पन्नानामपि झटित्यस्फुटम्।

उदाहृत पद्य का व्यंग्यार्थ यह है कि अलाउद्दीन खिलजी को केवल साम और दाम से ही प्रसन्न किया जा सकता है, किन्तु यह व्यंग्यार्थ ऐसा है जिसे परिपक्व बुद्धि के लोग भी शीघ्र समझ नहीं सकते, इसे समझने के लिए समय की अपेक्षा है, अतः समयकृत व्यवधान के कारण इस व्यंग्य का कोई चमत्कार नहीं है, अतः यह काव्य गुणीभूतव्यंग्य का विषय है।

7) अगूढव्यङ्ग्य

कभी-कभी किसी काव्य में व्यंग्यार्थ अगूढ अर्थात् त्वरित रूप में व्यक्त हो जाता है, वाच्यार्थ की प्रतीति होते ही व्यंग्यार्थ की अगूढ रीति से प्रतीति हो जाना, व्यंग्यार्थ के चमत्कार को न्यून करने में कारण हो जाता है, अतः इस स्थिति में गुणीभूतव्यंग्य काव्य होता है, जैसे—

अनेन लोकगुरुणा सतां धर्मोपदेशिना।

अहं ब्रतवती स्वैरमुक्तेन किमतः परम्।।

अत्र प्रतीयमानोऽपि शाक्यमुनेस्तिर्यग्योषिति बलात्कारोपभोगः स्फुटतया वाच्यायमान इत्यगूढम्।

प्रस्तुत पद्य में शाक्यमुनि ने किसी नीच स्त्री के साथ बलात्कार किया है, का अभिप्राय व्यङ्ग्य के रूप में निकल रहा है, किन्तु यह वाच्यार्थ की प्रतीति की तरह सभी के लिए स्पष्ट है।

8) असुन्दरव्यङ्ग्य

वैसे तो व्यंग्यार्थ प्रायः सुन्दरता ही धारण करता है किन्तु कभी-बकभी व्यंग्यार्थ का सौन्दर्य वाच्यार्थ के सौन्दर्य के आगे फीका पड़ जाता है, अतः वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ के सुन्दर न होने से गुणीभूतव्यंग्य काव्यभेद होता है, जैसे—

वानीरकुञ्जोड्डीनशकुनिकोलाहलं शृण्वन्त्याः।

गृहकर्मव्यापृताया वध्वाः सीदन्त्यङ्गानि।।

अत्र दत्तसङ्केतः कश्चिल्लतागृहं प्रविष्ट इति व्यङ्ग्यात् 'सीदन्त्यङ्गानि' इति वाच्यस्य चमत्कारः सहृदयसंवेद्य इत्यसुन्दरम्।

यहाँ किसी ने प्रेमी किसी स्त्री को बेंत के किसी कुंज में मिलने के लिए समय दिया था, वह समयानुसार वहाँ पहुँच गया, किन्तु घर के कार्य में व्यस्त हो जाने के कारण वधू नहीं पहुँच पाई, जब उस कुंज से पक्षियों की फड़फड़ाहट होती है तो वह समझ जाती है, कि मेरा प्रेमी पहुँच गया– इस कारण उसके अंग शिथिल पड़ने लगे। अतः प्रेमी कुंज में पहुँच गया है इस व्यंग्यार्थ के सौन्दर्य की अपेक्षा, वाच्यार्थ का सौन्दर्य ही सुन्दर है, इस कारण यह गुणीभूतव्यंग्य काव्य है।

गुणीभूतव्यंग्य की अन्यान्य प्रकार की सम्भावना

विश्वनाथ पूर्वोक्त गुणीभूतव्यंग्य काव्य के कुछ अन्य भेदों की भी सम्भावना करते हुए कहते हैं–

किञ्च यो दीपकतुल्ययोगितादिषूपमाद्यलङ्कारो व्यङ्ग्यः स गुणीभूतव्यङ्ग्य एव। काव्यस्य दीपकादिमुखेनैव चमत्कारविधायित्वात्।

विश्वनाथ के उक्त कथन का आशय यह है कि दीपक, तुल्ययोगिता आदि अलंकारों में व्यंग्य रूप से उपमा आदि अलंकार रहते हैं किन्तु दीपकादि अलंकारों के स्थल पर भले ही उपमादि अलंकार व्यंग्य हों तो भी वहाँ उपमादि अलंकार से चमत्कार उत्पन्न नहीं होता बल्कि वहाँ वाच्यभूत दीपक अलंकार से चमत्कार उत्पन्न होता है। दीपकादि अलंकारों में उपमादि अलंकार की व्यंग्यता असुन्दर होती है, अतः इस स्थिति में व्यक्त उपमादि अलंकार गुणीभूतव्यंग्य की श्रेणी में आ जाते हैं, इसी आशय की पुष्टि के लिए विश्वनाथ आनन्दवर्धनाचार्य की कारिका उद्धृत करते हैं–

यदुक्तं ध्वनिकृता–

अलङ्कारान्तरस्यापि प्रतीतौ यत्र भासते।

तत्परत्वं न काव्यस्य नासौ मार्गो ध्वनेर्मतः।।

अर्थात् अलङ्कारान्तर की प्रतीति में जहाँ वाच्य का तत्परत्व भासित नहीं होता वह ध्वनि का मार्ग नहीं है।

इसी तरह आचार्य विश्वनाथ गुणीभूतव्यंग्य की अन्य सम्भावना की भी चर्चा करते हैं–

यत्र च शब्दान्तरादिना गोपनकृतचारुत्वस्य विपर्यासः।

अर्थात् कभी-कभी व्यंग्यार्थ के रहस्य को किसी वाचक शब्द के द्वारा लगभग प्रकट कर दिया जाता है, तो ऐसी स्थिति में व्यंग्यार्थ की गूढ़ता अथवा सौन्दर्य नष्ट हो जाता है और वह अगूढ दशा को प्राप्त कर लेता है, जैसे–

यथा–

दृष्ट्या केशव! गोपरागहृतया किञ्चिन्न दृष्टं मया

तेनात्र स्खलितास्मि नाथ! पतितां किं नाम नालम्बसे।

एकस्त्वं विषमेषु खिन्नमनसां सर्वावलानां गति–

गोप्येवं गदितः सलेशमवताद् गोष्ठे हरिर्वश्चिरम्।।

अत्र गोपरागादिशब्दानां गोपे राग इत्यादिव्यङ्ग्यार्थानां सलेशमिति पदेन स्फुटतयाभासः। सलेशमिति पदस्य परित्यागे ध्वनिरेव।

इस पद्य के ऊपर के तीनों चरणों में जो कृष्ण में गोपियों का प्रेम व्यंग्यार्थ रूप में व्यक्त हो रहा है उसका रहस्य श्लोक में 'गोपराग', 'स्खलिता', और 'पतितां' जैसे शब्दों का श्लिष्ट होना था किन्तु चतुर्थ चरण में 'सलेशम्' पद के प्रयोग से व्यंग्य को लगभग अभिधावृत्ति से कह दिया गया, अतः यह काव्य भी गुणीभूतव्यंग्य की स्थिति में आ गया है। यदि इस पद्य में 'सलेशम्' पद को हटा दिया जाये तो यह काव्य ध्वनि काव्य का उदाहरण हो जाएगा।

काव्य की ध्वनिरूपता और गुणीभूतव्यङ्ग्यता– एक अभिज्ञान

अब विश्वनाथ ध्वनिकाव्य और गुणीभूतव्यंग्यकाव्य का अभिज्ञान करने का रहस्य बता रहे हैं कि किसी काव्य को ध्वनिकाव्य इसलिए कहा जाता है क्योंकि वहाँ कोई न कोई रस प्रधान रूप से व्यंग्य रहा करता है। जब कोई मध्यवर्ती वस्तु, अलंकार अथवा रस उस काव्य में व्यक्त हो रहे हों किन्तु वे उस प्रधान रस की अपेक्षा अल्प चमत्कार का कारण होने से गुणीभूत हो जाते हैं अतः वहाँ प्रधान रस के आधार पर ध्वनि काव्य होता है, इस पक्ष में आनन्दवर्धन भी खड़े हैं, अतः विश्वनाथ आनन्दवर्धन के मत को उद्धृत करते हैं–

किञ्च। यत्र वस्त्वलङ्काररसादिरूपव्यङ्ग्यानां रसाभ्यन्तरे गुणीभावस्तत्र प्रधानकृत एव काव्यव्यवहारः। तदुक्तं तेनैव –

अर्थात् जब वस्तु, अलंकार और रस रूप अर्थ दूसरे रसरूप व्यंग्यार्थ की अपेक्षा गुणीभाव को प्राप्त करें तो वहाँ जो अर्थ सर्वप्रधान हो उसी के नाम से काव्य का व्यवहार होता है, जैसा कि आनन्दवर्धनाचार्य ने कहा है कि–

प्रकारोऽयं गुणीभूतव्यङ्ग्योऽपि ध्वनिरूपताम्।

धत्ते रसादितात्पर्यपर्यालोचनया पुनः।। इति।

यह गुणीभूतव्यंग्य काव्य का प्रकार भी रसादि के तात्पर्य से देखे जाने से ध्वनि रूप हो जाता है।

इसके बाद विश्वनाथ गुणीभूतव्यंग्य की एक और सम्भावना व्यक्त करते हैं–

यत्र तु–

यत्रोन्मदानां प्रमदाजनानामभ्रंलिहः शोणमणीमयूखः।

संन्ध्याभ्रमं प्राप्नुवतामकाण्डेऽप्यनङ्गनेपथ्यविधिं विधत्ते।।

इत्यादौ रसादीनां नगरीवृत्तान्तादिवस्तुमात्रेऽङ्गत्वम्, तत्र तेषामतात्पर्यविषयत्वेऽपि तैरेव गुणीभूतैः काव्यव्यवहारः। 'तदुक्तमस्मद्गोत्रकविपण्डितमुख्यश्रीचण्डीदासपादैः – वाक्यार्थस्याखण्डबुद्धिवेद्यतया तन्मयीभावेनास्वाददशायां गुणप्रधानभावावभासस्तावन्नानुभूयते, कालान्तरे तु प्रकरणादिपर्यालोचनया भवन्नप्यसौ न काव्यव्यपदेशं व्याहन्तुमीशः, तस्यास्वादमात्रायत्तत्वात्' इति।

प्रस्तुत काव्य में रसादि नगरीवृत्तान्त में अंग बन गये हैं क्योंकि रसादि के तात्पर्य से उक्त काव्य नहीं लिखा गया है, अतः यहाँ रसादि गुणीभूत है, और इसी कारण ऐसे काव्य के लिए गुणीभूतव्यंग्य नाम का व्यवहार है। इस विषय में विश्वनाथ 'कविराज' अपने सगोत्र पण्डितश्रेष्ठ चण्डीदास के विचार को व्यक्त करते हैं कि काव्यार्थ अखण्ड बुद्धि अथवा एकघन प्रतिभासरूप संवेदन का विषय हुआ करता है। इसी में सहृदयहृदय तन्मयता रखा करता है जिससे उसे आनन्दचमत्कार मिला करता है। काव्यार्थ के आनन्दानुभव के समय क्या प्रधान है क्या अप्रधान है का अनुभव नहीं होता। अब यदि आनन्दानुभव के पश्चात् प्रकरणादि की पर्यालोचना से प्राधान्याप्राधान्य का पता चले तो उससे काव्यप्रबन्ध के स्वरूप संस्थान की क्या क्षति? काव्य का निर्णय तो प्रकरणादि पर्यालोचना के पहले ही आस्वादानुभवमात्र में हो चुका होता है। अतः यहाँ सहृदय को नगरीवृत्तान्त रूप वस्तु के ज्ञान से आनन्द मिलता है अतः यहाँ वस्तु का प्राधान्य है रसादि की अंगता है अतः यह काव्य गुणीभूतव्यंग्य का उदाहरण है।

10.2.3 चित्रकाव्य

उत्तमकाव्य तथा मध्यमकाव्य का निरूपण करने के बाद विश्वनाथ 'कविराज' तृतीय काव्य प्रकार जिसका नाम अधम है उसकी समीक्षा करते हैं। विश्वनाथ चित्र काव्य के निरूपण के प्रसंग में मम्मट आदि (अधम काव्य को मानने वाले) आचार्यों के बिना नाम लिए ही उनके मत का खण्डन करते हुए कहते हैं—

केचिच्चित्राख्यं तृतीयं काव्यभेदमिच्छन्ति।

तदाहुः—

'शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यङ्ग्यं त्ववरं स्मृतम्।' इति।

तन्न, यदि हि अव्यङ्ग्यत्वेन व्यङ्ग्याभावस्तदा तस्य काव्यत्वमपि नास्तीति प्रागेवोक्तम्। ईषद् व्यङ्ग्यत्वमिति चेत्, किं नामेषद्व्यङ्ग्यत्वम्? आस्वाद्यव्यङ्ग्यत्वम्, अनास्वाद्यव्ङ्ग्यत्वम् वा? आद्ये प्राचीनभेदयोरेवान्तःपातः। द्वितीये त्वकाव्यत्वम्। यदि चास्वाद्यत्वं तदाऽक्षुद्रत्वमेव क्षुद्रतायामनास्वाद्यत्वात्।

तदुक्तं ध्वनिकृता—

प्रधानगुणभावाभ्यां व्यङ्ग्यस्यैवं व्यवस्थिते।

उभे काव्ये ततोऽन्यद्यत्तच्चित्रमभिधीयते।। इति।

इति साहित्यदर्पणे ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्याख्यकाव्यभेदनिरूपणो नाम चतुर्थः परिच्छेदः।

उपर्युक्त वृत्ति का आशय यहाँ संक्षेप में प्रकट किया जा रहा है। विश्वनाथ के मत का सार यही है कि जिस काव्य में व्यंग्य का अभाव रहता है वहाँ अधम काव्य होता है, यदि व्यंग्य का अभाव होना ही अधम काव्य कहलाता है, जो उसे काव्य ही नहीं कहा जा सकता, क्योंकि व्यंग्य की सत्ता में ही काव्यत्व होता है, अन्यथा नहीं। यदि अधम काव्य वह है जिसमें थोड़ा व्यंग्य हो, — तो यह थोड़ा व्यंग्य किसे कहेंगे? यह प्रश्न उपस्थित होता है, क्योंकि ईषत् व्यंग्यत्व स्पष्ट नहीं है । वैसे व्यंग्य दो प्रकार का देखा जाता है— आस्वाद्य और अनास्वाद्य। यदि अधम काव्य का व्यंग्य आस्वाद्य होता है तब तो इस अधम काव्य की आवश्यकता ही नहीं है क्योंकि व्यंग्य की आस्वाद्यता की स्थिति केवल उत्तम काव्य और मध्यम काव्य में ही हो सकती है, अतः इस अधम काव्य का अन्तर्भाव पूर्वोक्त उत्तम और मध्यम काव्य में ही हो जाएगा। यदि अधम काव्य का व्यंग्य अनास्वाद्य होता है तो फिर इसे काव्य मानने से भी क्या लाभ?, अतः काव्य के उक्त उत्तम और मध्यम दो भेद ही मान्य हैं।

10.3 सारांश

प्रस्तुत इकाई के माध्यम से आपने आचार्य विश्वनाथ 'कविराज' जो कि साहित्यदर्पण ग्रन्थ के लेखक हैं, उनके द्वारा निरूपित काव्यभेदों का अध्ययन किया। आचार्य विश्वनाथ सर्वप्रथम ध्वनिकाव्य का निरूपण करते हैं इसे उत्तम काव्य भी कहा जाता है। विश्वनाथ ने वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ की प्रधानता होने पर ध्वनि काव्य माना है तथा इस काव्य के अनेक भेद भी किए हैं। जैसे यह ध्वनिकाव्य सर्वप्रथम अविवक्षितवाच्यध्वनि अर्थात् लक्षणामूलाध्वनि और विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि अर्थात् अभिधामूलाध्वनि भेद में विभक्त है। इसमें लक्षणामूलाध्वनि के दो भेद किए गए हैं– अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य। इसके बाद अभिधामूलाध्वनि के दो भेद किए गए हैं– 1) असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि, 2) संलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि। इन दोनों में असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि अनेक भेदों में विद्यमान होने पर भी एक भेद वाला ही माना गया है। इसके बाद जो संलक्ष्यक्रमव्यंग्य है वह तीन प्रकार का है शब्दशक्त्युत्थध्वनि, अर्थशक्त्युत्थध्वनि और उभयशक्त्युत्थध्वनि। शब्दशक्त्युत्थध्वनि भी वस्तु और अलङ्कार भेद से दो प्रकार का है, अर्थशक्त्युत्थध्वनि के बारह भेद हैं। उभयशक्त्युत्थध्वनि एक ही प्रकार का है। इसके बाद पद वाक्य आदि की व्यंजकता के कारण इस ध्वनिप्रकार के अनेक भेद किए गए हैं, जिसे आपने इकाई में पढ़ा है। इसके बाद आपने काव्य के दूसरे भेद गुणीभूतव्यंग्य के बारे में पढ़ा। यह आठ प्रकार का है। विश्वनाथ ने अधम काव्य की सत्ता को स्वीकार नहीं किया है क्योंकि विश्वनाथ रस को मानने वाले आचार्य हैं, रस की सत्ता अधम काव्य में नहीं बन सकती। अतः विश्वनाथ के मत में इस अधम काव्य की स्थिति नहीं बन सकती।

10.4 कुछ उपयोगी पुस्तकें

- साहित्यदर्पणम्,व्याख्याकार आचार्य शेषराजशर्मा रेग्मी, चौखम्बा कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, 2010
- साहित्यदर्पणः, व्याख्याकारः पं. हरेकान्तमिश्रः, चौखम्भा ओरियन्टालिया, दिल्ली,2017
- साहित्यदर्पणः, व्याख्याकार श्रीशालिग्रामशास्त्रि, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली,1986।
- साहित्यदर्पण , व्याख्याकार मिश्रोऽभिराजराजेन्द्रः, अक्षयवट प्रकाशन प्रयागराज।
- साहित्यदर्पणः, (मंजू–संस्कृतव्याख्या– हिन्द्यनुवादोपेतः) व्याख्याकार लोकमणिदाहालादि– चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, स0 2054
- साहित्यदर्पण–विश्वनाथ, (व्याख्याकार)सत्यव्रतसिंह, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1988

10.5 अभ्यास प्रश्न

1 आचार्य विश्वनाथ के अनुसार ध्वनिकाव्य को स्पष्ट कीजिए।

2 गुणीभूतव्यंग्य काव्य के कितने भेद हैं? सोदाहरण स्पष्ट कीजिए।

3 आचार्य विश्वनाथ का अधम काव्य के विषय में क्या मत है? लिखिए।